ममतामयी माँ को

जिनका स्नेह और आशीष मेरे पथ
के सम्बल रहे हैं

सम्पादकीय

कुछ वर्ष पूर्व श्री विनोद पुस्तक मन्दिर के यहाँ से स्वर्गीय डा० सुधीन्द्र द्वारा सम्पादित 'साहित्य-समीक्षांजलि' के नाम से निबन्धों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ था। हिन्दी-संसार ने उसका स्वागत कर उसे यथेष्ठ सम्मान प्रदान किया था। हिन्दी के गौरव डा० सुधीन्द्र के असामयिक निधन ने हिन्दी-संसार को एक भारी धक्का पहुंचाया। यदि आज डा० सुधीन्द्र हमारे बीच में होते तो सम्भवतः यह संग्रह भी उन्हीं की देख-रेख में प्रकाशित होता। उनकी अनुपस्थिति में आज इस संग्रह का दुर्वह भार मेरे निर्बल कंधों पर आकर पड़ा। मैंने यथाशक्ति इसे पूरा करने का प्रयत्न किया है। उस स्वर्गीय मनस्वी की तपः पूत आत्मा को शत सहस्र प्रणाम करते हुये मैं यह संग्रह हिन्दी संसार की सेवा में उपस्थित कर रहा हूँ।

इस संग्रह में विनोद पुस्तक मन्दिर द्वारा प्रकाशित विभिन्न पुस्तकों में बिखरी हुई सामग्री को कालक्रमानुसार एकत्र किया गया है। यह सम्पूर्ण सामग्री प्रश्नोत्तर रूप में तथा विभिन्न स्वतन्त्र शीर्षकों के अन्तर्गत बिखरी हुई थी। उपयोगिता एवं विद्यार्थियों के हित की दृष्टि से इसे विभिन्न शीर्षक प्रदान कर एक स्थान पर सजा दिया गया है। एक ही कवि या लेखक पर भिन्न-भिन्न विद्वान लेखकों द्वारा लिखे गये निबन्ध एक ही स्थान पर क्रमानुसार एकत्र किये गये हैं। साहित्यिक विषयों की कोई सीमा नहीं है। फिर भी ग्रन्थ के कलेवर को सीमित रखते हुये भी इसमें बहुत से ऐसे विषय ले लिये गये हैं जो विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं।

इन निबन्धों में से बहुत से विषय ऐसे हैं जो स्वतन्त्र पुस्तकों में पूर्वापर का ध्यान रखते हुये लिखे गये थे। ऐसे विषयों को निबन्ध का रूप देने में बहुत कठिनाई सामने आई है और सम्भवतः वे शुद्ध निबन्ध की परिभाषा से कुछ दूर हट गये हों। परन्तु इसकी सम्भावना कम है क्योंकि कुछ ऐसे निबंधों में से अनावश्यक समझे गये स्थलों को काट कर एक शृङ्खलित रूप देने का प्रयत्न किया गया है। यदि ऐसा करने में मुझे पूर्ण सफलता न मिली हो तो विद्वान लेखक इसके लिये रुष्ट न होकर क्षमा प्रदान करेंगे क्योंकि सम्पादक का कार्य बड़ा कठिन होता है। वह सभी को सन्तुष्ट नहीं कर सकता।

इन निबन्धों के सभी लेखक (केवल मुझे छोड़कर) हिन्दी के अधिकारी विद्वान हैं। उनकी पुस्तकों का हिन्दी के पाठकों ने यथेष्ठ सम्मान किया है। इस सग्रह में मैंने अपने भी कई निबन्ध इस आशा से दे दिये हैं कि बड़ों के साथ छोटे भी पार लग जायेंगे। यदि इस संग्रह से हिन्दी के पाठकों एव विशेष रूप से विद्यार्थियों का थोड़ा बहुत भी कल्याण हो सका तो भविष्य में ऐसे और भी सग्रह प्रकाशित करने का साहस किया जा सकेगा।

प्रस्तुत संग्रह का नामकरण करने का श्रेय डा० रामविलास शर्मा को है अतः इसके लिये उनका आभारी हूँ।

होली २०१२
श्री नागरीप्रचारिणी सभा
आगरा

राजनाथ शर्मा

प्रकाशकीय

प्रस्तुत संग्रह में हिन्दी के कुछ मंजे हुए नवयुवक लेखकों के निबंध संग्रहीत हैं जो हमारे यहाँ से प्रकाशित विभिन्न विषयों पर लिखी गईं विभिन्न पुस्तकों में कुछ बदले हुए रूपों में प्रकाशित हो चुके हैं। विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त आवश्यक इन बिखरे हुए विषयों का संग्रह कर एक ही स्थान पर एकत्र कर देना इस संग्रह का मूल उद्देश्य है। इसमें लगभग सभी महत्वपूर्ण विषयों को ले लिया गया है। इन निबन्धों के लेखकों से हिन्दी के पाठक बहुत पहले से परिचित हैं इसलिए इस प्रयत्न की सफलता में कोई सन्देह नहीं। उपस्थित सामग्री का सर्वाधिकार प्रकाशक को ही है। यदि हिन्दी के पाठकों ने इस संग्रह को अपना कर हमारा उत्साह बढ़ाया तो हम समय-समय पर ऐसे संग्रहों का प्रकाशन कर उनकी सेवा करते रहेंगे।

सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य की मंगल-कामना के साथ हमारा यह संग्रह सेवा में प्रस्तुत है।

विषय-सूची

स्यार-संचयन

१—विद्यापति : भक्त या शृङ्गारी कवि

(श्री राम वाशिष्ठ एम० ए०)

महाकवि विद्यापति की पदावली का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने मुख्य रूप से दो धाराओं को अपने काव्य में स्थान दिया। प्रथम जो उनके पद हैं उनमें राधा-कृष्ण विषयक भक्ति के पद हैं और दूसरे पदों में शिव अथवा दुर्गा (गौरी) के पद हैं। प्रथम प्रकार के पदों में कवि ने राधा-कृष्ण के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों का चित्रण किया है और उनमें शृंगार रस की ही प्रधानता रही है। किन्तु शिव और दुर्गा विषयक पदों में भक्ति और शांतरस ही मिलता है। राधा-कृष्ण विषयक पदों में युवक और युवतियों के यौवन काल सम्बन्धी सम्पूर्ण अनुभवों और क्रिया-कलापों का संग्रह कर दिया है। उपर्युक्त दो बातों के ऊपर विद्वानों में अनेक मतभेद उत्पन्न हुये हैं। एक वर्ग उनको शृंगारी कवि ही मानता है और भक्त कवियों की कोटि में उनका कोई स्थान नहीं रखता जबकि दूसरा वर्ग उनको भक्त सिद्ध करने में अपने अनेकों तर्क प्रस्तुत करता है।

विद्यापति को भक्त सिद्ध करने वालों में भी विचार साम्य नहीं। कुछ विद्वान उनको वैष्णव मानते हैं तो कुछ पंचदेवोपासक स्मार्त मानते हैं। विद्वानों का एक और वर्ग इनको शाक्त सिद्ध करता है तो दूसरा वर्ग इनको शैव कहता है। विद्वानों के इस विवाद के अतिरिक्त कुछ विद्वान इस प्रकार के भी हैं जो कि विद्यापति को एकेश्वरवादी सिद्ध करने में अपने तर्कों को प्रस्तुत करते हैं। विद्यापति वैष्णव, शाक्त, शैव, पंचदेवोपासक या एकेश्वरवादी थे इस विवाद का निर्णय करने के लिए विभिन्न विद्वानो के तर्कों को देखना आवश्यक है।

वैष्णव मानने वाला वर्ग—

महाकवि विद्यापति के काव्य का महत्व मुख्य रूप से वैष्णव भक्तों के कारण ही बढ़ा। मिथिला के इस धूलि-धूसरित रत्न का उपयोग सर्व प्रथम बंगाल के वैष्णव भक्तों के द्वारा ही हुआ। महाप्रभु चैतन्य ने इनके पदों को गा गाकर कीर्तन के लिए उपयुक्त समझा। बगाल में इनके पदों का इतना

प्रचार हुआ कि वहाँ के वैष्णव भक्तों ने व्रजमण्डल तक इनकी गूंज पहुंचा दी।

चैतन्यदेव के मत के दो रूप थे। एक तो गोस्वामी और दूसरा सहजिया। 'गोस्वामी' मत के अनुयायी वेद को मानते थे किन्तु वेद पाठ नहीं करते थे। सहजिया सम्प्रदाय के लोग शरीर में ही सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माड को मानते थे। उनका मत था कि शरीर की सेवा करना ही परमार्थ की प्राप्ति है। स्त्री प्रेम को ही वह ईश्वर प्रेम के रूप मे देखते थे। उनके सम्प्रदाय में विद्यापति सातवें रसिक भक्तों में हैं। प्रथम भक्त बिल्वमंगल जिस प्रकार चिन्तामणि नामक वेश्या के प्रेम में विभोर होकर कृष्णप्रेम मे लीन हो गए उसी प्रकार विद्यापति प्रथम रानी लखिमादेवी में अनुरक्त थे और पीछे से राधा कृष्ण के उपासक हो गये। (महाकवि विद्यापति, पृ० १५६ ले० प० शिवनन्दन ठाकुर)।

चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के पदों को गाते गाते मूर्छित हो जाते थे और आज भी उनकी शिष्य परम्परा में विद्यापति के पदों को कीर्तन के अवसर पर बड़ी तन्मयता के साथ गाया जाता है। डा० ग्रियर्सन का कथन है कि विद्यापति के पद वैष्णव लोगों के भजनों के अधिक समीप हैं। (They are nearly all Vaishnava hymns or Bhajans)

बाबू व्रजनन्दन सहाय के मत से भी विद्यापति वैष्णव कवियों के अन्तर्गत ही आते हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदास अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में कहते हैं, "परन्तु विद्यापति पर माध्व सम्प्रदाय का ही ऋण नहीं है, उन्होंने विष्णुस्वामी तथा निम्बार्काचार्य के मतों को भी ग्रहण किया था। न तो भागवत पुराण में और न माध्वमत में ही राधा का उल्लेख किया गया है। कृष्ण के साथ विहार करने वाली गोपियों में राधा भी हो सकती हैं, पर कृष्ण की चिर प्रेयसि के रूप में वे नहीं देख पड़तीं। उन्हें यह रूप विष्णुस्वामी और निम्बार्क सम्प्रदाय में ही पहले-पहल प्राप्त हुआ था। विष्णुस्वामी मध्वाचार्य के समान ही द्वैतवादी थे। भक्तमाल के अनुसार वे प्रसिद्ध मराठा भक्त ज्ञानेश्वर के गुरु और शिक्षक थे। राधा-कृष्ण की सम्मिलित उपासना इनकी भक्ति का नियम था। विष्णुस्वामी के समकालीन ही तैलंग ब्राह्मण निम्बार्क का आविर्भाव हुआ जिन्होने वृन्दावन में निवास कर गोपालकृष्ण की भक्ति की थी। निंबार्क ने विष्णुस्वामी से भी अधिक दृढता के साथ राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में चिर निवास करने वाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेम लीला

का जो विषद् वर्णन किया है उस पर विष्णुस्वामी और निम्बार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है।"

प्रो० बिपिन बिहारी मजूमदार का कथन है कि विद्यापति वैष्णव थे। आपने अपने मत की पुष्टि में तर्क दिया है कि इसी कारण उन्होंने भागवत पुराण नामक पुस्तक लिखी।

श्री नरेन्द्रनाथदास अपनी पुस्तक 'विद्यापति काव्यालोक' में लिखते हैं, "हमारी यह धारणा है कि विद्यापति युगल मूर्ति के एक उत्कृष्ट और स्मार्त उपासक थे, किसी सम्प्रदाय विशेष के नहीं थे। वे द्वैत सिद्धांत के अनुयायी थे।" अभिनव जयदेव की उपाधि भी यह प्रमाणित करती है कि उनमें जयदेव की कुछ विशेषताएं अवश्य थीं। इसलिए वे राधाकृष्ण के उपासक रहे हों तो आश्चर्य नहीं।

शैव मतावलम्बी थे—

बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त, बाबू रामवृक्ष बेनीपुरी तथा पण्डित रामचन्द्र शुक्ल विद्यापति को शैव मानते हैं। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी विद्यापति की पदावली की भूमिका में लिखते हैं कि विद्यापति शिव के उपासक थे। इस विषय में उन्होंने अपने कुछ तर्क भी दिये हैं।

१—विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर शैव थे और 'कपिलेश्वर' नामक शिव की उपासना के बाद विद्यापति का जन्म हुआ था।

२—किम्वदन्ती है कि विद्यापति की भक्ति से प्रसन्न होकर शिव उदना या उगना नाम से विद्यापति के घर नौकर रहे थे। भेद खुल जाने पर वह अदृश्य हो गये और उनके वियोग से व्यथित होकर विद्यापति ने अनेक पदों की रचना की।

३—विद्यापति ने स्वयं भी कहा है—

> आन चान गन हरि कमलासन सम परि हरि हम देवा।
> भक्तवछल प्रभु बान महेसर जानि कयल तुअ सेवा॥

ऊपर की पंक्तियों में 'बान महेसर' बाणेश्वर शिव के लिए आया है जो विद्यापति के गाँव के समीप ही स्थित है। विद्यापति उन्हीं महादेव की पूजा करते थे।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास में विद्यापति के विषय में इस प्रकार कहते हैं—

"विद्यापति शैव थे उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण भक्तों की परम्परा में नहीं

समझना चाहिये।"

पण्डित शिवनन्दन ठाकुर अपनी पुस्तक 'महाकवि विद्यापति' में विद्यापति को शैव ही मानते हैं। उन्होंने इस मत की पुष्टि में निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं—

१—विद्यापति के पूर्वज शैव थे। विद्यापति का जन्म भी 'कपिलेश्वर' नामक शिव की उपासना करने पर ही हुआ था।

२—इनके आश्रयदाता भी शैव ही थे।

(अ) 'शिवभक्त परायण महाराजाधिराज श्रीमद्वीरसिंह'

(सेतु दर्पणी)

(ब) 'भवानी भवभक्ति भावन परायण रूपनारायण महाराजाधिराज श्री शिवसिंहदेव पादाः'

(ताम्र शासनपत्र)

३—विद्यापति की चिता पर शिव मन्दिर है जो किसी वैष्णव की चिता पर नहीं हो सकता था।

४—विद्यापति ने 'पुरुष परीक्षा' नामक अपनी पुस्तक में धर्म का धार्मिक विवेचन किया है, किन्तु जब उपासना की बारी आई तब संसार से विरक्त रवाङ्गद राजा से शिव की उपासना की प्रतिज्ञा कराई है।

५—विद्यापति ने महेशबानी की रचना की। शिवरात्रि आदि के अवसर पर ये पद गाये जाते हैं।

६—'शैवसर्वस्वसार', 'गंगा वाक्यावली' और शिव की अर्द्धाङ्गिनी दुर्गा के विषय में उन्होंने दुर्गा भक्ति तरंगिनी लिखी।

पण्डित शिवनन्दनजी के मतानुसार विद्यापति एक सहिष्णु हिंदू थे। इस लिये उन्होंने विष्णु की भी वन्दना की है किन्तु जिस प्रकार शिव के विषय में पुस्तकें लिखीं उस प्रकार विष्णु के विषय में एक भी पुस्तक नहीं लिखी। शिवनन्दनजी ने विद्यापति का एक पद इस मत की पुष्टि के लिये उद्धृत किया है—

'जय जय शंकर, जय त्रिपुरारि।
जय अध पुरुष, जयति अधनारि॥

प० शिवनन्दन ठाकुर ने इन प्रमाणों के आधार पर विद्यापति को गौरीशंकर का उपासक माना है। एक स्थान पर वह यह भी कहते हैं, "विद्यापति के समय में मिथिला में तांत्रिक उपासना की प्रबलता थी। विद्यापति के ऊपर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सम्भव है कि जब तक विद्यापति अपनी

उपासना का रूप स्थिर नहीं कर सके थे तब तक शक्ति के उपासक थे और ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी शक्ति की उपसना करवाते थे। उस समय भारतवर्ष में विशिष्टाद्वैत मत का भी पूर्ण प्रचार हो चुका था। उसके अनुसार विष्णु-लक्ष्मी, राधा-कृष्ण आदि युगल मूर्ति की उपासना की धारा बह चली थी। विद्यापति ने जब अपनी उपासना का रूप स्थिर किया और शिवजी को अपना इष्टदेव बनाया तब शाक्त और विशिष्टाद्वैत मतों से प्रभावान्वित होने के कारण केवल शिवजी को अपना इष्टदेव नहीं रखकर युगल मूर्ति 'गौरी शंकर' को अपना इष्टदेव बनाया।'' विद्यापति ने स्पष्ट शब्दो में कहा है—

'लोढव कुसुम तोड़व बेल पात।
पूजब सदाशिव गौरिक सात॥'

पंचदेवोपासक—

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने विद्यापति की पुस्तक कीर्तिलता का सम्पादन सर्वप्रथम किया। उसकी भूमिका में शास्त्रीजी ने विद्यापति को पचदेवोपासक कहा। उनका कथन था कि विद्यापति स्मार्त थे और स्मृति के अनुसार सूर्य, गणपति, अग्नि (विष्णु), दुर्गा और शिव यह पाँचों देवताओं की उपासना को आवश्यक कहा है। विद्यापति ने इन सम्पूर्ण देवताओं को समय-समय पर अपनी रचनाओं में स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि वे अवश्य पच देवोपासक ही थे।

एकेश्वरवादी—

प्रोफेसर जनार्दन मिश्र ने 'विद्यापति' नामक एक पुस्तक लिखी। उन्होने विद्यापति के धर्म के विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं— "विद्यापति संस्कृत के प्रगाढ विद्वान थे। उनकी वृत्ति पठन-पाठन थी। शास्त्र पुराणादि की चर्चा का प्रसग सर्वदा उपस्थित रहता था। इसलिये आर्य-सिद्धान्तों के इन गूढ रहस्यों से वे पूर्णतः परिचित थे। यही कारण है कि हठयोग ने उनके हृदय में स्थान नहीं पाया था। हिंदू देवी देवताओं के यथार्थ रूप से परिचित होने के कारण उनके किसी विशेष रूप की ओर उनका भेद भाव या पक्षपात नहीं था। समान श्रद्धा से वे सबकी उपासना करते थे। शकर और विष्णु के अभिन्न रूप का उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

भल हरि भल हर भल तुअ कला।
खन पित वसन खनहि बघछला॥

इसी प्रकार मातृ-रूप में ब्रह्म का वर्णन करते हुये कवि ने लिखा है—

विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती ।
एकानेक सहस को धारिनि अरि रंगा परनन्ती ॥
कजल रूप तुअ काली कहिअउ उजल रूप तुअ बानी ।
रवि मण्डल परचंडा कहिये, गंगा कहिये पानी ॥
ब्रह्मा घर ब्रह्मानी कहिये, हर घर कहिये गौरी ।
नारायण घर कमला कहिये के जान उतपति तोरी ॥

इन अवतरणों से विद्यापति के धर्म-भाव का स्पष्टीकरण हो जाता है। ....इसलिये विशुद्ध वैदिक धर्म का सच्चा स्वरूप यहाँ सर्वदा वर्तमान रहा।.........इसलिये प्राचीन काल से ही धर्म का एक निश्चित स्वरूप अवाधगति से अपना कार्य कर रहा है। इसमें सम्प्रदाय या फिरका कभी पैदा नहीं हुआ।......... यही कारण है कि मिथिला समाज में देव-देवियों के भेद से किसी प्रकार की कट्टरता का प्रचार नहीं हुआ। और इस समय भी उनकी यही मनोवृत्ति है।"

उपर्युक्त उद्धरणों से जनार्दन मिश्र ने यह सिद्ध किया है कि साकार के अनेक रूप होने पर भी सनातन-हिन्दू धर्म एकेश्वरवादी है तथा निराकार और साकार को अभिन्न समझकर दोनों की समान श्रद्धा से उपासना करता है।

शाक्तमतानुयायी—

१९३६ के जनवरी मास की 'माधुरी' में प० श्रीभागवत शुक्ल 'पाथोद' ने एक लेख लिखा जिसका शीर्षक 'विद्यापति का निजी मत या सम्प्रदाय' था। उसमें शुक्लजी ने महाकवि विद्यापति को शाक्त प्रमाणित किया है। अपने मत की पुष्टि में विद्वान लेखक ने निम्नलिखित प्रमाण दिये—

१—'पुरुष परीक्षा' के मंगलाचरण में विद्यापति ने शक्ति को शिव की पूज्या कहा है। विष्णु की ध्येया और ब्रह्मा की प्रणम्या बतलाया है—

ब्रह्मापि यान्नौति नुतः सुराणां यामर्चितोऽप्यर्चयतीन्दुमौलिः ।
यो ध्यायति ध्यानगतोऽपि विष्णुस्तामादिशक्तिं शिरसा प्रपद्ये

(पुरुष परीक्षा)

२—विद्यापति के पदों में "हरि-विरचि-महेश-शेखर-चुम्ब्यमान पदे" और "जगति पालन-जननमारण रूप-कार्य-सहस्र कारण" शक्ति का विशेषण, "हरिहर ब्रह्मा पुछइत भ्रमे। एकओ न जानतुअ"—आदि शक्ति के वर्णन विद्यापति के शाक्त होने के लिये पर्याप्त हैं।

३—मिथिला के विद्वान इस समय भी शाक्त होते हैं और उस समय भी शाक्त होते थे। इसलिये विद्यापति का शाक्त होना स्वाभाविक है।

श्री भागवत शुक्ल का कथन है कि शाक्त होते हुए भी वह शिव के भक्त थे। 'भल हरि भल हर भल तुअ कला' आदि सिद्ध करते हैं कि विद्यापति एक सहिष्णु भक्त थे। शिव के साथ विष्णु को भी उन्होंने श्रद्धा के साथ ही देखा।

श्रृङ्गारी कवि—

डा० रामकुमार वर्मा विद्यापति को श्रृंगारी कवि मानते हैं—"विद्यापति के इस बाह्य संसार में भगवत् भजन कहाँ, इस वयः सन्धि में ईश्वर से संधि कहाँ, सद्यस्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, अभिसार में भक्ति का सार कहाँ?" उनकी कविता विलास की सामग्री है उपासना की साधना नहीं, उससे हृदय मतवाला हो सकता है शान्त नहीं। हम इन भावों में आत्म विस्मृत हो सकते हैं, हममें जागृति नहीं आ सकती। विद्यापति का भक्त हृदय उनकी वासनामयी भाव कुंज भटिकाओं में खो गया है। वे सौंदर्य संसार के सौंदर्य में इतने विभोर हो गये हैं कि उनकी दृष्टि और किसी तरफ जाती ही नहीं।

वर्माजी की तरह ही बाबूराम सक्सेना भी कीर्तिलता की भूमिका में लिखते हैं—

"विद्यापति के पदों के अध्ययन से पता लगता है कि वह बड़े श्रृंगारी कवि थे........ । इन पदों को राधा-कृष्ण की भक्ति पर आरोपित करना पद-पदार्थ के प्रति अन्याय है।"

विभिन्न मतों का खंडन एवं मत प्रतिपादन—

विद्वानों के विभिन्न मत विद्यापति की भक्ति के विषय में उद्धृत किये गये। किसी ने उनको पंच देवोपासक कहा, किसी ने वैष्णव, और किसी ने शैव तो किसी ने शाक्त। कुछ लोगों ने उनकी कविता को श्रृंगार भावना से ही ओत प्रोत देखा। भक्ति का कोई रूप उनकी कविता में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अब प्रश्न यह उठता है कि इस विवाद को किस प्रकार मिटाया जाय। जहाँ तक शैव, शाक्त और पंचदेवोपासक होने का कथन है उसमें कोई विशेष विरोध नहीं। इसलिये हमको चाहिये कि हम विद्यापति के समय की उन धार्मिक परिस्थितियों पर एक विहंगम दृष्टि डालें जिनमें कि वे उत्पन्न हुये थे। विद्यापति के जीवनकाल में और उससे पूर्व वैष्णव धर्म बिहार प्रांत में पहुँचा था या नहीं? क्या विद्यापति के राधा कृष्ण भक्ति सम्बन्धी पद दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदाय के प्रभाव से प्रभावित होकर लिखे गये? इसके उत्तर से प्रश्न स्पष्ट हो जायेगा।

विद्यापति के समय में बिहार और बंगाल अधिकतर शाक्त और शैव था।

विद्यापति के पूर्वज भी अधिकतर शैव ही थे। और स्वय विद्यापति ने भी जो सस्कृत में ग्रथ लिखे उनमें उन्होंने शिव और दुर्गा को ही अधिक लिया। विष्णु और कृष्ण विषयक उनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। हाँ इतना अवश्य है कि विष्णु और शिव की स्तुति उन्होंने अवश्य कई स्थानों पर की है और विष्णु और शिव की एकता को भी स्वीकार किया है। उन्होंने उनको एक ही माना है इसका प्रमुख कारण यह है कि उनको महाभारत और पुराणों का सिद्धान्त मान्य था कि "विष्णु और शिव एक हैं। इस एकता की स्थापना के लिये उन्होंने अपने सस्कृत ग्रथों में लिखा भी है। विभागसार और गगा-वाक्यावली मे उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि इस प्रकार की है--

'स्वरुयस्तु वस्तुहिनरश्मिभृतः प्रसादादेक बपुः स्थितवतो हरिणा समेत्य।'

(*'गगावाक्यावली'* और *'विष्णुपूजाकल्पलता'*)

इस श्लोक में शिव और विष्णु का एक ही रूप बतलाया है। इसी प्रकार 'विभागसार' मे शिव और विष्णु गगा के लिये झगड़ा करते हैं और अन्त में ब्रह्माजी के हँसने पर इनको आत्मज्ञान होता है और फिर विवाद का अन्त हो जाता है। पदावली में भी एक पद में दोनों के नाम इसी एकत्व की भावना की पुष्टि करने के लिये ही आये हैं।

'भल हरि भल हर भल तुअ कला।'

इससे यह स्पष्ट है कि विद्यापति शिव और विष्णु को एक ही मानते थे।

यह सत्य है कि विद्यापति के समय में दक्षिण के आचार्य निम्बार्क और विष्णु स्वामी द्वारा प्रचलित वैष्णव सम्प्रदाय उत्तरभारत तक फैल चुका था। व्रजमण्डल तक राधा और कृष्ण की भक्ति को फैलाने का मूल श्रेय इन्हीं आचार्यों को है। किंतु जब हम विद्यापति के विषय में सोचते हैं तो हमको यह ध्यान रखना चाहिये कि विद्यापति पर जयदेव का प्रभाव था विष्णु स्वामी और निम्बार्क का नहीं। डा० श्यामसुन्दरदास जी का यह कथन कि विद्यापति पर निम्बार्क और विष्णुस्वामी का प्रभाव था, कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता। विष्णु स्वामी और निम्बार्क का प्रभाव उस समय तक उत्तर भारत मे केवल व्रजमण्डल और उसके समीपवर्ती स्थानों तक ही फैला था।

वैष्णवों के प्रथम आचार्य रामानुज की मृत्यु सन् ११३७ ई० मे हुई थी और निम्बार्क और विष्णु स्वामी १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में थे। किन्तु जयदेव का जन्मकाल ११२० के लगभग था। इस प्रकार १०० वर्ष का अन्तर पड़ता है। जयदेव का जन्मकाल १२ वीं शताब्दी का प्रारम्भ है और निम्बार्क और विष्णु स्वामी का जन्मकाल १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे। इससे स्पष्ट

है कि जयदेव ने राधाकृष्ण विषयक जो कविता लिखी वह वैष्णव आचार्यों के प्रभाव से नहीं वरन् किसी अन्य प्रेरणा के फलस्वरूप ही लिखी। निम्बार्क और विष्णु स्वामी द्वारा प्रचलित और बल्लभाचार्य द्वारा विकसित हुई यह राधा-कृष्ण की उपासना बंगाल और बिहार में १५ वीं शताब्दी में आई। जयदेव की राधा और कृष्ण की लीलाओं का स्रोत अवश्य ही कोई दूसरा ही होगा। और क्योंकि विद्यापति ने पूर्ण रूप से जयदेव का ही अनुकरण किया इसलिये यह कभी सम्भव नहीं कि उन पर दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा होगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बल्लभ की उपासना में लीलाओं को अधिक महत्व दिया गया था और इसी कारण शृंगाररस का प्रभाव भी इन पर था। सूरदास और अन्य वैष्णव कवियों की कविता में शृंगार रस की ही प्रधानता है। किन्तु उन कविताओं में इतनी स्थूलता नहीं जितनी विद्यापति की कविता में है। विद्यापति की कविताओं में कुछ ही पदों में ही राधा का नाम है। कृष्ण का नाम भी अधिक नहीं। उनके प्रत्येक पद में राजा शिवसिंह और लखिमादेवी का ही नाम अधिक आया है। इससे भी स्पष्ट है कि विद्यापति की पदावली के राधा-कृष्ण विषयक पद वैष्णव भक्ति की भावना से ओत-प्रोत नहीं वरन् शृंगारिक भावना से लिखे हुये ही अधिक हैं। हाँ कुछ पदों में अवश्य भक्ति की तन्मयता है किन्तु ऐसे पद कतिपय ही हैं।

चैतन्य महाप्रभु ने इन पदों को अवश्य अपनाया और उन्होंने अपने कीर्तन में इन पदों को प्रमुख स्थान दिया। किन्तु इससे यह कहना कि विद्यापति ने कीर्तन के उद्देश्य से ही इन पदों की रचना की, मान्य नहीं। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि विद्यापति के पदों में भाव प्रवणता और माधुर्य उच्चकोटि का है। चैतन्य महाप्रभु भी एक भावुक भक्त थे। यह स्वाभाविक था कि एक भावुक इतनी उच्चकोटि की कविताओं को पढ़कर अवश्य रस मग्न होता। इसके अतिरिक्त वैष्णव धर्म में विरह को प्रमुख स्थान है। विद्यापति के विरह के पद इस उद्देश्य से अत्यन्त सफल थे इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने उनको अपना लिया और इसके पश्चात् तो फिर यह वैष्णव लोगों की सपति ही हो गये। इसी भ्रम के कारण लोगों ने जयदेव और विद्यापति दोनों को ही दक्षिण के वैष्णव धर्म का अनुयायी सिद्ध कर दिया। उन्होंने यदि वैष्णव धर्म के इतिहास और जयदेव के जन्मकाल पर विचार कर लिया होता तो इस प्रकार का भ्रम कभी नहीं होता।

विद्यापति ने जयदेव के अनुकरण पर ही अपनी पदावली की रचना की

श्रौर उन्हीं के श्रनुकरण पर राधा-कृष्ण की लीलाश्रों को श्रपने काव्य में स्थान दिया। श्रब प्रश्न यह उठता है कि जब विद्यापति ने जयदेव के श्रनुकरण पर कविता की श्रौर राधा कृष्ण की लीला विषयक पद भी लिखे तो उनका इन सब पदों के लिखने का उद्देश्य क्या था ?

कृष्ण का श्राविर्भाव लगभग चौथी शताब्दी के पहले ही हो चुका था। पाणिनि ने श्रपने 'व्याकरण' में वासुदेव श्रौर श्रर्जुन दोनों को 'देवयुग्म' कहा है। प्रसिद्ध यात्री मेगस्थनीज ने भी कृष्ण की पूजा के विषय में लिखा है। यह समय ईसा से २०० वर्ष पूर्व का है। श्रौर यह कृष्ण, विष्णु या वासुदेव का पर्यायवाची है।

सर भण्डारकर की श्रनुमति में कृष्ण-वासुदेव का पर्यायवाची नहीं वरन् 'सात्वत' नाम की एक क्षत्रिय जाति (जिसे वृष्णि भी कहते हैं) के महापुरुष वासुदेव को ही श्रागे चलकर कृष्ण का रूप दे दिया गया। उन्होंने ईश्वर के एकत्व भाव का प्रचार किया था। उनके कुल के लोगों ने उनको ही साकार रूप से ब्रह्म मान लिया। भगवद्गीता इसी कुल का ग्रन्थ है। राधा का नाम भी कृष्ण के साथ बहुत प्राचीनकाल से चल रहा था। राधा का सर्व प्रथम उल्लेख हमको गाथा सप्तशती में मिलता है जो कि पहली शताब्दी की रचना है। इसके श्रतिरिक्त भी कई स्थानों पर राधा का जिक्र श्रौर भी श्राया है। डा० हजारीप्रसाद दिवेदी का कथन है, "लीला के पद कब लिखे जाने लगे—यह भी कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता ; किन्तु दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों में श्रीकृष्ण लीला के गाने की प्रथा चल पड़ी थी। इसमें कोई सन्देह नहीं। जयदेव का गीत गोविन्द इसी प्रकार के मात्रिक छन्दों के पद मे लिखा गया था। पण्डितों का श्रनुमान है कि लोक भाषा में इस प्रकार के गान लिखे श्रौर गाये जाते होंगे। जयदेव ने उन्हीं के श्रनुकरण पर यह गान लिखे थे।" (हिन्दी साहित्य का श्रादि काल ले० हजारी प्रसाद द्विवेदी।)

प्रथम शताब्दी की 'गाथा सप्तशती' में भी राधा श्रौर कृष्ण का शृंगारिक रूप मिलता है।

पुष्पदन्त नामक कवि की रचनाश्रों में भी कृष्ण का गोपियों के साथ वर्णन है।

'दुतई धूली धूसिरेण नर मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा।
कीला रस वसेण गोवालय गोवी हियय हारिणा॥

पुष्पदन्त ने पूतना लीला, गोवर्धन धारण, कालिश्र दमन श्रादि लीलाश्रों

का भी वर्णन किया है। पुष्पदन्त का समय ९५२ से ९७२ ई० है। यह लगभग वही समय है जब भागवत अपने वर्तमान रूप को ग्रहण कर रही थी। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण-कथा की कितनी ही परम्परायें एक ही समय में समाज में प्रचलित थी।

आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक में भी राधा की चर्चा है। इसलिए यह कहना नितान्त निराधार है कि जयदेव और विद्यापति दक्षिण से चली वैष्णव धारा के ही अनुयायी थे।

इसके अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदाय के राधा कृष्ण और विद्यापति के राधा कृष्ण में एक सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वैष्णव सम्प्रदाय में कृष्ण और राधा के बालरूप की बहुत प्रशंसा की है किन्तु विद्यापति ने कृष्ण और राधा को पूर्ण युवक युवती के रूप में ही विशेष रूप से चित्रित किया है। केवल शृंगारिक भावना के कारण उन्होंने राधा को उस समय से लिया है जिस समय शैशवावस्था और यौवनावस्था की सन्धि होती है। यह किसी धार्मिक भावना के कारण उन्होंने नहीं किया वरन् अपनी शृंगारिक भावना की तृप्ति के लिए ही किया।

महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री का यह मत कि विद्यापति पंच देवोपासक थे, नितान्त अमान्य है। महाकवि विद्यापति पुराणों के विद्वान थे और कितने ही स्मृति ग्रंथों की भी रचना की थी। पुराणों में उल्लेख है कि पंचदेवों की (अर्थात् सूर्य, गणेश, दुर्गा, अग्नि और शिव) आराधना करने के पश्चात् ही अपने इष्ट देवता का ध्यान करने से मनुष्य को फल की प्राप्ति होती है।

> "गणेशञ्च दिनेशञ्च वह्नि विष्णुं शिव शिवाय।
> सम्पूज्य देवषटकञ्च सोऽधिकारी च पूजने ॥"

(ब्रह्म वैवर्त पुराण)

मिथिला में यह प्रचलन अधिक मान्य था। वहाँ पर उपासना के प्रथम पंच देवताओं की उपासना आवश्यक समझी जाती थी। इसलिये यदि विद्यापति ने इन देवताओं की वन्दना एक दो स्थान पर करदी है तो इसका तात्पर्य यह लगाना ठीक नहीं प्रतीत होता कि वे पंचदेवोपासक थे।

वास्तव में विद्यापति स्मृतियों और पुराणों के ज्ञाता थे। उन्होंने इन विषयों को लेकर कुछ पुस्तकें भी लिखीं। पुराणों मे अनेकों देवताओं का उल्लेख है और यह सब ब्रह्म से ही उत्पन्न हुये हैं इस मत की पुष्टि की गई है। जनार्दन मिश्र का यह कथन कि विद्यापति एकेश्वरवादी हैं ठीक नहीं।

क्योंकि विद्यापति किस एक ईश्वर को मानते थे ऐसा उनकी रचनाओं के आधार पर कहा नहीं जा सकता। यदि वह विष्णु को मानते थे तो शिव को भी, यदि दुर्गा को मानते थे तो गणेश और अन्य देवताओं को भी। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उन्होंने एक ईश्वर की आराधना की। उनकी पदावली और अन्य रचनाओं के देखने से भी स्पष्ट है कि विद्यापति ने राधा कृष्ण विषयक पदों के अतिरिक्त यदि रचना की तो शिव, शक्ति और गगा को लेकर ही की। किन्तु गगा के भक्त भी शिव के भक्तों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। अब रह जाते हैं दो मत—(१) शिवभक्त कहने वाला और (२) शक्ति का उपासक कहने वाला। इसी प्रश्न के साथ ही डा० रामकुमार वर्मा के इस कथन का भी उत्तर है कि विद्यापति में शृ गारिकता की प्रधानता थी भक्ति की नहीं।

स्मार्त-शाक्त—मिथिला में शैव और शाक्तों का प्राधान्य विद्यापति के समय में भी था और आज भी है। ऊपर हम यह भी कह आये हैं कि विद्यापति के पूर्वज और आश्रयदाता भी शैव और शाक्त ही थे। इससे स्पष्ट है कि शैव और शाक्तो का कोई एक मूल स्रोत अवश्य है। विद्यापति के पूर्ववर्ती-काल की धार्मिक एवं सास्कृतिक पृष्ठभूमि को यदि देखा जाय तो यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।

विद्यापति के समय मे तान्त्रिक परम्पराओं के अवशेष के रूप में वज्रयान और सहजयान शाखाओं की मान्यतायें चल रही थीं। इन में सिद्धियों का प्राधान्य था। तान्त्रिक परम्पराओ का सम्बन्ध यक्षों से था जो कि सामाजिक बन्धनों से मुक्त चिर विलासमय समाज था। सिद्ध और नाथों में शक्ति का जो अधिक महत्व था वह भी उसी प्राचीन यक्षसमाज की देन थी। तान्त्रिक परम्परा हिमालय के प्रदेशो में थी। वाममार्ग भी तन्त्रों का ही रूप था। यक्षों के समाज में स्त्री की प्रधानता थी। स्त्रियाँ मुक्त रूप से रहती थीं। उनके ऊपर कोई बन्धन नही था। स्त्री को ही सृजन का मूल कारण समझा जाता था। योनि पूजा का महत्व था। पुरुष को सब काम करने पड़ते थे। समाज मे उसका स्थान वही था जो वर्तमान समाज में स्त्रियों का है। यह मातृसत्तात्मक समाज था।

जब मनुष्य को पता चला कि ससार के सृजन कार्य को योनि ही नहीं करती वरन् पुरुष का भी कुछ कार्य है तो वह अपने अधिकार के लिए जागरूक हुआ और उस समय से पितृसत्ता का महत्व भी बढा।

पहले योनि को ही ससार की आदि शक्ति मानकर पूजा होती थी किन्तु

जब पुरुष ने अपनी सत्ता का पता लगा लिया उस समय से लिंग पूजा का भी प्रारम्भ हुआ। (डा० रागेय राघव, सगम और सघर्ष के आधार पर) अब योनि के साथ लिंग की पूजा भी प्रारम्भ हुई। शिव की जो मूर्ति एक त्रिकोण से आकार में स्थित हुई देखी जाती है वह इस बात का प्रमाण है। इस प्रकार शक्ति और शिव का समन्वय हुआ। यह मत वाम मार्ग के नाम से प्रचलित था। उत्तर और दक्षिण भारत के एक विस्तृत भूखण्ड पर इस सम्प्रदाय का अधिकार था। इसी वाममार्ग की एक शाखा कौल धर्म के नाम से प्रचलित हुई। स्त्री और पुरुष के शारीरिक विलास के द्वारा ही नाना सिद्धियों की प्राप्ति करना इन सम्प्रदायों का मूल उद्देश्य था। वज्रयान की इन सिद्धियों ने समाज में गर्हित और कुत्सित सबधों को जन्म दिया। समाज की नैतिक्ता का कोई प्रश्न ही नहीं था। आगे चलकर सिद्ध और नाथों ने इसी सामाजिक विश्रृङ्खलता के विरुद्ध अपनी आवाज़ बुलन्द की। उन्होंने योनि पूजा और अन्य इसी प्रकार की सिद्धियों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई।

जनता के अन्दर एक विलासिता और कामुकता शताब्दियों तक के लिए रह गई। जिसकी प्रतिक्रिया हठयोग और नाथ पन्थ में आकर हुई।

शाक्त सम्प्रदाय ने भारत के सम्पूर्ण समदायों को प्रभावित किया। सपूर्ण सम्प्रदायों में शक्ति और शिव को स्थान मिला। जिस समय विद्यापति हुये उस समय यह शाक्त सम्प्रदाय बगाल और बिहार में विद्यमान था। शक्ति या दुर्गा को ही आदि शक्ति माना जाता था और अन्य देवताओं की जननी भी शक्ति ही थी। शव को शिव बनाने वाली शक्ति ही है×। शाक्तों का विश्वास है कि शिव मूलत शव है। त्रिभुवन सुन्दरी के रूप में जब शक्ति उस शव से विपरीत रति करती है तब वह शव शिव बनता है। स्थूल रूप से जो बात इस प्रकार समझाई गई है उसका दार्शनिक पक्ष यह है कि ब्रह्म अपने आप कुछ नहीं करता। जब वह माया अथवा शक्ति सम्पन्न होता है उस समय सृष्टि की रचना होती है। राधा और कृष्ण की परम्परा का मूल श्रोत गा गाथा सप्तशती और अन्य लोक गीतों में दक्षिण के वैष्णव धर्म के प्रचार से पूर्व मिलता है, और जो जयदेव में होकर विद्यापति में आया था वह मूलत शाक्त प्रभाव ही था। शाक्तों ने भी शक्ति को राधा और शिव को कृष्ण कह कर अपनी शृंगारिक अतृप्त भावनाओं की तृप्ति के लिये साहित्य में एक कोना सुरक्षित कर लिया। परन्तु इतना निश्चित है कि राधा एक शक्ति के रूप में थी और कृष्ण पुरुष के रूप में। इस धारणा को इस

× गोरखनाथ—ले० डा० रागेयराघव।

रूप में आते कितनी ही शताब्दियाँ बीत गई होंगी यह नहीं कहा जा सकता। गौरीशङ्कर, राधाकृष्ण, सीताराम आदि युग्म इस बात के प्रमाण हैं। शाक्त और शैवों की एकता का यही वैज्ञानिक सत्य प्रतीत होता है। इसी एकता को विद्यापति ने भी अनेकों स्थानों पर अपनी पदावली में और अन्य रचनाओं में प्रदर्शित किया है। सम्पूर्ण देवताओं को शक्ति का आराधक और उपासक कहा है। 'पुरुष परीक्षा' के मङ्गलाचरण में आदि शक्ति को शिव की पूज्या विष्णु की ध्येया कहा है। और उस आदि शक्ति के चरणों की वन्दना करने वाले हैं—"हरि-बिरञ्चि महेश शेखर चुम्बयमान पदे"। एक और स्थान पर "हरिहर ब्रह्मा पुछइत भमे। एक ओ न जानतुअ"। अनेक देवियों में भी उन्होंने एक ही आदि शक्ति के रूप को देखा—

"विदिता देवी विदिता हो अविरल केश सोहती
एकानेक सहस धारिणि अरि रङ्ग पुरनती"
कजल रुप तुअ कालिअ कहिअउ उजल रूप तुअ बानी
रवि मण्डल परचण्डा कहिये गङ्गा कहिये पानी

एक और पद से विद्यापति की शाक्त विचारधारा का परिचय मिलेगा-

"जय जय भैरवि असुर भयावनि पशुपति भामिन माया।
सहज सुमति वर दियउ गोसाउन अनुगति गति तुअ पाया॥
वासर रैनि शवासन सोभित चरन चन्द्रमनि चूड़ा।
कतउक दैत्य मारि मुख मेलल कतउ उगल कैल कूड़ा॥
सामर वरन नयन अनुरंजित जलद योग कुल कोका।
कट कट विकट ओठ पुट पाँडरि लिधुर फेन उठ फोका॥
घन घन घनय घुघुरकत बाजय हन २ कर तुअ काल कटारा।
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक पुत्र विसरु जनु माता॥

इस पद में विद्यापति ने शक्ति के उसी रूप की आराधना की है जो शव पर बैठकर अपना सृजन कार्य करती है। इस पद में एक सच्चे भक्त के से उद्‌गार हैं। अन्तिम पक्ति से तो बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि विद्यापति शक्ति के ही उपासक थे। इसलिये वे कहते हैं कि हे माँ मुझे मत विस्मृत कर देना क्योंकि मैं तो तेरे ही चरणों का सेवक हूँ।

विद्यापति मूलतः स्मार्त शाक्त थे। इस कारण शक्ति के साथ २ अन्य देवताओं को भी अनादर की दृष्टि से नहीं देखते थे। शाक्तों की दो धारायें थीं—एक वैदिक और दूसरी अवैदिक। वैदिक शाखा के शाक्त वेद, स्मृतियों

विरोध करना एक स्वाभाविक प्रचलन था। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वैदिक शाक्तों के ऊपर अवैदिक शाक्तों का प्रभाव न पड़ा हो और अवैदिक शाक्तों पर वैदिक शाक्तों का प्रभाव न पड़ा हो। दोनों एक दूसरे से अवश्य प्रभावित हुये। विद्यापति पर भी अवैदिक शाक्तों का प्रभाव पड़ा और उसी के फल स्वरूप उन्होंने वज्रयान की उस स्थूलता को अपनी भक्ति में स्थान दिया जो उनकी पदावली में राधा कृष्ण के विलास और काम क्रीड़ाओं के रूप में बिखरी पड़ी है। वैदिक शाक्त होने के प्रमाणों में इतना ही पर्याप्त है कि जो उन्होंने सम्पूर्ण देवी-देवताओं की एकता को देखा है वह स्मृत्यानुगत रूप के अनुकूल है। साराश में यह कहा जा सकता है कि विद्यापति के आविर्भाव के पूर्व ही पचरात्र से प्रभावित भागवत सम्प्रदायानुगत वैष्णव मत मिथिला में विद्यमान था और साथ ही वज्रयान, वाममार्ग इत्यादि शाक्त परम्पराओं के आधार पर ऐसी भूमि पर आ चुके थे जहाँ समस्त सम्प्रदाय अपने २ उपास्ययुग्मों को लेकर उसके अनुकूल होने में समर्थ हो गये थे। इन परम्पराओं में स्मार्त शाखा भी आ गई थी। विभिन्न देवता 'शक्ति' के सहारे से समान श्रद्धा के पर्याय हो गये थे। विद्यापति में यह समस्त परम्परायें हमको मिलती हैं। शाक्तोपासना में नारी देवी का पर्याय है। नारी के समस्त रूप सामान्य हैं। विद्यापति में नारी के कामिनी और माता ये दो स्वरूप प्रधान मिलते है। क्रीड़ारता नारी शाक्तों की परम उपास्य है। विद्यापति ने उसका प्रभूत वर्णन किया है। स्थूल की समाराधना शाक्तमतानुसार शक्ति के बाह्यलालित्य का प्रतीक है। अतः यह समस्त शृङ्गारपरकता मूलतः शाक्त भक्ति है जो भक्ति के अन्य प्रचलित स्वरूपों से तनिक भिन्न दिखाई देते हुये भी आधार रूप से भिन्न नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि शृ गार और भक्ति को अलग २ करके देखना शाक्त परम्पराओं को समझ न पाने का ही फल है। जहाँ चण्डीदास में जातिवाद का विरोध भी मिलता है वहाँ विद्यापति स्मृत्यान्तर्गत प्रभावों में ही रहे हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि विद्यापति शाक्त कवि थे और शृ गार शाक्तों की भक्ति में प्रमुख था इसीलिये विद्यापति ने भी अपने काव्य में शृङ्गार को प्रधानता दी।

अन्य प्रभाव—विद्यापति की शृङ्गार भावना को शाक्त होने पर ही नहीं छोड़ सकते वरन् कुछ अन्य कारणों से भी कवि ने अपने काव्य को शृङ्गार रस से ओत प्रोत किया। इन कारणों में मुख्य हैं—राज्याश्रय, पूर्ववर्ती कवि और संस्कृत रीति ग्रन्थ।

विद्यापति को कितने ही राजाओं के आश्रय में रहना पड़ा। यह राजा

लिखा है जिसमें अपनी शृंगार प्रियता को अधिक अच्छे रूप में प्रकट किया है—

"जाइत पेखल नहाइत गोरी, कति सँय रूप धनि आनलि चोरी।

× × × ×

ओनुकि करतहि चाहे किय देहा, अबहिं छोड़ब मोहि तेजब नेहा॥
ऐसन रस नहि पाओब आरा, इथे लागि रोइ गलय जलधारा॥"

माघ ने केवल पानी की बूंदों को आँसू कहकर ही अपने भाव को दिखाया था किंतु कवि विद्यापति ने वस्त्रों के चिपकने में भी एक भाव की कल्पना करके सौन्दर्य की सृष्टि की है। अन्य कवियों के भावों में भी कवि ने अपनी शृंगार प्रियता के कारण अधिक उत्कर्ष दिखाया है। यह कवि की उस सूझ का फल है जो उसकी कविताओं में सर्वत्र मिलती है।

महाकवि विद्यापति की पदावली की रचना मुक्तक के रूप में हुई इसलिये यह भी एक विशेष कारण था जिससे कवि को शृंगार की भावना को अपनाना पड़ा। मुक्तक काव्य में भावव्यंजना के लिये स्थान अधिक नहीं इसलिये शृंगार रस को अधिक महत्व दिया गया। प्रबन्धकाव्य में तो कवि को रसाभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त साधन और क्षेत्र है परन्तु मुक्तक का रूप भावव्यंजना के लिये छोटा है। यही प्रमुख कारण था जिससे शृंगारी मुक्तकों को संस्कृत में भी अधिक महत्व दिया गया। प्राकृत और अपभ्रंश में भी अनेकों कवियों ने मुक्तक पद रचना की और शृंगार भावना को ही अधिक महत्व दिया गया। प्रथम शताब्दी की गाथा सप्तशती और उसके पश्चात अमरुक शतक और पुष्पदंत नामक कवि की रचना में भी शृंगार भावना को प्रमुखता दी गई। जयदेव ने भी मुक्तक पद रचना की और उनको भी घोर शृंगार का सहारा लेना पड़ा। विद्यापति जयदेव से भी आगे बढ़े और उन्होंने शृंगार रस के सागर की इतनी नीचे जाकर थाह ली कि पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी कवियों से अपनी एक विशेषता छोड़ गये। शृंगार भावना के कारण ही उनके पदों का इतना सम्मान हुआ क्योंकि रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से उनके पद बहुत सफल हैं।

महाकवि विद्यापति शृंगार रस के महान् पण्डित थे इसी कारण उन्होंने नायिका भेद, नखशिख वर्णन आदि को भी अपने काव्य में स्थान दिया। अलंकारों का प्रयोग भी भाव व्यंजना में सहायक हुआ है। कवि ने राधा की जिस आयु को चुना है उसको भी शृंगार की भावना को अधिक उद्दीप्त करने के कारण। यह सन्धि अवस्था है। शैशव जाने वाला है और यौवन का

३—सूफी मत का उद्भव तथा विकास

(श्री जयकिशन प्रसाद एम० ए०)

सूफी मत के उद्भव तथा विकास पर विचार करने से पूर्व हमारे लिए यह आवश्यक है कि सूफी शब्द की व्युत्पत्ति पर भी प्रकाश डाला जाय। सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भी अनेक मत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मसजिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था उसी पर जो फकीर बैठते थे वे सूफी कहलाए। दूसरा मत यह है कि निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण औरों से अलग एक पंक्ति में (सफ़ में) खड़े किये जायेंगे वास्तव में उन्हीं को सूफी कहते हैं। तीसरा मत है कि सूफी वस्तुतः स्वच्छ और पवित्र होते हैं, और सफ़ा होने के कारण उनको सूफी कहते हैं। चौथे दल के अनुसार सूफी शब्द सोफिया (ज्ञान) का रूपान्तर है। ज्ञान के कारण ही उनको सूफी कहा जाता है। पाँचवाँ मत है कि सूफी शब्द सूफ़ (सफ़ेद ऊन) से बना है। सूफी सन्त ऊन के कपड़े पहनते थे, इसलिए वे सूफी कहलाए। यह मत अधिकतर विद्वानों द्वारा मान्य समझा जाता है। सूफी का प्रयोग मुसलिम संत या फकीर के लिए ही अब नियत रूप से होने लगा है।

इस प्रकार सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत से मत प्रचलित हैं। इतिहास के आधार पर अध्ययन करने से किसी मत का सच्चा स्वरूप अपने शुद्ध और निखरे रूप में प्रकट होता है और उसके उद्भव तथा विकास का भी ठीक-ठीक पता चल जाता है। सूफी मत इस्लाम धर्म का एक प्रधान अंग माना जाता है। यद्यपि अनेक सूफियों ने अपने को मुहम्मदी मत से अलग रखने की पूरी चेष्टा की है तथापि उनके व्याख्यान में मुहम्मद साहब का पूरा प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि सूफी सन्त कट्टर मुसलमानों से कुछ मुलायम तबियत के हैं। इसी आधार पर कट्टर मुसलमान उन्हें इस्लाम से कुछ भिन्न समझते थे।

मुसलमानों के पतन के बाद मसीहियों का विकास हुआ। सूफियों और

मसीही सन्तों में बहुत कुछ साम्य था। परन्तु जैसे कुरान की सहायता से सूफी मत इस्लाम का प्रसाद नहीं सिद्ध हो सकता वैसे ही इंजील के आधार पर भी उसको मसीहत का प्रसाद नहीं कहा जा सकता।

कुछ सूफियों का कहना है कि सूफी मत का, आदम में बीज-वपन, नूह में अंकुर, इब्राहीम में कली, मूसा में विकास, मसीह में परिपाक एवं मुहम्मद में मधु का फलागम हुआ।

सूफी मत के मूल स्रोत का पता लगाने के लिए हमें उसके सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करना चाहिये। वस्तुतः सूफी मत प्रेम भावना पर स्थित है। बात यह है कि मसीह का मूलमन्त्र विराग है, जो विरति के साथ रति भावना से भी प्लावित है। मसीह की दुलहिनों अथवा भक्त सन्तों ने प्रेम को जो अलौकिक रूप दिया उसके मूल में वही रति-भाव है। सूफियों के इस प्रेमवाद का शामी जाति वालों द्वारा बहुत दिनों तक विरोध हुआ। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मसीह के निवृत्ति-प्रधान मार्ग में आध्यात्मिक प्रणय का स्वागत हुआ और लौकिक रति अलौकिक रति में परिणत हो गई। यही परम्परा सूफियों ने ग्रहण की। भारत में परमात्मा के साकार स्वरूप को लेकर जिस माधुर्य भाव का प्रचार किया गया। उसी का प्रसाद शामी जातियों में निराकार का आलम्बन ले मादन-भाव के रूप में हुआ। सूफियों के इस प्रेमवाद के दर्शन मीराँ व आदाल के प्रेम में होते हैं। वास्तव में सूफियों के प्रेम का उदय संसार में प्रचलित देवदास एवं देवदासियों की प्रथा से हुआ और कर्मकाण्डी नबियों के घोर विरोध के कारण उसको परम प्रेम की पदवी मिली।

इस प्रकार सूफी मत के उद्भव के लिए हमें इस्लामधर्म से पूर्व प्रचलित शामी जाति के धर्म का अध्ययन भी करना पड़ता है। मुहम्मद साहब का प्रादुर्भाव तो बाद में हुआ। मुहम्मद साहब के इस्लाम से शामी जातियों में नवीन रक्त का सचार हुआ। इस्लाम के उदय के पूर्व ही सूफी मत के सभी अंग पुष्ट हो चले थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व ही सूफी-मत का उद्भव तथा विकास हो चुका था। इस प्रकार मुहम्मद साहब के मत में सूफी सिद्धांत पाये जाते हैं, इसी आधार पर सूफी अपने मत को इस्लाम के अन्तर्गत मानते हैं।

जब सूफी लोग भारत में आये, तब सूफी मत पर अनेक भारतीय प्रभाव पड़े। सूफी मत पर सबसे अधिक प्रभाव भारतीय वेदांत का पड़ा। वेदांत के

प्रभाव को लेकर सूफीमत ने अपना स्वतंत्र विकास किया जिसमें कुरान के सात्विक सिद्धांतों का विशेष रूप से सम्मिश्रण किया गया। सूफीमत पर दूसरा भारतीय प्रभाव हठयोगियों का पड़ा है। सूफियों ने योगियों से प्राणायाम आदि की शिक्षा ली। अतः सूफी मत पर हठयोगियों के सिद्धांतों की यत्र तत्र झलक मिलती है।

सूफीमत के सिद्धान्त

सूफी मत का भारत में प्रवेश मुसलमान साधुओं के साथ हुआ। इनका उद्गम स्थान ईरान की सुसंस्कृत, कोमल, भावुक कल्पना में अरब धर्म-विजेताओं का लादा हुआ इस्लाम धर्म है, जो आगे चलकर भारतीय संस्कृति के प्रभाव से कोमलतम और दार्शनिक स्वरूप धारण कर गया। इस परम्परा के कवियों ने लौकिक प्रेम और लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक रूप में देखा और ध्वनित किया है। सूफी सन्तों का सम्प्रदाय हिन्दू धर्म से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। सूफी लोग हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद, अर्थात् सारा संसार ही ईश्वर है, के निकट पहुँच जाते हैं। ये लोग सरल और मुलायम तबियत के होते हैं। इस्लाम धर्म से निकलकर और हिन्दू धर्म से प्रभावित होकर सूफी धर्म इस्लाम और हिंदू धर्म का अपूर्व सम्मिलन करता है। जिस प्रकार निर्गुण सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया उसी प्रकार सूफी सन्तों ने सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न किया। ये लोग ईश्वर को अपने प्रेमपात्र के रूप में देखना चाहते हैं। इनके अनुसार आत्मा और परमात्मा के मिलने में शैतान बाधक है। सच्चा गुरु ही मनुष्य की आत्मा का उस परमात्मा से मिलन करा सकता है। सूफी सन्तों ने हिन्दुओं के घरों की प्रेम गाथाओं को लेकर अपने अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की। मलिक मोहम्मद जायसी इस शाखा के प्रधान कवि थे। कुतबन, मझन, उसमान, शेखनबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवियों का नाम भी इस परम्परा में लिया जाता है। कुछ हिन्दू कवियों ने जैसे दामों, हरिराज, मोहनदास आदि ने भी प्रेम-मार्गी परम्परा को अपनाया। सूफी मत के सिद्धांतों का हम नीचे संक्षेप में विवेचन करेंगे—

१—ईश्वर—सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है जिसका नाम हक है। आत्मा और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा उसके सामने अपने को बन्दे के रूप में प्रस्तुत करती है, जैसा कि इस्लाम धर्म में भी है। और बन्दा प्रेम के द्वारा उस ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। खुदा तक पहुँचने

के लिए बन्दे को चार दिशायें—शरीयत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारिफ़त पार करनी पड़ती है। मारिफ़त में रूह 'बक़ा' या जीवन प्राप्त करने के लिए फ़ना हो जाती है। इस 'फ़ना' होने में उसका प्रेम ही सहायक है। इस प्रकार 'बक़ा' होकर आत्मा में ही परमात्मा का अनुभव होने लगता है और 'अनलहक़' (मैं ईश्वर हूं) सार्थक हो जाता है। प्रेम में चूर होकर आत्मा इस आध्यात्मिक यात्रा को पार करके ईश्वर में शराब-पानी की तरह मिल जाती है। सूफ़ी सन्तो का ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता, अलख, अनादि, सर्व शक्तिमान, अजन्मा, सर्व व्यापी, अनन्त और अवर्णनीय होने पर भी उनका प्रियतम है। इन लोगो के विश्वास के अनुसार जीव ब्रह्ममय है और ससार नश्वर है। सूफ़ियो के ईश्वर के सम्बन्ध में एक बात विशेष महत्व की है, वह यह है कि इनके ईश्वर की प्राप्ति का एक साधन है। वह साधन प्रेम है।

२—प्रेम—सूफ़ी मत के फ़कीर 'प्रेम' को ही ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र साधन मानते हैं। यही कारण है कि सूफ़ी मतावलम्बियो का काव्य प्रेम-गाथाओ के रूप में उपलब्ध होता है। यह प्रेम निस्वार्थ है। जायसी ने भ पद्मावत में एक स्थल पर लिखा है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा।
सपनावति कह गएउ पतारा॥

सूफ़ी फ़कीर इस प्रेम के नशे से मस्त होकर परमात्मा में 'लौ' लगा लेते हैं। उन्हें शरीर आदि वाह्य ससार की बातो का कुछ ज्ञान नहीं रहता है। सूफ़ी मत के इस 'प्रेम' के सम्बन्ध में एक बात और है, वह यह है कि सूफ़ी लोगो ने ईश्वर को स्त्री के रूप में माना है, अतः भक्त उस स्त्री (प्रियतम) की प्रसन्नता के लिए बहुत प्रयत्न करता है, और उसके हाथ की शराब पीने के लिए तरसता है। वह उससे प्रेम की भीख माँगता है। ईश्वर उसके सम्मुख एक दैवी स्त्री के रूप में उपस्थित होता है।

३—शैतान या पीर—शकर मत के अनुसार आत्मा परमात्मा के मिलन में माया बाधक है। सूफ़ी मत वाले बन्दे और ईश्वर के सम्मिलन में एक बाधक तो मानते हैं, पर वह माया के स्थान पर शैतान की कल्पना करते हैं। शैतान साधक को उसके पथ से विचलित कर देता है। पद्मावत में रत्नसेन को विचलित करने वाला राघव चेतन है, जिसे जायसी ने शैतान के रूप में चित्रित किया है। इस शैतान से बचने के लिए सूफ़ियों ने एक पीर (गुरु) की आवश्यकता का निर्देश किया है। इसीलिए सूफ़ीमत में पीर का बड़ा सम्मान है। पीर ही ऐसा शक्तिशाली है जो साधक (बन्दे) को शैतान से

बचा सकता है।

४—जीव—कुरान में ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध की कोई बात उठी नहीं है। उसमें अल्लाह और मुहम्मद का सम्बन्ध स्पष्ट है। अल्लाह सर्वोपरि है तथा मुहम्मद उसका रसूल है। सूफियों ने वेदांतियों की तरह 'जीव ही को ब्रह्म' माना है। आदमी अल्लाह का प्रतिरूप है। मूलतः अल्लाह और बन्दे में कोई अन्तर नहीं है। सूफियों पर अद्वैतवादियों का काफी प्रभाव पड़ा है, पर वह किस रूप में पड़ा है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु साधना पक्ष में वह वेदान्त के केवलाद्वैत से बहुत निकट है, यद्यपि वह ज्ञानाश्रित हो कर भावाश्रित है।

५—सृष्टि—सूफियों की दृष्टि में सृष्टि का उपादान कारण 'रूह' है। 'रूह' का अर्थ अलौकिक शक्ति है, जो इन्सान में भी अंश रूप में स्थित है। इन्सान की रूह का शरीर से जो सम्बन्ध है वही 'रूह' का सृष्टि से है। ईश्वर ने अपनी सत्ता को सर्व प्रथम रूह का रूप दिया, जिसमें सृष्टि, फरिश्तों और कल्ब की उत्पत्ति हुई। सूफियों के विचार में सृष्टि के सारे उपकरण अल्लाह के अंग-प्रत्यंग की झलक है। सूफी सृष्टि में प्रतिबिम्बित अल्लाह के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसमें तन्मय हो जाता है और इस प्रकार हक तक पहुच जाता है। संक्षेप मे सूफियों के मतानुसार सृष्टि वह दर्पण है जिसमे अल्लाह के आत्म-दर्शन की कामना पूरी होती है। इस दर्पण मे अल्लाह का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही इन्सान है।

६—अन-अल-हक़—वस्तुतः अल्लाह और इन्सान एक ही तत्व के बने हैं। कुछ सूफी कहते हैं कि'परमसत्ता में जीव का सर्वथा लोप हो जाता है, कुछ अंशतः मानते हैं। सूफियों की साधना यही है कि वे 'अन-अल हक्क' (मैं ब्रह्म हूँ) को स्वय अनुभव कर सकें। अतः साधना की आवश्यकता पड़ती है, 'जो विरह की साधना' है। सूफी दिन-रात उस महा-मिलन की आकुलता का अनुभव करना चाहते हैं जो अन्ततः जीव ब्रह्म को एक कर देगी।

सूफी कवियों की परम्परा—

प्रेम काव्यों का प्रारम्भ अलाउद्दीन के समय में मुल्ला दाऊद की नूरक और चन्द नामक प्रेम कथा से होता है। परन्तु पद्मावत की प्रस्तावना मे मलिक मुहम्मद जायसी अपने से प्राचीन कुछ और प्रेम-कथाओं का भी उल्लेख करते हैं। देखिये :—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा ॥
मधू पाछ मुगुधावति लागी। गगन पूर होइगा बैरागी ॥

राज कुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ॥
साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लगि अनिरुध बर बाँधा।

इस उद्धरण के अनुसार सम्भवतः जायसी के पूर्व प्रेम-काव्य पर कुछ ग्रंथ लिखे जा चुके थे—'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', 'मृगावती', 'खडरावती', 'मधुमालती' और 'प्रेमावती'।

मुल्ला दाऊद सूफी परम्परा के सबसे प्राचीन कवि हैं। रञ्जन का उद्भव मुल्ला दाऊद के बाद हुआ। ये सूफी साधु फारसी और हिन्दी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। इनकी 'प्रेम पन जीव निरजन' हिन्दी की विख्यात रचना है। जायसी ने अपने पूर्व के प्रेम-कथा कहने वालों का उल्लेख करते हुए 'प्रेमावति कहँ सुर सरि साधा' में जिस प्रेमावती का संकेत किया है, वह सम्भवतः इसी 'प्रेम बन जीव निरंजन' की नायिका है।

सन् १५०१ में कुतबन शेख ने मृगावती नाम की प्रेम-कथा अवधी भाषा में लिखी जो दोहे चौपाइयों में थी। यह सूफी साहित्य का प्रथम प्राप्य ग्रन्थ है, जिसके द्वारा सूफीमत का हिन्दी साहित्य में प्रवेश हुआ। परन्तु हिन्दी-साहित्य में सूफी साहित्य का पूर्ण परिपाक जायसी में देखा जा सकता है। कुतबन के बाद मझन की 'मधुमालती' नाम की प्रेम गाथा मिलती है। मझन ने अपनी रचना में एक विशेषता की है कि अपनी प्रेमकथा में नायक नायिका के साथ उपनायक व उपनायिका की कल्पना की है। इनकी भाषा अवधी है। मृगावती की अपेक्षा इसकी कल्पना विशद एवं वर्णन भी विस्तृत तथा हृदय पर प्रभाव डालने वाले हैं।

इनके बाद सूफी परम्परा के प्रमुख और श्रेष्ठ कवि मलिक मुहम्मद जायसी इस क्षेत्र में आए। वे सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे तथा शेरशाह के काल में इस क्षेत्र में आए। इनके तीन ग्रन्थ हैं—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। मलिक मुहम्मद जायसी की परम्परा में अन्य सब प्रेममार्गी कवियों की परम्परा से अन्तर है। जहाँ अन्य प्रेममार्गी संतों ने केवल कल्पित कथाओं का ही आश्रय लिया है वहाँ जायसी ने उसमें इतिहास का जरा सा मिश्रण कर दिया है। उनकी पद्मावत के पूर्वार्द्ध में व्यक्ति पक्ष है परन्तु उत्तरार्द्ध में कवि प्रेमियों के व्यक्तिपक्ष से हटकर लोक पक्ष पर आ गया है। इसके सिवाय उसने अलाउद्दीन और पद्मिनी का ऐतिहासिक आख्यान उसमें जोड़ दिया है, इस कारण जायसी की पद्मावत अन्य प्रेममार्गी साहित्य से पृथक हो गई है। प्रबन्ध की दृष्टि से भी वह औरों से बढ़कर है। अन्य सूफी

कवि जहाँ प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति तथा कोमल भावों ही को व्यक्त करते हैं वहाँ जायसी ने लोक-दृष्टि से समन्वित होकर युद्ध, उत्साह, क्रोध, खीझ आदि भाव भी प्रदर्शित किये हैं। इस कारण से उसमें प्रबन्धत्व की अपेक्षा सामग्री अधिक हो गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवित्वगुण और भाषा की दृष्टि से जायसी में अपने अन्य सूफ़ी सन्तों से श्रेष्ठता है।

जायसी के बाद जमालुद्दीन का नाम आता है। इनका 'जमाल-पचीसी' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ मिलता है। इनकी कविता साधारण श्रेणी की होती थी। उन्होंने दोहे, कवित्त, छप्पय में रचना की है।

इसके बाद अहमद का उद्भव हुआ है। आपके दोहे, सोरठे बहुत ही चटकीले तथा रसीले हैं। 'शिवसिंह-सरोज' ग्रन्थ के अनुसार इनका मत सूफ़ी अर्थात् प्रेममार्गियों से मिलता जुलता था।

इनके बाद उसमान इस क्षेत्र में आए। आपने जहाँगीर बादशाह के शासनकाल में 'चित्रावली' नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरम्भ में सूफ़ी-सम्प्रदाय के कवियों की परम्परा के अनुसार आपने भी ईश-स्तुति, पैगम्बर और खलीफ़ों की, बादशाह जहाँगीर की तथा शाह निजामुद्दीन की और हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है। आपने अपनी 'चित्रावली' की रचना जायसी के पद्मावत के ढंग पर की है। 'चित्रावली' के दोहे चौपाइयों का क्रम भी ठीक उसी प्रकार है। उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी की ही तरह नगर, सरोवर, यात्रा, दान-महिमा आदि का वर्णन 'चित्रावली' में है। चित्रावली में एक नई बात है कि इनके जोगी अँगरेजों को भी देख आए थे।

इनके बाद शेखनबी का समय आता है। इन्होंने 'ज्ञानदीप' नामक एक आख्यानक काव्य लिखा है जिसमें राजा 'ज्ञानदीप' और रानी 'देवयानी' की कथा वर्णित है।

लटमल ने 'गोरा बादल की बात' और 'प्रेमलता-चौपाई' नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी और भी फुटकर रचनाएं हैं। इनकी भाषा में पंजाबीपन है पर काव्य-सौष्ठव अधिक है।

इनके बाद प्रेमी नामक सूफ़ी संत का समय आता है। इनकी रचना 'प्रेम-प्रकास' की एक हस्त-लिखित प्रति प्राप्त हुई है। इसकी भाषा खड़ी-बोली की मिश्रित है तथा प्रेम विरह का सुन्दर वर्णन है।

इनके बाद कासिम शाह ने 'हंस जवाहिर' नाम की कहानी लिखी है। जिसमें राजा 'हंस' और 'जवाहर' की कथा है। कहानी के आरम्भ में वन्दना

जायसी-कृत पद्मावत के ढंग की है।

इनके अतिरिक्त नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावती' नामक आख्यान काव्य लिखा। इन्होंने चौपाइयों के बीच में दोहे न रखकर बरवै रक्खे हैं। फाजिल-शाह ने 'प्रेम रतन' और आशी ने वैराग्य, विरह और विरह और प्रेम का सुन्दर वर्णन किया है।

इधर खड़ी बोली में भी प्रेमाश्रयी रचनाएँ हुई है। कुछ कवियों ने खड़ीबोली में विदेशी छन्दों में भी प्रेममार्गी कविता की है। कुतुबशाह, मुहम्मदकुली तथा मुहम्मद कुतुबशाह ने भी खड़ीबोली में रचनाएँ की हैं। इसी समय में और कवि भी हुए हैं, जिनकी रचनाओं में कुछ ऐसी प्रेम-कथाएँ भी है जैसे पद्मावती, मृगावती आदि। परन्तु वे फारसी छन्दों तथा खड़ीबोली में लिखी हुई हैं। इनमें इब्नु निशाती की 'फूलवान' और तहसीनुद्दीन की 'किस्सए-काम रूप और कला' ऐसी ही रचनाएँ हैं। मोलाना वजीद का गद्य-ग्रन्थ 'सब रस' ऐसी ही प्रेम-कहानी लेकर लिखा गया है। नसरती की मसनवी 'गुलशने इश्क' में मनोहर और मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। हाशिमी की 'यूसफ जुलेखा भी ऐसी ही है।

हिन्दी के सूफी साहित्य की प्रवृत्तियाँ—

इस परम्परा के कवियों ने लौकिक प्रेम और लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक रूप में देखा है। सूफी कवि उस निर्गुण निराकार ईश्वर की उपासना करते थे जो अत्यन्त प्रेम का भण्डार है। धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण सूफी कवियों ने लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से ईश्वर के प्रेम की अभिव्यंजना की है। उनके ऐतिहासिक लौकिक आख्यानों में ऐतिहासिकता का अभाव है क्योंकि वे इसका प्रयोग अलौकिक प्रेम को व्यक्त करने के लिये करते थे। सूफी कवियों के काव्य के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि ये प्रेमाख्यान अधिकांशतः हिन्दू समाज से लिये गए हैं और वह हिन्दू जीवन के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करने के लिये हुआ। जिस प्रकार ज्ञानमार्गी संतों ने हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया था उसी प्रेममार्गी सूफी कवियों ने हिन्दुओं से सांस्कृतिक समझौता करने का प्रयत्न किया जो उनके प्रेमाख्यानों के रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

प्रेममार्गी सूफी कवियों की प्रेम गाथाओं में निम्नलिखित विशेषताएँ मिलती हैं—

१—प्रेममार्गी कवियों की प्रेम गाथायें भारतीय चरित्र-काव्यों की सर्ग-बद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढङ्ग की हैं। इन प्रेम गाथाओं

में फारसी की मसनवी पद्धति के अनुसार कथारंभ के पूर्व ईश्वर-वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा आदि मिलती हैं। सूफी मत के प्रमुख कवि जायसी ने अपने पद्मावत में सर्व प्रथम ईश्वर वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, गुरु वन्दना और तत्कालीन बादशाह शेरशाह सूरी की प्रशंसा की है।

२—प्रेम गाथाओं के रचयिता प्रायः सभी मुसलमान हैं। इन लोगों को हिन्दू धर्म का भी सामान्य ज्ञान था, जिसका परिचय इनकी काव्य रचनाओं से मिलता है। इन्हें हिन्दू धर्म के सिद्धान्तो का, हिन्दुओं के आचार विचार, रहन सहन आदि का सामान्य ज्ञान था यही कारण है कि इनकी प्रेम गाथाओं में हिन्दुओं के घरों का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन मिलता है। जायसी के पद्मावती के विवाह के अवसर पर जो ज्यौनार का वर्णन हुआ है, उससे जायसी के हिन्दू-धर्म के ज्ञान का परिचय मिलता है।

३—सूफी कवियों की प्रेम गाथायें अधिकाँशतः हिन्दुओं के घरों की कथाएँ हैं। ये परम्परा से चली आती प्रचलित कहानियाँ हैं, जिनमें आधा इतिहास और आधी कल्पना का मिश्रण करके काव्य का ढाँचा खड़ा किया गया है। प्रेम मार्गी कवियों ने इतिहास की वहीं तक रक्षा की है जहाँ तक वह उनके साध्य अलौकिक की अभिव्यक्ति करता है। सूफी मत का प्रेम-अंश बहुत महत्वपूर्ण है। अतएव इन्होंने हिन्दुओं के घरों की प्रेम-गाथाओं को लेकर काव्य रचना की, और उसके द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

४—सूफी कवियों की ये प्रेम गाथाएँ लौकिक प्रेमाख्यानों द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना करने के लिये हुई है। यही कारण है कि इन कवियों ने इन परम्परा से चली आती प्रचलित प्रेम-गाथाओं में कल्पना का पूर्ण समावेश किया है। ये कवि अलौकिक प्रेम की व्यंजना करना चाहते थे। धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण ही सूफी कवियों ने अलौकिक प्रेम की व्यंजना लौकिक प्रेम-आख्यानों की सहायता से की है। साथ ही जहाँ अलौकिक प्रेम व्यंजना में प्रेम-गाथा का कोई ऐतिहासिक तत्व बाधक हुआ है तो उसका निवारण किया है और कल्पना के मिश्रण से अर्ध ऐतिहासिक गाथा को काव्य रूप मे प्रस्तुत किया है। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अंश है। आत्मा 'बन्दे' के रूप में अपने को प्रस्तुत करती है, और बन्दा प्रेम के सूत्र में परमात्मा की प्राप्ति मे सलग्न होता है। कवियों की प्रेम गाथाओं मे जो अलौकिक प्रेम है उसमें जीवात्मा का परमात्मा के लिये तीव्र प्रेम

और साधक के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन है। सूफी सन्तों के अनुसार आत्मा-परमात्मा के मिलन में अवरोध शैतान है, जिसको दूर करके गुरु की सहायता से साधक ईश्वर की प्राप्ति करता है। इसी प्रयत्न और प्राप्ति का वर्णन प्रेम-गाथाओं का प्रतिपाद्य विषय है।

५—प्रेम-मार्गियों के काव्य ग्रन्थों की भाषा भी प्रायः एक ही प्रकार की है। यह भाषा अवध प्रान्त की है। इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केन्द्र अवध प्रान्त था, अतः इनकी काव्य-भाषा अवधी ही है।

६—छंदों के प्रयोग में भी सूफी कवियों में समानता पाई जाती है। प्रायः सभी प्रेममार्गी कवियों ने दोहों और चौपाइयों में ही ग्रंथ रचना की है। ये छंद अवधी भाषा के लिये इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने मानस में इसी छंद का प्रयोग किया है। वास्तव में जायसी से ही तुलसीदास ने इन छंदों की परंपरा ग्रहण की थी। प्रेममार्गी शाखा के प्रमुख कवि जायसी ने दोहा-चौपाई पद्धति का इतना सुन्दर प्रयोग किया है कि वे हिन्दी में इस पद्धति के प्रवर्तक माने जाते हैं।

७—प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रेम का जो चित्रण किया है, उस पर विदेशियता के साथ-साथ भारतीय शैली की छाप भी दृष्टिगोचर होती है। जायसी ने फारस की शैली के अनुसार नायक को अधिक प्रेमी तथा प्रेम पात्र को प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया है। भारतीय धर्म के अनुसार तो आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पुरुष मानकर पत्नी रूपी आत्मा को पुरुष रूपी परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील माना जाता है। परन्तु भारतीय शैली के अनुसार असख्य गोपिकाएँ कृष्ण के प्रेम में लीन, उनके विरह में व्याकुल और उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती हैं। गोपिकाओं का यह प्रेम भी आत्मा का परमात्मा के प्रति प्रेम समझा जाता है। सूफी कवियों पर इस भारतीय शैली का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रारंभ में नायक को प्रियतमा (ईश्वर) की प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाने के बाद उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को भी दिखलाया। जायसी ने अपने पद्मावत में पद्मावती के सतीत्व तथा उत्कृष्ट पति प्रेम आदि के दृश्य दिखाकर अपने भारतीय होने का पूरा परिचय दिया है।

८—इसी प्रकार माया के स्थान पर साधक को पथ भ्रष्ट करने वाले शैतान की कल्पना भी भारतीय है, जिसको प्रेममार्गी सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में स्थान दिया है।

९—प्रेममार्गी कवियों के काव्य-ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि

उन्होंने तो अपने भावों को सरल रूप में प्रतिपादित करके मनुष्य-हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न किया है। सन्त कट्टर मुसलमानों की अपेक्षा अधिक मुलायम तबियत के और सरल स्वभाव के थे। इसी कारण से उन्होंने उपदेशों को व्यक्त करने में आडम्बर का प्रदर्शन नहीं किया।

१०—सूफी प्रेममार्गी कवियों के ग्रंथ अधिकतर प्रबन्ध शैली में ही लिखे गए थे, अतः उनमें कथानक की रमणीयता के साथ ही संबंध निर्वाह भी सुव्यवस्थित हुआ है। प्रेममार्गी कवियों का वस्तु वर्णन अच्छा नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि उन्हें तो अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति करनी थी, अतएव वस्तु वर्णन या कथा का प्रवाह उनके लिए उसी सीमा तक महत्व रखता था जहाँ तक उनके उस प्रेम के अभिव्यजन में वह सहायक या उपयोगी होता।

११—हिन्दी के सूफी कवियों की मानव-हृदय के बड़े सूक्ष्म भावों तक पहुँच दिखाई पड़ती है। उनके रति तथा शोक आदि के वर्णन अधिक भावपूर्ण हुए हैं। सूफी कवियों की भाव-व्यंजना अपना विशेष महत्व रखती है।

१२—सूफी मत का उद्भव इस्लाम से ही हुआ था, परन्तु उस पर बाहरी प्रभाव भी पड़े। प्रेममार्गी कवियों की रचनाओं में हम इन प्रभावों की छाप देखते हैं। सूफी मत पर भारतीय अद्वैतवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। जो प्रेमपूर्ण वैष्णव धर्म शाक्तों और शैवों के विरोध मे उठ खड़ा हुआ उसमें अहिंसा आदि पर विशेष जोर दिया गया था। सूफियों ने वैष्णव धर्म की यह शिक्षा ग्रहण की थी और वे अहिंसावादी बन गए थे। उपनिषदों के अन्य अनेक वादों जैसे प्रतिबिम्बवाद के अनुसार मान-रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, का जायसी आदि सूफी कवियों पर प्रभाव पड़ा है। जायसी ने अपने 'पदमावत' में कई स्थानों पर प्रतिबिम्बवाद से अपना मत-साम्य दिखलाया है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय पंच भूतों में आकाश को न मानकर उन्होंने चार ही तत्व माने हैं। इसी प्रकार पतंजलि द्वारा निरूपित योग की क्रियाओं को हठयोगियों आदि ने जिस रूप में ग्रहण किया था उसी रूप में सूफी कवियों ने भी इनको ग्रहण किया है।

१३—सूफी कवियों के काव्य मे रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर तथा सरल व्याख्या हुई है। संत कवियों का रहस्यवाद तो बड़ा ही शुष्क तथा नीरस है। उसमें शंकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है। उसमें "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" के सिद्धान्त को ही आधार माना है। इस कारण उसमें जगत का बहिष्कार होने से रागात्मक अनुभूति का नितांत

अभाव मिलता है। किन्तु सूफियों के रहस्यवाद में हृदय की मधुर भावनाओं का बड़ा महत्व है। सूफियों ने जगत को सत्य मानकर रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर तथा भावात्मक अभिव्यक्ति की है। उन्होंने प्रेम के द्वारा अव्यक्त सत्ता को व्यक्त रूप में प्रकट किया है।

सूफी काव्य-परम्परा मे जायसी का स्थान

प्रेममार्गी सूफी काव्य परम्परा में जायसी का प्रमुख स्थान है। जायसी का प्रेम काव्य अन्य सब प्रेममार्गी कवियों से स्पष्टतः भिन्नता रखता है। जहाँ अन्य प्रेममार्गी सन्तों ने केवल कल्पित प्रेम कथाओं का ही आश्रय लिया है, वहाँ जायसी ने पद्मावत की प्रेम-कथा में कल्पना के साथ ऐतिहासिकता का भी मिश्रण किया है। इसी कारण से जायसी का पद्मावत अन्य प्रेममार्गी साहित्य से भिन्न ही है। यह तो काव्य-विषय की दृष्टि से हुआ, साथ ही काव्य कौशल की दृष्टि से भी जायसी प्रेममार्गी शाखा के कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अन्य सूफी कवि जहाँ प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति तथा कोमल भावों को ही व्यक्त करते हैं वहाँ जायसी का भाव पक्ष लोक भावना से समन्वित होकर युद्ध, उत्साह, क्रोध, खीझ आदि के वर्णनों से पूर्ण है। इस दृष्टि से जायसी अन्य सूफी कवियों से श्रेष्ठ है। उनकी तीन रचनाएँ हैं—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम।

हिंदी सूफियों की प्रेमगाथाओं की परम्परा में मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत सबसे महत्वपूर्ण है। पद्मावत मे सिंहलद्वीप के राजा गधर्वसेन की कन्या पद्मावती और चित्तौड़गढ के राजा रतनसेन की प्रेम कथा है हीरामन तोते से पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर राजा विरह-व्याकुल हो जाता है और रानी नागमती तथा राजपाट को छोड़ कर योगी बनकर सिंहल द्वीप को चल देता है। अनेक बाधाओं के बाद शिवजी की कृपा से वह पद्मावती को प्राप्त करता है। चित्तौड़गढ लौटने पर अपने दरबार के राघवचेतन नामक एक पण्डित से वाद-विवाद मे झगड़ा होने पर क्रोध मे उसे देश-निकाला देता है। राघवचेतन अलाउद्दीन को पद्मावती के रूप की प्रशंसा कर, चित्तौड़ पर चढाई करने को उकसाता है, जिससे रतनसेन कैद होता है। अन्त में पद्मावती के चातुर्य और गोरा और बादल की वीरता से रतनसेन छूट जाता है, पर कुम्भलनेर के राजा देवपाल से, जिसने पद्मावती को रतनसेन की कैद के वक्त फुसलाने का प्रयत्न किया, लड़ते-लड़ते मारा जाता है। अन्त में दोनों रानियाँ शव के साथ सती हो जाती हैं।

यद्यपि इस कहानी में पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है

तथापि जायसी ने इन दोनों का ऐसा मिश्रण किया है कि उनके प्रबन्ध-सौष्ठव पर आश्चर्य होता है। दूसरी बड़ी विशेषता इस कहानी में यह है कि इसमें भौतिक प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना हुई है।

संयोग और वियोग शृंगार दोनों का ही वर्णन जायसी ने अत्यन्त सुन्दर किया है। विरह का वर्णन तो हिंदी साहित्य में अद्वितीय है। पद्मावत में वेदान्त, हठयोग आदि हिंदू धर्म की बातों का समावेश है, जिससे मालूम पड़ता है कि जायसी बहुश्रुत थे। जायसी का यह ग्रंथ ठेठ अवधी भाषा में लिखा हुआ है। इसमें दोहा चौपाई पद्धति को अपनाया गया है। अलंकारों का प्रयोग भावोत्कर्ष के लिए हुआ है। लोक-जीवन में शिक्षाप्रद सूक्तियों, भौतिक तत्वों, मुहावरों और किम्वदन्तियों का प्राधान्य रहता है। जायसी के काव्य में इन सब का विशद प्रयोग है। इससे जान पड़ता है कि जायसी इन लोक-जीवन की प्रिय वस्तुओं से परिचित होने के साथ ही स्वय भी बड़े वाग्पटु थे। जायसी ने मसनवी शैली से प्रभावित होकर कल्पना के प्राचुर्य को अपने काव्य में स्थान दिया है।

जायसी की रचनाओं पर विशद रूप से विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूफी प्रेम-काव्य-परम्परा का पूर्ण परिपाक यदि किसी सूफी कवि में मिल सकता है तो वे जायसी ही हैं। वे एक विशेष वर्ग के कवि हैं। उन्होंने इस्लामी सूफी धारा का वेदान्त, योग निष्ठ भारतीय रूप उपस्थित किया है। जो कुछ उन्होने उपस्थित किया है वह उनका अपना है, मौलिक है और शास्त्र-ज्ञान के माध्यम के फलस्वरूप न होकर स्वय की अनुभूति के माध्यम से उन्हें प्राप्त हुआ है। वेदान्त और योग जायसी के समय की दो महत्वपूर्ण धाराएँ थीं। एक तीसरी धारा भक्तिवाद की थी। पद्मावत में राम और कृष्ण की पौराणिक कथाओं के जो निर्देश हैं, उनसे यह स्पष्ट ही है कि जायसी इन पौराणिक महापुरुषों से पूर्ण रूपेण परिचित थे। जायसी ने वेदान्त से मिश्रित सूफी मत से समन्वित एक सामान्य प्रेम मार्ग की खोज की। जायसी का श्रेय यह है कि उन्होंने विदेशी सूफी विचार धारा को भारतीय दार्शनिक विचारों से समन्वित कर के उसे अपने युग के अनुरूप नया रूप दिया है। प्रेम की पीर को मानव हृदय में जगा देने की उनमें अद्भुत क्षमता है। इसी कारण जायसी अपनी प्रत्येक चौपाई में बोलते हुए मालूम होते हैं। सूफी रहस्यवादी काव्य में प्रेम की पीर का जो महत्व है इसका जायसी ने बड़े सुन्दर ढंग से अपने काव्यों में प्रतिपादन किया है। उन्हें

इतिहास, भूगोल, ज्योतिषशास्त्र हठयोग आदि का सम्यक् ज्ञान है। धर्म के क्षेत्र में उनकी दृष्टि बड़ी उदार है। वे किसी धर्म का खण्डन मण्डन नहीं करते हैं। उनकी उदार प्रवृत्ति, उनके हृदय की कोमलता, और उनकी माधुर्य भावना उन्हें अपने वर्ग का (सूफ़ीमत का) और अपने समय का सफल कवि सिद्ध करती है। उनका स्थान सूफ़ी कवियों में सर्वोपरि है। प्रेम काव्य की कुतबन, मंझन आदि से चली आती हुई परम्परा को जायसी ने पुष्ट किया और उसको चरम विकास की स्थिति तक पहुचाया।

४—जायसी का विरह-वर्णन

(श्री भारतभूषण सरोज एम० ए०)

"विरह में कितना उल्लास, कितनी शान्ति और कितना बल है जो कभी एकान्त में बैठकर, किसी की स्मृति में, किसी के वियोग में, सिसक-सिसक और विलख-विलख कर नहीं रोया, वह जीवन के ऐसे सुख से बंचित है जिस पर सैकड़ों मुसकानें न्यौछावर हैं। उस मीठी वेदना का आनन्द उन्हीं से पूछो जिन्होंने यह सौभाग्य प्राप्त किया है। हँसी के बाद मन खिन्न हो जाता है, आत्मा क्षुब्ध हो जाती है मानो हम थक गये हों, पराभूत हो गये हों परन्तु विरह में रुदन के पश्चात् एक नवीन स्फूर्ति, एक नवीन जीवन, एक नवीन उत्साह का अनुभव होता है। ऐसा मालूम होता है कि मानो दिल का भारी बोझा हल्का हो गया हो" (प्रेमचन्द)। प्रेमचन्दजी के इन शब्दों में कितनी सार्थकता और आनन्द है। विरह का आनन्द हृदय की सच्ची और पवित्र अनुभूति है। वेदना में मलिनता नहीं। विरह की अग्नि में तपा हुआ प्रेम एकान्त शुद्ध और निर्मल होता है। उसमें प्रियतम के मिलन के लिये उत्कण्ठा और उत्कट प्रतीक्षा सदैव रहती है, गाम्भीर्य और स्थिरता होती है। यही कारण है कि विप्रलम्भ शृंगार का महत्त्व साहित्य जगत के कवि समाज में अत्यधिक रहा है। कौन ऐसा अभागा कवि होगा जो वेदना की तड़पन में स्मृति के झोंकों से पराभूत न हुआ हो। जहाँ वेदना है वहाँ स्मृति है, जहाँ स्मृति है वहाँ तड़पन, टीस और रुदन का प्रमुख स्थान है। कविवर अयोध्यासिंह उपाध्याय ने विरह की अभिव्यंजना कितने सार्थक शब्दों में की है—

> यदि विरह विधाता ने सृजा विश्व में था,
> तो स्मृति रचने में कौन-सी चातुरी की।
> यदि स्मृति विरची तो फिर उसे क्यों है बनाया
> वपन-पटु कुपीड़ा बीज प्राणी उरों में॥

कविवर पन्त के इन शब्दों में विरह का महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

अहह ! विरह कराहते इस शब्द को ।
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा ॥

कवि समाज प्रेम के अश्रुमय स्वरूप पर अधिक रीझा है इसी से प्राय: प्रत्येक कवि ने विरह की आह्लादिनी शक्ति का आँचल सहर्ष ग्रहण किया है। विरह की वह पुण्यात्मा कालिदास के हृदय में शकुन्तला बन बैठी है तो भवभूति के हृदय में सीता बनकर, सूर के हृदय में राधा बनकर तो गुप्त और मीरा के हृदय में उर्मिला, यशोधरा या कृष्ण के रूप में है। वह आत्मा अजर और अमर है और प्रत्येक सहृदय प्रेम के हृदय में करुणा और प्रेम के राग अलापा करती है।

प्राय: ऐसा प्रवाद चला है कि विरह में प्रेम का महत्व कम हो जाता है। आँखों से दूर और हृदय से दूर की कल्पना प्राय: प्रेमियों के हृदय को एक प्रकार की विह्वलता और टीस पहुँचाया करती है परन्तु ऐसे प्रेमी जनों को संवेदना पूर्वक सांत्वना देते हुए कविवर कालिदास मेघदूत में लिखते हैं—

स्नेहानाहु किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्व योगा ।
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेय राशि भवन्ति ॥

प्रेम के वियोग की प्रवृति यहाँ तक अपना विस्तार कर लेती है कि जड़ वस्तुए तक भी वियोगी की विरह वेदना से द्रवीभूत हो जाती हैं। इस स्थिति का चित्रण करने में प्राय: कई कवियों को सफलता मिली है। जायसी ने नागमती के दुख में पशु-पक्षियों को द्रवीभूत होते दिखाया है—

फिरि फिरि रोव कोई नहीं डोला। आधी रात विहंगम बोला।
तू फिरि फिर दाहै सब पाखी। केहि दुख रैन न लावसि आँखी ॥

शकुन्तला के ससुराल-गमन के अवसर पर यद्यपि वर्णन विरहमय-उल्लास का है फिर भी शकुन्तला के सहज और सरल प्रेम-सम्बन्ध से द्रवीभूत वृक्ष-लता गुल्म, पक्षी हिरन आदि सभी व्याकुल हैं। कोकिल उसके गमन पर आशीर्वादात्मक शब्द बोलती है जिसकी अभिव्यक्ति कालिदास की कुशल लेखनी ने सुन्दर की है—

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि—
छायाद्रुमैर्नियमिताऽर्क मरीचितापः
भूयात्कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूल पवनश्च शिवश्च पथा ॥

हिन्दी साहित्य में विरह वर्णन अधिकतर चार रूपों में हुआ है। पूर्वानुराग, मान, प्रवासगमन तथा करुण स्थिति में विरह वर्णन। पूर्वानुराग

तथा रूप सादृश्य में विरह की स्थिति तभी आती है जबकि प्रिय के संयोग होने पूर्व गुण, कथन, श्रवण और दर्शन आदि की अभिलाषा होती है, परन्तु उसकी पूर्ति न होने से जो तड़पन और वेदना होती है वही पूर्वानुराग विरह है। दमयन्ती हंस के मुख से नल का गुण श्रवण कर मिलने के लिये आतुर होती है, रत्नसेन तोते के मुख से पद्मावती का रूप सौन्दर्य सुनकर मिलन के लिये आतुर और विह्वल हो उठता है। इस प्रकार का विरह पूर्वानुराग में ही रखा जाता है। रूप सादृश्य पूर्वअनुराग से भिन्न वस्तु है। इसमें प्रिय का रूप साम्य वियोगी जिस वस्तु में देखता है वह उसे खाने को, काटने को और मानो जलाने को आ रही होती है। इसी तड़पन से आकुलित हुआ विरही रोता है, कराहता है और आँसू बहाता है। ऐसे वर्णनों से तो प्रायः सारा साहित्य ही भरा पड़ा है—इस प्रकार के विरह का सूरदास ने जो वर्णन किया है देखिए—

वे जो देखे राते राते फूलन फूले डार।
हरि बिनु फूल झरी सी लागति झरि झरि परत अंगार।

सेनापति—"केतकि अशोक नव चम्पक बकुल कुल।
कौन धौं वियोगिनी को ऐसो विकराल है
सेनापति सावरे की सुरति की सुरति की
सुरति कराई करि डारत बिहाल हैं।"

संयोग के अनन्तर प्रेम की स्वाभाविक स्थिति में ईर्षा के कारण साधारण मानापमान की स्थिति आती है। नायक-नायिका परस्पर रूठ जाते हैं, उससे जो दुःख पैदा होता है वह मान संबन्धी विरह कहलाता है। करुण विप्रलम्भ में मृत्यु आदि के पश्चात् प्रिय के मिलने के लिये जो तड़पन और कसक दिखाई गई है और प्रायः दिखाई जाती है वह सम्भव नहीं। अधिकतर ऐसा विरह करुण-रस की कोटि में ही आता है। प्रवासगमन विरह अधिक महत्त्वपूर्ण है जहाँ प्रवत्स्यत्पतिका नायिका' प्रिय के प्रवासगमन के पश्चात् उसके गुणों आदि का चिन्तन श्रवण और कथन आदि करती है। लक्ष्मण के बन जाने पर साकेत के नवें सर्ग में जो विरह दिखाया गया है वह इसी कोटि में आता है। इसमें प्रेमी या प्रेयसी के हृदय की कसक वेदना, पूर्व स्मृतियाँ तथा मिलने की उत्कटता आदि दिखाकर उसके हृदय को पुष्ट किया जाता है। वैसे विप्रलम्भ में मान का कोई स्थान नहीं क्योंकि वह कुछ देर के लिये अपने ही घेरे में रहकर फिर नष्ट हो जाता है। पूर्वराग तथा प्रवास में इस स्थिति की रक्षा की गई है, वियोगी को तड़पने का, आत्मा-

सीता मृगनैनी" परन्तु उसके उत्तर में पशु पक्षियों को सहानुभूति प्रदर्शित करते कम देखा है। नागमती के विरह से द्रवीभूत हुआ एक विहंगम बोल उठता है—

फिर-फिर रोव कोई नहीं डोला-आधी राति विहंगम बोला।
तू फिरि-फिर दाहै सब पाँखी–केहि दुःख रैनि न लावसि आँखी

नागमती के विरह में ऐसी सम्भावना कोई आश्चर्य का विषय नहीं। जायसी का विरह वर्णन कहीं-कहीं अत्यन्त अत्युक्ति होने पर भी ऊहात्मक नहीं बना, उसमें गाम्भीर्य बना रहा है। जाड़े के दिनों में भी पड़ौसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले, शरीर पर रखे हुए कमल पत्तों को भुनकर पापड़ बनाने वाले, विरह से कृशकाय होकर श्वास प्रश्वास के पालने में भूलने वाली नायिका का तथा ताप का चित्रण इसमें नहीं हुआ यद्यपि जायसी की नागमती का ताप किसी से कम नहीं है—क्योंकि वह स्वयं कहती है—

हाड़ भये सब किंकरी-नसें भई सब ताँति।
रोंव रोंव ते धुनि उठे कहौं विरह केहि भाँति॥
देहि कोयला भई कंत सनेहा तोला मांस रहा नहीं देहा।
रकत न रहा विरह तन जरा रती रती होई नैनन्ह ढरा॥

हम यह निर्भीक होकर तो नहीं कह सकते कि जायसी के विरह वर्णन में ऊहा नहीं मिलती क्योंकि कहीं २ दो चार पद ऐसे आ गये हैं।

जैसे—"जेहि पंख नियर होइ कहि विरह की बात।
सोइ पंखी जाइ जरि तरिवर होइ निपात॥"

परन्तु यह बात निर्विवाद सत्य है कि विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की शद व्यंजना जायसी की अपनी विशेषता है। उन्होंने अत्युक्ति की है परन्तु वेदना के स्वरूप में। जायसी ने यह अधिक कहा है कि ताप हृदय में ऐसा ान पड़ता है—जैसे

जानहुँ आगिनि के उठहिं पहारा। औ सब लागहि अङ्ग अंगारा।

प्रेम चाहे कितना दुःखदायी और यंत्रणामय क्यों न हो जाये परन्तु हृदय उस स्थिति से विलग नहीं होना चाहता। उस यन्त्रणा के सहने में भी एक प्रकार की सांत्वना और आनन्द है। प्रेमजन्य सन्ताप के अतिरेक से नागमती को रह-रहकर सन्ताप सहने की बुरी लत पड़ गई है। महादेवी की तरह-"मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ," नागमती भी इस ओर प्रवृत्त हैं। जायसी की अनूठी व्यजना देखिये जो साहित्य में ढूँढ़ने पर भी

नहीं मिलेगी।

जरत बजागिनि करु पिउ छाहाँ। आइ बुझाउ अंगारन्हि माहाँ।
लागिउं जरै, जरै जस भारू। फिरि-फिरि भूंजेसि तजिउं न बारू॥

मनुष्य के सहज सम्पर्क में आने वाले उसी के द्वारा पाले गए पौधे किस प्रकार उसके दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होते हैं यह बड़े कौशल के साथ जायसी ने दिखाया है। प्रकृति के सम्वेदन की कल्पना तो संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र गृहीत है फिर भी हिन्दी में यह कल्पना सदैव चिर नवीन ही रहेगी। प्रकृति की सहानुभूति को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मानव की आत्मा में रस समन्वित गुणों का व्यापक प्रसार हो। संयोग की बात यह है कि नागमती में हम उच्चतर मानवीय गुणों की संसृष्टि पाते हैं। यही कारण है कि जिससमय उसके हृदय में गहन आंतरिक वेदना है। उस समय उससे सहानुभूति रखने वाले प्रकृति के उपादान भी पीड़ा अनुभव करते हैं। इसके अनुसार नागमती के दुःख से व्याकुल पक्षियों की वेदना का अन्त तभी होता है जब रत्नसेन पुनः चित्तौड़ में आ जाते हैं।

पलुटी नागमती कै बारी, सोने फूल फूलि फुलवारी।
जीवत पंखि रहे सब दहे। सबै पंखि बोले गहगहे॥

जायसी ने मानव-हृदय की सामान्य भाव-भूमि पर विरह की ऐसी धारा प्रवाहित की है जिससे हृदय का समस्त कलुष धुल जाता है। कौन सहृदय रसिक होगा जो निम्न पद को पढ़कर न तड़पा हो—

"यह तन जारौ छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव।"

विप्रलम्भ शृंगार को ही जायसी ने 'पद्मावत' में प्रधान रखा है। कवि ने जहाँ विरह दशा में भारतीय पद्धति का अनुसरण ही किया है वहाँ फारसी साहित्य द्वारा पोषित भावों के छींटे भी यत्र-तत्र पाये जाते हैं। विदेशी प्रभाव के कारण वियोग दशा में वीभत्स चित्र भी आ गये हैं, जैसे—

विरह सरागन्हि भूंजै माँसू, गिरि गिरि परै रक्त के आँसू।
कटि कटि माँसु सराग परोवा, रकत कै आँसु आँसु सब रोवा॥

नागमती के विरह के अन्तर्गत बारहमासा भी आ जाता है। भिन्न-भिन्न माँस में होने वाली आंतरिक मनोव्यथा का चित्रण बारहमासा मे मिलता है। बारहमासा में वेदना का अत्यन्त निर्मल स्वरूप, दाम्पत्य जीवन का मर्मस्पर्शी और माधुर्य्य पूर्ण विकास, प्राकृतिक वस्तुओं और उसके व्यापारों के साथ सर्वथा अकृत्रिम, सरल, स्निग्ध और मृदुल रूप में भारतीय हृदय हमें प्राप्त

हुआ है। इसमें विप्रलम्भ श्रृंगार उद्दीपन रूप में है। बारहमासे में मुख्यतः दो बातें देखने में मिलती हैं—

१—दुःखों के नाना रूपों और कारणों की उद्‌भावना।

२—प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन।

दूसरे प्रकार में कवि ने केवल वस्तुओं व्यापारों की पृथक-पृथक झलक दिखाकर प्रेमी हृदय की अभिव्यंजना की है।

जैसे—जेठ जरै जग चलै लुवारा उठहि बवडर परहि अंगारा।
उठै आगि औ आवै आँधी, नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी॥
चढ़ा आसाढ गगन धन गाजा-साजा विरह दुंद दल बाजा
खड़ग बिज्जु चमकै चहुँ ओरा बुंद बान बरसहिं चहुँ ओरा॥

कवि ने अपनी भावुकता का परिचय तो इस रूप में दिया है कि रानी नागमती अपने रानीपन को भूल गई है। वह राजसी-ठाठ उसके हृदय से परे की वस्तु है और जनता की सामान्य भाव-भूमि से दूर की वस्तु है। वह हिन्दू गृहिणी की सामान्य स्थिति के भीतर आ गई है इसीलिए उसके प्रेम का उज्ज्वल प्रकाश दीप्तिमान हो उठा है।

पहले प्रकार के चित्रण में कवि ने दुःख के नाना रूपों और कारणों की उद्‌भावना की है। उसमें कोमलता, सरसता और गम्भीरता है। विरह दुःख-दशा है जिसका पोषण दुःख की वस्तुओं से होता है। विरह में कष्टदायक वस्तु अधिक कष्टदायक प्रतीत होती है—

नारिहु पवन झकोरैं लागी लङ्का दाहि पलङ्का लागी।
उठै आगि औ आवै आँधी नैन न सूझ मरौं दुखबाँधी॥

नागमती दूसरों को सुखी देखकर अपने दुःख के नाना रूपों और कारणों की उद्भावना करती है। सभी के मित्र आगये परन्तु नागमती अकेली है। इस वैषम्य की भावना ने उसे और भी दुःखी किया। यह उसकी एक स्वाभाविक प्रवृति हो गई। वह कहती है—

चित्रा मित्र मीन कर आवा। पपीहा पीउ पुकारत पावा।
स्वाति बूंद चातक मुख परे। समुद्र सीप मोती सब भरे॥
सरवर संवरि हंस चलि आए। सारस कुरलहिं खंजन देखाए।

परन्तु नागमती का प्रिय नहीं आया इसी से वह अधिक व्याकुल है।

विरहिणी की सादृश्य-भावना का वर्णन भी परम्परा प्रसिद्ध है। कवियों ने ऋतु-सुलभ-व्यापारों और वस्तुओं से उसका साम्य भी किया है। ऐसा वर्णन हमें प्रायः विरह वर्णन के काव्य में मिला है। जहाँ हम एक ओर फटे दरार

देखते हैं तो दूसरी ओर विरहिणी का फटा हृदय देखिये। एक ओर यदि ओस पड़ती है तो दूसरी ओर अश्रुधारा है—एक ओर यदि सूखे हुए पीले पत्ते हैं तो दूसरी ओर विरहिणी की पीली देह है। इस प्रकार का वर्णन उद्धव शतक के षट्ऋतु वर्णन में भी रत्नाकर ने किया है। अतः ये कल्पनाएं यदि किसी सीमा तक सत्य न हो तो दूर की सूझ अवश्य हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जायसी ने अपने काव्य में विरह का अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतिपादन किया है जिसमें स्वाभाविकता और मार्मिकता का विशेषतया समावेश है। यह कृति पाठक के चित्त का तुरन्त स्पर्श करती है।

५—लोकनायक तुलसी

(श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०)

तुलसी लोकनायकों की उस गौरवमयी परम्परा के अद्‌भुत ज्वाजल्यमान नक्षत्र हैं जिनकी शृङ्खला भगवान कृष्ण से लेकर अद्यावधि महात्मा गाधी तक चली आई है। जब समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न होकर उसकी गति रुद्ध हो जाती है और सड़ाँध उत्पन्न होने लगती है उस समय किसी ऐसे महापुरुष का आविर्भाव होता है जो सम्पूर्ण विरोधी तत्त्वो एव गतिरुद्धता के कारणों का परिष्कार कर उनमें पारस्परिक सहयोग और एकता की भावना उत्पन्न करता है। इतिहास इसका साक्षी है। महाभारत काल में रामयुग की मर्यादाएँ नष्ट होने के कारण भारतीय संस्कृति के लिए भयानक सकट उत्पन हो गया था। ब्राह्मण क्षत्रियों के पारस्परिक द्वेष से उत्पन्न विषमता के कारण जनता त्रस्त थी। साधकों के विभिन्न दल ज्ञान, कर्म और भक्ति की मनमानी व्याख्या कर विरोध को व्यापकता दे रहे थे। ऐसे सकटपूर्ण समय में योगीराज कृष्ण ने महाभारत का सचालन कर प्रतिकूल शक्तियों का उन्मूलन किया और ज्ञान, कर्म तथा भक्ति की एकता स्थापित की। कालान्तर में पुनः कर्मकाण्ड की प्रधानता स्थापित हो जाने के कारण सामाजिक गतिरोध उत्पन्न हुआ। उसका परिष्कार करने के लिए भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ। उन्होंने सम्पूर्ण विषमताओं को दूर कर मध्यम मार्ग के अनुकरण करने का उपदेश दिया जो 'मध्यमा प्रतिपदा' के नाम से विख्यात है। भगवान बुद्ध के लग भग डेढ़ हजार वर्ष उपरान्त जब बुद्ध धर्म भी बाह्य कर्मकाण्ड और आडम्बर के मायाजाल में उलझ गया तो भगवान शकर ने समाज का उद्धार करने का प्रयत्न किया। परन्तु शकर स्वामी का प्रभाव केवल धार्मिक एव चिन्तन के क्षेत्रों तक सीमित रहने के कारण अधिक स्थायी और ठोस न रह सका क्योंकि उसमें समाज की उपेक्षा सी थी। कालान्तर में धार्मिक आचार्यों ने शकर के सिद्धान्तों के आधार पर धर्म का पुन परिष्कार कर सामाजिक मर्यादा स्थापित करने का प्रयत्न किया। आगे चलकर गोस्वामी

तुलसीदास ने उनके इस प्रयत्न को व्यावहारिक रूप द्वारा पूर्णता प्रदान कर समाज को कल्याणमयी मर्यादा के बन्धन में बाँध दिया और उसमें समन्वय की भावना उत्पन्न की। यह परिष्कार लगभग बारह सौ वर्षों से चली आती हुई विषमता का था। इसी से तुलसी द्वारा स्थापित लोक धर्म आज भी हिन्दुओं का सर्वमान्य लोकधर्म माना जाता है और उनका 'मानस' हिन्दुओं का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म ग्रन्थ। तुलसी की महानता का यही ऐतिहासिक महत्व है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता म समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" लोकनायक वही हो सकता है जो समाज के मनोविज्ञान को भली-भाँति समझ सके। वह प्राचीनता का संस्कार कर उसमें अपनी नवीनता का मिश्रण कर उसे इस रूप में ढाल देता है जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग का लाभ होकर उसे सन्तोष और शान्ति प्राप्त हो सके। भौतिक शक्ति के आधार पर कोई व्यक्ति लोक शासक तो हो सकता है परन्तु लोकनायक नहीं। शासक से जनता प्राय भयभीत और दूर रहती है जबकि नायक जनता के स्नेह और श्रद्धा का भाजन होता है। शासन का अधिकार केवल तन पर ही रहता है परन्तु नायक का तन और मन दोनों पर रहता है। इसी से उसका प्रभाव स्थायी, दृढ़ और स्नेह का रहता है। लोकनायक स्वय त्यागकर समाज की श्रद्धा, प्रेम और सम्मान प्राप्त करता है। अकबर और तुलसी दोनों समकालीन थे। अकबर लोकशासक था और तुलसी लोकनायक। अकबर का अब केवल ऐतिहासिक अस्तित्व अवशिष्ट है जबकि तुलसी आज भी हिन्दू समाज के कर्णधार का आसन ग्रहण किए हुए हैं। यही दोनों में अंतर है। साथ ही लोकनायक का पद उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो सामयिक परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन कर प्रचलित ऐसी मान्यताओं को जो समाज के लिए घातक हो उठती हैं, मानने से स्पष्ट इन्कार कर देता है। उसमें प्रगतिशीलता की भावना होती है। वह उन प्राचीन मान्यताओं का निराकरण कर, समय के अनुकूल उचित मान्यताओं की स्थापना करता है परन्तु उसकी प्रगतिशीलता युग की सामाओं से बँधी रहती है फिर भी उसमें एक ऐसी उदार, विस्तृत और सार्वभौम भावना अन्तर्निहित होती है जिसे सम्पूर्ण युगों पर लागू किया जा सकता है। तुलसी ने यही किया था। तुलसी की इसी

वश में उत्पन्न होकर भी दरिद्रता के कारण उन्हें दर दर भटकना पड़ा था। निराश्रित होने के कारण कुछ दिनों उन्हें मस्जिद में भी सोना पड़ा था। जीवन में अशिक्षित एव निम्नकोटि के व्यक्तियों से लेकर परम साधकों और काशी के दिग्गज पण्डितों का सहवास उन्हें प्राप्त हुआ था। उनका जन भाषा तथा प्राचीन सस्कृत साहित्य का ज्ञान विस्तृत और अगाध था। पिंगल शास्त्र पर उनका पूर्ण अधिकार था। लोक और शास्त्र के सम्मिलित और यथार्थ ज्ञान ने ही उनके काव्य को इतना व्यापक बनाया है। उस समय अधिकाँश सरस्वती के उपासक केवल आश्रय-दाताओं की प्रशसा में ही अपनी सम्पूर्ण काव्य शक्ति का उपयोग कर रहे थे। तुलसी क्रान्तिकारी थे। इसलिए ज्ञान के इस दुरुपयोग से तिलमिला उठे। उनकी दृष्टि में "कीन्हें प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछि ताना" था। उनका मत था कि 'गिरा' का वास्तविक उपयोग प्राकृत जन के गुणगान करने के लिए न होकर जन कल्याण के लिए होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है। कबीर ने भी यही किया था। कहा जाता है कि तुलसी ने अपना काव्य 'स्वान्त सुखाय' लिखा था। परन्तु उस फक्कड़ का अपना व्यक्तिगत सुख ही क्या था? विद्वानों का कथन है कि महान पुरुषों का वास्तविक सुख जन सुख में निहित रहता है। समाज और महान व्यक्ति अभिन्न होते हैं। गाधी का व्यक्तिगत सुख क्या था? केवल जन कल्याण! तुलसी और समाज दोनों अभिन्न थे। इसलिए उनके सुख में निश्चित रूप से समाज का सुख सम्मिलित था।

तुलसी व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनका व्यावहारिक आदर्शवाद यह सिखाता है कि साधुतावादी को किसका पक्ष लेना चाहिए और किसके विरुद्ध युद्ध में पराक्रम दिखाना चाहिए। 'मानस' की धर्मभूमि सत् के समर्थन और असत् के निराकरण वाले सिद्धान्त पर खड़ी हुई है। शकर के समान उन्होंने अद्वैतवाद के निवृत्तिमूलक धर्म का प्रचार न कर सघर्षपूर्ण साँसारिक विशिष्टा द्वैतवाद को अपनाया था *जिसमें निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का समन्वय था।* निवृत्ति और प्रवृत्ति के इस समन्वित स्वरूप द्वारा ही वे अपने व्यावहारिक आदर्शवाद को प्रतिष्ठा कर सके थे। इसी कारण तुलसी का जीवन दर्शन अधिकाश उत्तर भारत के पारिवारिक जीवन को गत तीन सौ वर्षों से अनुप्राणित करता आ रहा है। व्यवहार जगत में अच्छाई बुराई दोनों साथ मिलती हैं। तुलसी के राम के साथ रावण और सीता के साथ मन्थरा है। अच्छाई बुराई से परिपूर्ण जीवन की यह वास्तविकता तुलसी कभी नहीं भूले थे। किन्तु साथ

ही क्षणमात्र के लिए वे इस बात को भी नहीं भूले थे कि साधुतावादी को किसका पक्ष लेना चाहिए। इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करता हुआ तुलसी का व्यावहारिक आदर्शवाद स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति, व्यष्टि और समष्टि सम्बन्धी व्यवधानों को दूर कर हमें अन्तर्साम्य, समरसता और सहजता का उपदेश देता है। इसमें व्यवहार जगत की सम्पूर्ण विषमताओं का शमन हो जाता है। व्यवहार जगत में विष के शत्-शत् घूँट पीकर भी तुलसी ने भक्ति और प्रेम की जन कल्याणकारी सुधा से 'मानस' को आप्लावित कर दिया था।

तुलसी का दृष्टिकोण मानवतावादी है। उसमें 'सत्य शिव सुन्दरम्' का स्वरूप साकार हो उठा है। उसके मूल में तुलसी की लोक संग्रह की भावना कार्य कर रही है। उनकी ईशोपासना मानवतावाद के आसन पर ही सिद्ध हुई है। सूर इस लोक संग्रह की भावना के अभाव के कारण व्यवहार जगत से उदासीन रहे। तत्कालीन पद-दलित, विजित दीन हीन हिन्दू समाज को जन-नायक धनुषधारी राम की कथा सुनाकर तुलसी ने जिस व्यावहारिक आदर्शवाद का प्रतिपादन किया वह मुरलीधर कृष्ण के उपासक सूर के लिए दर्शन-दुर्लभ था। राम ने बाप के राज्य को 'बटाऊ' की भाँति त्यागकर अशिक्षित जनों के सहयोग से रावण जैसे शोषक अत्याचारी का वध किया था। राम वर्ग स्वार्थों से मुक्त थे। वे त्याग की मूर्ति थे। इसी से वे जनता के आदर्श बन सके।

मानस की धर्मभूमि विश्वधर्म पर आधारित है। मानव के कर्मक्षेत्र के विस्तार के अनुरूप ही ब्रह्म की व्यापक सत्ता का अनुभव होता है जिसकी चरम परिणति विश्व बन्धुत्व की भावना में है। मानस में इसी कारण व्यापक विश्व धर्म के लिए सीमित गृहधर्म का भरत द्वारा उल्लघन कराया गया है क्योंकि व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की अवहेलना के लिए परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लघन असंगत नहीं माना जाता। इसी कारण सकुचित गृहधर्म की तुलना में विभीषण ने व्यापक लोकधर्म का पक्ष ग्रहण कर अपने अत्याचारी भाई का नाश कराया था। इसके लिए शक्ति, शील और सौंदर्य समन्वित आदर्श की स्थापना होनी चाहिए। तुलसी ने राम के रूप में यही आदर्श उपस्थित कर लोक को जन कल्याण का मार्ग दिखाया था। ऐसा आदर्श उपस्थित करने में तुलसी इस कारण और भी अधिक समर्थ हो सके कि उन्होंने कला से अधिक कला के विषय की ओर कला के विषय से अधिक लोक-मगल की भावना को प्रश्रय दिया था। यदि वे ऐसा न करते तो उनका 'मानस'

भी केशव की 'रामचन्द्रिका' बनकर रह जाता। तुलसी जग-जीवन के कट्टर समर्थक और शोषकों के विरोधी थे। निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है—

"तुलसी जगजीवन अहित, कतहुँ कोउ हित जानि।
सोषक भानु कृसानि महि, पवन एक घन दानि॥"

जगजीवन के इस अमर कलाकार की इसी भावना को देखकर तरुण कवि वीरेन्द्र मिश्र मुक्तकण्ठ से पुकार उठा है—

"गीत तुलसी ने लिखे तो आरती सबकी उतारी।
राम का तो नाम है, गाथा-कहानी है हमारी॥"

हमारी इस गाथा कहानी के अमर गायक तुलसी को यदि कोई प्रतिक्रियावादी कहे तो इसमें उसका स्वय का मति-भ्रम ही प्रकाशित होता है। तुलसी के लोकनायकत्व पर कोई आँच नहीं आती। तुलसी की प्रतिक्रियावादिता (?) का दूसरा प्रमाण उनकी नारी भावना है। 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' वाली पक्ति को लेकर तुलसी को नारी-विरोधी कहा जाता है। आलोचक इस पक्ति को तो देख लेते हैं परन्तु उन पक्तियों को नहीं देख पाते जिनमे नारी के प्रति तुलसी का हृदय द्रवित हो आठ-आठ आँसू रो उठा है। नारी की पराधीनता को देखकर कवि कह उठा है—

"कत विधि रची नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥"

तुलसी की दृष्टि में पुरुष और नारी का मूल्य समान है। उनके रामराज्य में दोनों के लिए एक ही नियम है—

"एक नारि व्रतरत सब भारी।
ते मन बच क्रम पति हितकारी॥"

इस तरह पुरुष के विशेषाधिकारों को अमान्य करते हुए उन्होंने दोनों को समानरूप से एक ही व्रत पालने का आदेश दिया था। राम इसके प्रतीक हैं।

तुलसी पर दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि वे ब्राह्मण धर्म के कट्टर समर्थक और वर्णाश्रम धर्म के प्रतिपादक थे। किन्तु देखना यह है कि इस क्षेत्र में उनकी दृष्टि उदार थी या अन्य पुराण-पंथियों के समान सकीर्ण। ब्राह्मणों ने, जो पुरोहितवर्ग था, उपासना, मुक्ति, वेदाध्ययन, भक्ति आदि का द्वार अछूतों एव विधर्मियों के लिए बन्द कर रखा था। तुलसी ने उन सबके लिए उस द्वार को खोल दिया। तुलसी की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती। जो 'अति अघरूप' समझे जाते हैं, उन "आभीर, जवन, किरात, खस स्वपचादि" के लिए भी उनका कहना है

कि वे राम का नाम लेकर पवित्र हो सकते हैं। यह उनकी जनवादी भक्ति का स्वरूप है। प्रमाण द्रष्टव्य है—

"सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन रघुनाथ ?
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुनगाथ ॥

यह तुलसी का उदारतावादी ब्राह्मण धर्म था। जहाँ तक वर्णाश्रम धर्म का सम्बन्ध है वहाँ तुलसी अपने युग की सीमाओं से बँधे हुए थे। उनके राम वर्ण व्यवस्था के हामी होते हुए भी नीच कही जाने वाली जातियों के साथ इस तरह का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हैं जिससे उनके हृदय की शुद्धता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। शबरी के बेर खाना ऐसा ही प्रसग है। राम ही क्यों भरत और मुनि वशिष्ठ तक निषादराज के साथ इस तरह का व्यवहार करते हैं जो वर्ण-व्यवस्था के पृष्ठ पोषक को आश्चर्य में डाल देता है। ये प्रसंग वर्ण व्यवस्था की कट्टरता की धज्जी उड़ाने के लिए यथेष्ठ हैं। तुलसी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उदारतावादी थे। उन पर संकीर्णता का आरोप करना या खींच-तान कर उनमें संकीर्णता खोज निकालना पक्षपात रहित नहीं है।

तुलसी का 'रामराज्य' महात्मा गांधी के रामराज्य का प्रेरक है। गांधी स्वराज्य का स्वरूप 'रामराज्य' बताया करते थे। तुलसी के रामराज्य का आदर्श वह था जिसमें—

"दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहू नहिं व्यापा ॥
बैर न करहिं काहु सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥

तुलसी ने ऐसे 'रामराज्य' की कल्पना क्यों की ? इसके मूल में तत्कालीन समाज की दुरवस्था थी। इसी कारण उन्होंने अनाचारी शासकों की भर्त्सना करते हुए कहा था कि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥" डाक्टर रामविलास शर्मा के शब्दों में—"उत्तर काण्ड में एक ओर रामराज्य की कल्पना, दूसरी ओर कलियुग की यथार्थता द्वारा तुलसीदास ने अपने आदर्श के साथ वास्तविक परिस्थिति का चित्रण कर दिया है। किसी भी दूसरे कवि के चित्रों में ऐसी तीव्र विषमता नहीं है। किसी के चित्रण में यह 'कन्ट्रास्ट' नहीं मिलता।" तुलसी के रामराज्य में धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, जाति विरोध आदि के कारण किसी को भी क्षति नहीं उठानी पड़ी।

"तुलसी का संपूर्ण काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है।" उन्होंने लोक और

शास्त्र का समन्वय; भाषा और संस्कृत का समन्वय; भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय; गार्हस्थ और वैष्णव का समन्वय; निर्गुण और सगुण का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय; प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय; आदर्श और व्यवहार का समन्वय; विभिन्न काव्यप्रणालियों का समन्वय आदि विभिन्न विरोधी तत्वों के समन्वय द्वारा उनकी विषमताओं का निराकरण कर एक स्वस्थ नवीन और स्फूर्तिदायक समानता का आदर्श उपस्थित किया। राम के शक्ति, शील, सौंदर्य समन्वित चित्रण के रूप में उपर्युक्त सभी समन्वयों का उपयोग कर उन्होंने राम के लोक संग्रही रूप का अत्यन्त मार्मिक और कलापूर्ण चित्र उपस्थित किया। उस काल के हिंदू धर्म में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित थीं। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में घोर वैमनस्य था। उन्होंने राम और शिव की एकता स्थापित कर इस विरोध को मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उन्होंने बुराई से भी समझौता करने का प्रयत्न किया था। वे शाक्तों के विरोधी थे। इसी कारण उनके लिए "वैष्णव की छपरी भली भलो न साक्त को बड़ गाँव" था। क्योंकि शाक्तों की रीति-नीतियों को वे समाज के लिए घातक समझते थे। इसी से उन्होंने सीता में आदि शक्ति का रूप प्रतिष्ठित कर शाक्तों का भी सत्कार करने का प्रयत्न किया। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों का यह समन्वय उनके काव्य में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। इसी प्रकार उनके काव्य में अद्वैत, द्वैत और पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों का भी समन्वय हुआ है। भक्त के लिए उन्होंने भगवत कृपा को ही प्रधान माना है। वे ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक रूप में कोई उपयोगिता स्वीकार नहीं करते परन्तु समय की परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही प्रधान माना है क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञान की उपादेयता क्षीण हो चली थी। जन साधारण का मानसिक स्तर उसे समझने में असमर्थ था।

तुलसी की दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण थी। वे समाज के सजग प्रहरी थे। उन्हें लोकहित का पूर्ण ध्यान था। उनका मत था कि जब तक लोकमर्यादा का पालन नहीं होगा तब तक जन कल्याण असम्भव है। मर्यादा के अभाव में समाज में व्यवस्था उत्पन्न होना आकाश-कुसुम के समान है। इसी कारण तुलसी काव्य में ऐसी एक भी पंक्ति नहीं मिलेगी जिसमें मर्यादा का उल्लंघन हो। उनके राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। फिर मर्यादा का उल्लघन कैसा? उन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों का ऐसा संतुलित और मर्यादित वर्णन किया है कि सहसा इस मनीषी कवि की प्रतिभा पर साधारण बुद्धि अविश्वास कर

उठती है। हिंदी साहित्य की यह निधि शाश्वत रहेगी। राम पूर्ण मानव हैं। मानव के सुख-दुख, राग-विराग की सम्पूर्ण भावनाएँ उनमें हैं। राम के रूप में युग ने जनता का पूर्ण रूप देखा। उनमें अपने आदर्शों का पूर्ण प्रतिबिंब देखकर लोक ने ललक कर उन्हें अपना लिया। मानस के पारस्परिक मानवीय सम्बन्ध एवं चित्रकूट की सभा में वर्णित विभिन्न प्रकार की नीतियाँ अब तक हमारा मार्ग प्रदर्शन करती आ रही हैं। यह तुलसी की ही विराट कल्पना का परिणाम था।

तुलसी ने कबीर आदि की हठधर्मी के स्थान पर सहिष्णुता का सम्बल ग्रहण किया था। उन्होंने जहाँ उश्रृङ्खलता देखी वहाँ समाज की व्यवस्था पर प्रहार भी किया परन्तु उस प्रहार में कबीर की सी निर्ममता और विध्वंसक भावना न होकर एक निर्माणकारी और कल्याणमयी भावना थी। इसका कारण तुलसी चरित्र की सौम्यता थी। समन्वय का आधार सौम्यता मानी जाती है। बुद्ध, ईसा, गाँधी आदि सभी महापुरुषों का चरित्र सौम्य था। इसी सौम्यता के कारण तुलसी के खण्डन में कटुता के स्थान पर मिठास अधिक है। उन्होंने सन्तों के साथ असन्तों की भी वन्दना की है—"बन्दौं संत असज्जन चरना।" वे मर्यादा के कट्टर समर्थक हैं। वेद, पुराण, शास्त्र, मूर्तिपूजा, तीर्थ, वर्णव्यवस्था, लोकमत आदि का उन्होंने पूर्ण समर्थन किया है। परन्तु इस समर्थन में भी साम्प्रदायिक कट्टरता न होकर एक विशाल मानवीय उदारता है। उनके खण्डन में उग्रता न होने का प्रधान कारण यह रहा है कि वे विध्वंसक क्रान्ति में विश्वास न कर निर्माणक परिवर्तन में आस्था रखते थे। इसी कारण धर्म प्राण हिंदू समाज में उन्हें सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

भाषा और काव्य शास्त्र के क्षेत्र में भी इस युग पुरुष ने समन्वय किया था। भाषा और भावों पर उनका पूर्ण अधिकार था। उन्होंने अपने समय में प्रचलित दोनों साहित्यिक भाषाओं—ब्रज और अवधी को समान भाव से अपनाया। दोनों पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे परन्तु लोकहित की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने इन जन-भाषाओं को ही अपने साहित्य का माध्यम बनाया जिसके कारण उन्हें पंडितों का कोपभाजन बनना पड़ा था। प्रतिपादन में वे अमर हो गये। भाषा के अतिरिक्त पिंगल शास्त्र के सभी नियमों का उन्होंने पूर्ण पालन किया था। इसी कारण आलोचक गण शुद्ध साहित्य की दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य में 'मानस' का स्थान अत्यन्त उच्च मानते हैं। भाषा और पिंगल शास्त्र के साथ ही उन्होंने अपनी समकालीन एवं पूर्व प्रचलित समस्त काव्य पद्धतियों, कवि समयों, प्रतीकों

आदि का सफलतापूर्वक उपयोग किया। चंद के छप्पय, कुण्डलियाँ, कबीर के दोहे और पद, सूर और विद्यापति की गीति पद्धति, ईश्वरदास, जायसी के दोहा चौपाई पद्धति, रहीम की बरवै पद्धति, गंग आदि की सवैया, कवित्त पद्धति एवं मङ्गल काव्यों की मङ्गल पद्धति का उन्होंने अपने काव्य निर्माण में उपयोग किया। उन दिनों पूर्वी भारत में अनेक प्रकार के मङ्गल काव्य प्रचलित थे। बंगला में इनकी प्रचुरता है। पर हिंदी में केवल कबीर के नाम प चलने वाले और बाद के बने हुये आदि मङ्गल, अनादि मङ्गल, अगाध मङ्गल आदि रचनाएँ मिलती हैं जो केवल इस बात के सबूत के रूप में बची रा गई हैं कि किसी समय मध्यप्रदेश में भी इन मङ्गल काव्यों की बड़ी भार परम्परा व्याप्त थी। मङ्गल काव्य, विवाह काव्य और सृष्टि-प्रतिक्रिया स्याप्त ग्रन्थ हैं। नन्ददास का एक रुकमणी मङ्गल मिलता है और चन्द के रासो में सयोगिता को पत्नी धर्म की शिक्षा देने के लिये विनय मङ्गल नामक एक अध्याय है, जो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस शैली पर तुलसी ने पार्वती मङ्गल और जानकी मगल नाम के दो काव्य लिखे थे। साथ ही तत्कालीन जनता में प्रचलित सोहर, नहछू गीत, चाँचर वेली, बसन्त आदि रागों में भी उन्होंने रामकाव्य लिखा था। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित गी पद्धति से लेकर शिक्षित जनता मे प्रचलित काव्य रूपों को उन्होंने समा हृदय से अपनाया था। यह उनकी अद्‌भुत काव्य प्रतिभा का तथा उन्हें यु का प्रतिनिधि एव सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने का ज्वलन्त प्रमाण है।

इतनी विषमताओं में साम्य स्थापित करने वाला पुरुष यदि लोकनाय नहीं होगा तो और कौन होगा! तुलसी ने बुद्ध, कबीर, चैतन्य आदि भाति कोई मत नहीं चलाया पर हिंदुत्व के क्षेत्र में आज तुलसी का को प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। तुलसी कवि, भक्त, पंडित, सुधारक, लोकनायक औ भविष्य स्रष्टा थे। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में समता की रक्षा करते हुए ऐ काव्य का सृजन किया जो अब तक उत्तर भारत का पथ-प्रदर्शक रहा है इसका कारण यह है कि महान् साहित्य सदैव अपने सामने एक महान् लक्ष लेकर चलता है जिसके प्रति क्रियाशील रहने की भावना को वह अपने पाठक के हृदय में सचेत रूप से जगाया करता है। रामचरितमानस में यह गुण विशेष रूप से विकसित हुआ जिसने विवेक और अनुराग, शास्त्र और समा ज्ञान और क्रिया के बीच एक दृढ समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की।

तुलसी की इसी महान प्रतिभा से प्रभावित होकर प्रसिद्ध आलोच प्रकाशचन्द्र गुप्त तुलसी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये लिखते हैं—

"तुलसी की दृष्टि व्यापक और सार्वभौमिक थी। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण स्वस्थ और जनवादी था। दृष्टि का यह व्यापक प्रसार हमें विश्व के दो ही चार लेखकों या कवियों में मिलता है। जीवन के रंग विरंगे चित्र विचित्रित रूप को उन्होंने उसकी समग्र व्यापकता में देखा, हर्ष, विषाद, उल्लास-विलास, जय-पराजय के क्षण उनके काव्य में हम चिरकाल तक सुरक्षित पाएँगे। मनुष्य का, प्रकृति का, समाज का व्यापक दर्शन तुलसी साहित्य में पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुआ है। जो विशाल चित्रपट तुलसी ने हमें दिया है, उसके पीछे हम कवि की मूलत जनवादी दृष्टि ही पाते हैं।" तुलसी की इसी महानता का उद्घाटन करते हुये स्वर्गीय रत्नाकर जी ने अपने एक छप्पय में उन्हें देवताओं के समकक्ष ठहराया है—

"कविता सृष्टि उदार चारु-रचना विरचिवर।
भक्तिभाव प्रतिपाल विस्नु मद मोट आदि हर॥
बोध विबुध विबुधेस, सेस ध्रुव धर्म धराधर।
सब्द सिंधु सुभ बरुन, अर्थ धन धान्य धनाकर॥
भ्रम विटप प्रभंजन कुमति वन, अगिन तेज रवि सुजस ससि।
मुनि तुलसीदास सब देवमय, प्रनवत 'रत्नाकर' हुलसि॥"

५

६— तुलसी की भक्ति-भावना

(प्रो० भारतभूषण सरोज एम० ए०)

श्रीरामतत्त्वज्ञ-चूड़ामणि पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे आदर्श भक्त और त्यागी महात्मा जब इस संसार में अवतरित हुए तब संसार सागर के दोनों छोरों पर निराशा का निबिड़ अंधकार छाया हुआ था और जनता तमोमयी रात्रि में इधर-उधर भटक रही थी। वह श्रम श्रान्त पथिक की भाँति किसी अवलम्बन की खोज में थी परन्तु भाग्य चक्र की गति विपरीत दिखाई दे रही थी। धार्मिक राजनीतिक आदि आन्दोलनों की द्वेषमयी आंधी उसके नेत्रों में धूल झोंक कर उसे भटकती निशा के अज्ञात पथ पर धकेल कर स्व स्वार्थ के निमित्त उसकी प्राणवायु का निगरण करना ही चाहती थी कि भव-सागर के दूसरे छोर पर आशा की एक ज्योति दिखाई दी और धीरे धीरे तुलसी शशि का जीवन-गगन में उदय हुआ। देश के जीवन का अंधकार और द्वेष की अग्नि इसके शीतल प्रकाश से शान्त होने लगी और इस विश्व वरेण्य सतकवि गोस्वामी तुलसीदास ने विश्रान्त संसार पथिक के लिए राम रसायन की अमर धारा प्रवाहित की, जिसको पीकर जनता आज तक आभारी है और युग-युग तक रहेगी। उन्होंने भक्त भ्रमरों के लिए भाव कलिकाओं द्वारा भक्ति पराग को निःसृत किया, जिसका पान कर जनता आज तक अपने सौभाग्य क्षणों की प्रशंसा करती है। उन्होंने अपने साहित्य के मथन द्वारा रामचरित चिन्तामणि का पुनरुद्धार किया और रामत्व का मन्त्र दिया। भक्ति भावना के लिये जिस व्यक्तिगत ईश्वर की आवश्यकता थी, तुलसी ने उसे दाशरथि राम में पा लिया था। 'जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि' कह कर तुलसी ने इसी भाव को प्रकट किया है कि राम सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हैं। वे घट-घट वासी हैं। वस्तुतः गोस्वामी जी रामानुजाचार्य की परम्परा में श्रीरामानन्द के सिद्धान्तानुयायी थे, जिन्होंने कबीर को राम नाम का मंत्र दिया था और जिसके आधार पर कबीर ने निर्गुण सगुण से परे अपने राम की कल्पना की थी। तुलसी के राम भी 'विधि हरि शम्भु नचावन हारा' और दशरथ सुत होकर भी परब्रह्म हैं। तुलसी के राम भी ब्रह

हैं, वे भी सूरदास की भाँति "अवगति गति कछु कहत न आवै" सिद्धान्त के पोषक हैं यद्यपि उनकी दृष्टि में निर्गुण और सगुण ब्रह्म एक ही हैं, निर्गुण ब्रह्म ही भक्त के प्रेम के कारण 'सगुण' हो जाता है—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा । गावहि मुनि पुरान बुध वेदा ।
अगुन अरूप अलख अज होई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे ।

किन्तु निर्गुण ज्ञान साध्य होने के कारण सर्वसुलभ नहीं हैं । उसके पथ में कटकों का जाल बिछा है जो जीव के आगे बढने में बाधक रहता है परतु सगुण भक्ति आशु फलदायिनी है । उसका मार्ग सरल सुगम और सुबोध है । भक्ति स्वतन्त्र और निरपेक्ष है । ज्ञान और विज्ञान इसके अधीन हैं । भक्ति से ज्ञान की सृष्टि होती है और ज्ञान प्राप्त होने पर भी भक्ति की स्थिति रहती है । दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं । परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि भक्ति स्त्री है और ज्ञान पुरुष है । ज्ञान, विराग, योग और विज्ञान पुरुष रूप हैं, क्योंकि ये स्वावलम्बी हैं और इसीलिए पुरुष प्रधान है । भक्ति नारी है और माया भी स्त्री रूपिणी है । पुरुष नारी पर मुग्ध होता है और नारी उसे मोहित कर मुग्धता के पाश में बाँध देती है । नारी नारी पर मुग्ध नहीं होती और न ही नारी नारी को मोहित कर सकती है । अतः ज्ञान, विराग आदि साधन माया विमुग्ध हो सकते हैं, पर भक्ति पर माया अपना प्रभाव नहीं डाल सकती । अतः रामभक्ति के बिना निर्वाण की प्राप्ति असम्भव है । जीवन के क्लेश रामभक्ति के बिना उसी प्रकार नहीं मिट सकते जिस प्रकार बिना सूर्य के तम का विनाश नहीं होता । जिस प्रकार सूर्योदय होने से संसार भर के अधकार का नाश हो जाता है उसी प्रकार हृदय गुफा में 'राम नाम' का उदय होने मात्र से ही अज्ञान और मोह का अन्धकार मिट जाता है । अग्नि जिस प्रकार सृष्टि के समस्त पचभौतिक पदार्थों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार रामनाम समस्त शुभाशुभ कर्मों को भस्म कर देता है । 'नाम' के उदय होते ही हृदय के समग्र ताप-सताप का निवारण हो जाता है और 'जिय जरनि' शात हो जाती है । समस्त साधनों के परिणाम स्वरूप राम भक्ति के बिना वास्तविक क्षेम किसी को प्राप्य नहीं । मोक्ष भी रामभक्ति के बिना उसी प्रकार नहीं टिक सकता जिस प्रकार जल बिना भूमि के नहीं टिकता । उसको किसी आधार की आवश्यकता रहती है ।

जिम बिन थल जल रहि न सकाई । कोटि भाँति कोई करै उपाई ॥
तथा मोच्छ सुख सुनि खगराई । रहि न सकइ हरि भक्ति बिहाई ॥

और फिर इस कलिकाल में तो सद्गति का एक ही साधन है, वह है राममक्ति। इसलिये इस मानव शरीर को जोकि समस्त साधनों का साधन है पाकर भी जो हरि भक्ति नहीं करते, और विषयों में आसक्ति रखते हैं, वे अपनी जीवन निधि को उसी प्रकार व्यर्थ में गँवाते हैं जिस प्रकार कोई काँच के बदले में स्पर्शमणि गँवाता है। इसीलिए तो तुलसी ने समस्त संसार को सियाराममय जानकर उनको प्रणाम किया है। और भक्ति को ही अपनाकर सेव्य सेवक भाव से राम नाम की महिमा का गान करते हुए उनकी याचना की है। वे अपने परम स्नेही को भी त्यागने का उपदेश देते हैं यदि उसको राम और वैदेही प्रिय न हो—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो छाँड़िये कोटि वैरी सम जदपि परम स्नेही ॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बंधु, भरत महतारी ॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो ॥
जासो होय सनेह रामपद, ऐसो मतो हमारो ॥

इसीलिये वे सभी के पास रामभक्त होकर गए हैं। उन्होंने शिव, पार्वती विष्णु आदि अन्य देवी देवताओं की स्तुति भी की है, परन्तु सभी से सानुरोध और दीनता पूर्वक भगवत् कृपा की याचना की है।

कबहुँक अम्ब अवसर पाई,
मेरिऔ सुधि द्यायबी कछु करुण कथा चलाई।

यहाँ इन्होंने भवभूति के स्वर में स्वर मिलाकर करुण रस का प्राधान्य स्वीकार किया है। भला तुलसीदास इसके अतिरिक्त और माँग ही क्या सकते थे? उनकी तो 'सावन के अन्धहि ज्यों सूझत रंग हरौ' जैसे गति थी। इस अनन्य भक्ति के कारण ही सच्चे भक्त के समान उनके हृदय में अनेक प्रकार की भक्ति से आप्लावित भावनाएँ प्रस्फुटित हो गईं जिनमें दैन्य, आशा, आत्म समर्पण, आत्म ग्लानि, अनुताप और आत्म निवेदन की भावनाएँ प्रमुख रूप से निःसृत हुईं। अपने विगत जीवन पर दृष्टिपात करने से उन्हें जो अनुताप होता है उसे वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"जन्म गयो बादहि बर बीति
परमार्थ पाले न पर्यो कछु अनुदिन अधिक अनीति ॥"

ऐसी स्थिति में भगवान के अतिरिक्त उन्हें कोई और सहायक दिखाई नहीं देता। भगवान की अनुकम्पा पर दृढ़ विश्वास होने के कारण ये आत्म समर्पण करते हैं। उनको विश्वास है कि प्रभु क्षणमात्र में ही सारी कलुष

कालिमा को धो डालेंगे, क्योंकि उन्होंने जटायु, अहिल्या, अजामिल आदि राक्षसों को भी मुक्त कर दिया था। इसीलिये कवि विनती करता है—

"काहे ते हरि मोहि बिसारो।
जानत निज महिमा मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो॥"

इतनी विनती करते हुए कवि का गला रुँध आता है तथा अश्रुधारा स्रवित होने लगती है। स्वामी के शील, शक्ति और सौन्दर्य की ओर कवि का मन आकृष्ट हुआ, जिससे पश्चाताप, लज्जा, विश्वास तथा मंगलाशा में डुबकियाँ लगाने लगा। कितना उच्च आदर्श है कवि की वाणी में। कितने उच्च विचार, त्यागमयी भावनाएँ और आत्म बलिदान की शक्ति कवि के मानस क्षेत्र से प्रस्फुटित हुई हैं। अस्तु कवि का कहना है कि बिना भगवत्प्रकाश के उसका पाना सर्वथा असम्भव है। राम नाम की महिमा का गान करते हुए, दीनता, दुर्बलता, दैन्य आदि स्वीकार करने पर ही और मन के विकारों को त्यागने पर ही राम की भक्ति रूपी पवित्र गंगा की धारा में डुबकियाँ लगा सकते हैं। इसी कारण उन्होंने रामनाम की महिमा का गान किया है। गूंगा जिस प्रकार गुड़ के स्वाद को व्यक्त नहीं कर सकता, उसके रस का भीतर ही भीतर रसास्वादन करता रहता है उसी प्रकार तुलसी राम नाम गाते हैं, फिर भी गा नहीं पाते। यह तो स्वसंवेद्य रस है, रस पान करने की वस्तु है। गोस्वामी जी के लिये तो यह नाम ही 'माइ बाप गुरु स्वामी' सब कुछ है और 'तप, तीरथ मख दान नेम उपवास' आदि सभी से बढ़कर है। इस नाम-मणि प्रकाश से ही अन्तर बाहर एक अपूर्व ज्योति जगमगा उठेगी—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौ चाहसि उजिआर।

राम का नाम मात्र लेने से अधमाधम भी मुक्ति पा लेता है। राम नाम लेने से ही भव-सागर गोपद के समान हो जाता है। इतना ही नहीं 'नाम लेत भव-सिंधु सुखाहिं' और फिर उसे तैरना नहीं पड़ता। इस कराल कलिकाल में तो 'नाम' कल्पवृक्ष के समान है, जो स्मरण करते ही कलियुग के दुःख द्वन्द्व को नाश कर देता है। इस युग में न कर्म है न भक्ति और न ज्ञान ही है एक मात्र नाम ही सबका आधार है। नाम की साधना के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने कहा है—

पय अन्हाइ फल खाइ जपु राम नाम षट मास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥

पयस्विनी नदी में स्नान करके और फलाहार करके छः महीने र
का जाप करने से सब मङ्गल और सभी सिद्धियाँ वशीभूत हो जा
तुलसी के अनुसार 'रा' और 'म' ये दो मधुर और कोमल कान्त शब्द
के हृदयकमल पर मंडराने वाले भ्रमर हैं, भक्तिरूपिणी सुन्दर स्त्री के
के लोलित कर्णफूल हैं और जगत् के हित के लिये चन्द्रमा और सूर्य
इस प्रकार तुलसी की शुभ्र भक्त हृदय आत्मा राम के प्रति अनन्य प्रेम
विश्वास में प्रतिबिम्बित होती है। वे राम के आदर्श भक्त और अ
सेवक हैं। उन्होंने राम की भक्ति को सेवक सेव्य भाव में स्वीकार किया
यदि राम स्वामी हैं तो तुलसी गुलाम और दास हैं।

तू दयाल हौं दीन, तू दानि हौं भिखारी
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंजहारी।

उनके अनुसार 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' यही से
सेवक भाव उनकी भक्ति-साधना की प्रधान विशेषता है। तभी तो वे कहते हैं

"सो अनन्य जाके असि, मति न टरे हनुमन्ता।
मैं सेवक सचराचर, रूप राशि भगवन्ता॥"

यही उनकी भक्ति-साधना का क्रियात्मक रूप है जो उन्होंने अपने हृदय
के उद्वेगों को शान्त करने के निमित्त स्वान्तः सुखाय रूप में रचा है। परन्तु
भक्ति का यह रूप और तत्संबन्धी ग्रन्थ भी स्वान्तः सुखाय होने के साथ-
साथ 'अपर सुखाय' भी हो गया है। तुलसी ने अपने इष्टदेव में शील शक्ति
और सौंदर्य का समन्वय किया है। वे राजा होने के साथ-साथ भगवान हैं।
समस्त सृष्टि त्रिगुणमयी है और समय समय पर जीव सत्व, रज और तम की
ओर आकृष्ट होता है। जीव त्रिगुण की ओर आकृष्ट होता है अतः त्रिगु-
णात्मक इष्टदेव भक्त को अधिक आकर्षित कर सकते हैं। इसी अभिप्राय से
तुलसी ने त्रिगुणात्मक स्वरूप की कल्पना की। रज का प्रतीक सौन्दर्य, तम का
प्रभाव शक्ति और सत्व का प्रतीक शील है। इस प्रकार तुलसी के इष्टदेव
इन लोकोत्तर गुणों से युक्त हैं। राम सुन्दरता के भी अलौकिक रूप हैं।
मानों तीनों का सौंदर्य बटोरकर उनके वर-वदन पर उँडेल दिया गया हो।
राम-लक्ष्मण की सुन्दरता के रूप में त्रिभुवन की सुन्दरता ने ही दो रूप
धारण कर लिये हों—

"मनु मूरति धरि उभय भागभइ त्रिभुवन सुन्दरताई।"

उदारता, शील और शरणागत वत्सलता राम के प्रधान गुण हैं जिन
पर समस्त भक्त-समाज निछावर है। तुलसी भी राम की कृपा

पयस्विनी नदी में स्नान करके और फलाहार करके छः महीने राम नाम का जाप करने से सब मङ्गल और सभी सिद्धियाँ वशीभूत हो जाती हैं। तुलसी के अनुसार 'रा' और 'म' ये दो मधुर और कोमल कान्त शब्द भक्तों के हृदयकमल पर मंडराने वाले भ्रमर हैं, भक्तिरूपिणी सुन्दर स्त्री के कानों के लोलित कर्णफूल हैं और जगत् के हित के लिये चन्द्रमा और सूर्य हैं। इस प्रकार तुलसी की शुभ्र भक्त हृदय आत्मा राम के प्रति अनन्य प्रेम और विश्वास म प्रतिबिम्बित होती है। वे राम के आदर्श भक्त और अनन्य सेवक हैं। उन्होंने राम की भक्ति को सेवक सेव्य भाव में स्वीकार किया है। यदि राम स्वामी हैं तो तुलसी गुलाम और दास हैं।

तू दयाल हो दीन, तू दानि हों भिखारी
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुञ्जहारी।

उनके अनुसार 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' यही सेव्य सेवक भाव उनकी भक्ति-साधना की प्रधान विशेषता है। तभी तो वे कहते हैं–

"सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमन्ता।
मैं सेवक सचराचर, रूप रासि भगवन्ता॥"

यही उनकी भक्ति-साधना का क्रियात्मक रूप है जो उन्होंने अपने हृदय के उद्वेगों को शान्त करने के निमित्त स्वान्तः सुखाय रूप मे रचा है। परन्तु भक्ति का यह रूप और तत्सबन्धी ग्रन्थ भी स्वान्तः सुखाय होने के साथ-साथ 'अपर सुखाय' भी हो गया है। तुलसी ने अपने इष्टदेव में शील शक्ति और सौंदर्य का समन्वय किया है। वे राजा होने के साथ-साथ भगवान हैं। समस्त सृष्टि त्रिगुणमयी है और समय समय पर जीव सत्व, रज और तम की ओर आकृष्ट होता है। जीव त्रिगुण की ओर आकृष्ट होता है अत त्रिगुणात्मक इष्टदेव भक्त को अधिक आकर्षित कर सकते हैं। इसी अभिप्राय से तुलसी ने त्रिगुणात्मक स्वरूप की कल्पना की। रज का प्रतीक सौन्दर्य, तम का प्रभाव शक्ति और सत्य का प्रतीक शील है। इस प्रकार तुलसी के इष्टदेव इन लोकोत्तर गुणों से युक्त हैं। राम सुन्दरता के भी अलौकिक रूप हैं। मानों तीनों का सौंदर्य बटोरकर उनके वर-बदन पर उँडेल दिया गया हो। राम-लक्ष्मण की सुन्दरता के रूप में त्रिभुवन की सुन्दरता ने ही दो रूप धारण कर लिये हों—

"मनु मूरति धरि उभय भागमइ त्रिभुवन सुन्दरताई।"

उदारता, शील और शरणागत वत्सलता राम के प्रधान गुण हैं जिन पर समस्त भक्त-समाज निछावर है। तुलसी भी राम की कृपा पाकर मोद

की आकाँक्षा नहीं करते वरन् 'दृढ़ भक्ति' का वरदान और भक्ति भावना का उत्तरोत्तर विकास प्राप्त करना, यही उनकी दृढ़ मनोकामना है। उन्होंने अपने को पूर्णतः राम के अर्पित कर दिया है। यह आत्मसमर्पण इसलिए किया है कि भगवान दीननायक और भक्तवत्सल हैं। उनकी अनुकम्पा पर उन्हें दृढ़ विश्वास है कि पतित पावन होने के नाते वे उनका भी उद्धार करेंगे। राम की उदारता और भक्त-वत्सलता का ज्वलन्त उदाहरण इस बात का साक्षी है कि तुलसी की उनके प्रति कितनी असीम श्रद्धा और विश्वास था—

ऐसो को उदार जग माँही।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥
जो गति जोग विराग जतन करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥
जो सम्पत्ति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो सम्पदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं॥
तुलसीदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भज राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥

राम की भक्ति-मणि को प्राप्ति करने में अनेक आयोजन जुटाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वे तो आशुतोष हैं, प्रेम सहित किए गये नाम स्मरण मात्र से ही वे प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु फिर भी रामभक्ति के चरम पद पर पहुँचने के लिये क्रमिक विकास का आश्रय लेना पड़ता है। राम ने शबरी को नवधाभक्ति का उपदेश दिया था। सीतान्वेषण करते हुये श्री राम जब शबरी के यहाँ आतिथ्य ग्रहण करने के लिये उसके आश्रम में गये तो उन्होंने उसे नवधा भक्ति का उपदेश दिया जिससे गोस्वामी जी ने यह प्रदर्शित किया है कि भक्त अपना आत्मिक विकास कैसे कर सकता है।

श्रवण कीर्तन विष्णोः स्मरण पाद सेवनम्।
अर्चन, वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥

राम भक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से राम के चरित्र श्रवण, मनन तथा कीर्तन से होता है। राम के शील स्वभाव से परिचय प्राप्त करने से उनकी भक्ति तो अनायास ही प्राप्त हो जाती है। यह कथा-श्रवण भी सत्संगति से होता है—"बिनु सत सगन हरि कथा, तेहु बिनु द्रवहि न राम" इसी प्रकार अन्य स्मरण आदि सात भक्ति मन्दिर के द्वार हैं। जो भक्त श्रवण आदि के क्रमिक विकास से आत्म-निवेदन तक पहुँचता है वही सर्वश्रेष्ठ भक्त है। इस

पयस्विनी नदी में स्नान करके और फलाहार करके छः महीने राम नाम का जाप करने से सब मङ्गल और सभी सिद्धियाँ वशीभूत हो जाती हैं। तुलसी के अनुसार 'रा' और 'म' ये दो मधुर और कोमल कान्त शब्द भक्तों के हृदयकमल पर मंडराने वाले भ्रमर हैं, भक्तिरूपिणी सुन्दर स्त्री के कानों के लोलित कर्णफूल हैं और जगत् के हित के लिये चन्द्रमा और सूर्य हैं। इस प्रकार तुलसी की शुभ्र भक्त हृदय आत्मा राम के प्रति अनन्य प्रेम और विश्वास में प्रतिबिम्बित होती है। वे राम के आदर्श भक्त और अनन्य सेवक हैं। उन्होंने राम की भक्ति को सेवक सेव्य भाव में स्वीकार किया है। यदि राम स्वामी हैं तो तुलसी गुलाम और दास हैं।

तू दयाल हौं दीन, तू दानि हौं भिखारी
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंजहारी।

उनके अनुसार 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' यही सेव्य सेवक भाव उनकी भक्ति-साधना की प्रधान विशेषता है। तभी तो वे कहते हैं—

"सो अनन्य जाके असि, मति न टरे हनुमन्ता।
मैं सेवक सचराचर, रूप रासि भगवन्ता॥"

यही उनकी भक्ति-साधना का क्रियात्मक रूप है जो उन्होंने अपने हृदय के उद्वेगों को शान्त करने के निमित्त स्वान्तः सुखाय रूप में रचा है। परन्तु भक्ति का यह रूप और तत्सम्बन्धी ग्रन्थ भी स्वान्तः सुखाय होने के साथ-साथ 'अपर सुखाय' भी हो गया है। तुलसी ने अपने इष्टदेव में शील शक्ति और सौंदर्य का समन्वय किया है। वे राजा होने के साथ-साथ भगवान हैं। समस्त सृष्टि त्रिगुणमयी है और समय समय पर जीव सत्व, रज और तम की ओर आकृष्ट होता है। जीव त्रिगुण की ओर आकृष्ट होता है अतः त्रिगुणात्मक इष्टदेव भक्त को अधिक आकर्षित कर सकते हैं। इसी अभिप्राय से तुलसी ने त्रिगुणात्मक स्वरूप की कल्पना की। रज का प्रतीक सौन्दर्य, तम का प्रभाव शक्ति और सत्व का प्रतीक शील है। इस प्रकार तुलसी के इष्टदेव इन लोकोत्तर गुणों से युक्त हैं। राम सुन्दरता के भी अलौकिक रूप हैं। मानों तीनों का सौंदर्य बटोरकर उनके वर-वदन पर उँडेल दिया गया हो। राम-लक्ष्मण की सुन्दरता के रूप में त्रिभुवन की सुन्दरता ने ही दो रूप धारण कर लिये हों—

"मनु मूरति धरि उभय भागभइ त्रिभुवन सुन्दरताई।"

उदारता, शील और शरणागत वत्सलता राम के प्रधान गुण हैं जिन पर समस्त भक्त-समाज निछावर है। तुलसी भी राम की कृपा पाकर मोच

की आकाँक्षा नहीं करते वरन् 'दृढ़ भक्ति' का वरदान और भक्ति भावना का उत्तरोत्तर विकास प्राप्त करना, यही उनकी दृढ़ मनोकामना है। उन्होंने अपने को पूर्णतः राम के अर्पित कर दिया है। यह आत्मसमर्पण इसलिए किया है कि भगवान दीननायक और भक्तवत्सल हैं। उनकी अनुकम्पा पर उन्हें दृढ़ विश्वास है कि पतित पावन होने के नाते वे उनका भी उद्धार करेंगे। राम की उदारता और भक्त-वत्सलता का ज्वलन्त उदाहरण इस बात का साक्षी है कि तुलसी की उनके प्रति कितनी असीम श्रद्धा और विश्वास था—

ऐसो को उदार जग माँही।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥
जो गति जोग विराग जतन करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥
जो सम्पत्ति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो सम्पदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं॥
तुलसीदास सब भांति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भज राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥

राम की भक्ति-मणि को प्राप्ति करने में अनेक आयोजन जुटाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वे तो आशुतोष हैं, प्रेम सहित किए गये नाम स्मरण मात्र से ही वे प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु फिर भी रामभक्ति के चरम पद पर पहुँचने के लिये क्रमिक विकास का आश्रय लेना पड़ता है। राम ने शबरी को नवधाभक्ति का उपदेश दिया था। सीतान्वेषण करते हुये श्री राम जब शबरी के यहाँ आतिथ्य ग्रहण करने के लिये उसके आश्रम में गये तो उन्होंने उसे नवधा भक्ति का उपदेश दिया जिससे गोस्वामी जी ने यह प्रदर्शित किया है कि भक्त अपना आत्मिक विकास कैसे कर सकता है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं, वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

राम भक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से राम के चरित्र श्रवण, मनन तथा कीर्तन से होता है। राम के शील स्वभाव से परिचय प्राप्त करने से उनकी भक्ति तो अनायास ही प्राप्त हो जाती है। यह कथा-श्रवण भी सत्संगति से होता है—"बिनु सत संगन हरि कथा, तेहु बिनु द्रवहि न राम" इसी प्रकार अन्य स्मरण आदि सात भक्ति मन्दिर के द्वार हैं। जो भक्त श्रवण आदि के क्रमिक विकास से आत्म-निवेदन तक पहुँचता है वही सर्वश्रेष्ठ भक्त है। इस

विकास से प्रगतिशील भक्त भगवान का अन्य प्रेमी और सेवक होता है । वह अनन्य भाव से ही आत्म समर्पण करता है और उस अनन्त म लीन हो जाता है । यह विकास ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ने से ही सुसाध्य होता है । इस विकासोन्मुख भक्तिवाद को ही तुलसीदास जी ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है और व स्वय भी इसी प्रकार विकासोन्मुख रहे हैं । यह नवधा भक्ति भगवान के चरम पद पर पहुँचने का उत्तम साधन है और उत्तरोत्तर एक से दूसरी भक्ति प्रबल है । स्थूल से सूक्ष्म तक पहुँचने का यह सर्वोत्तम साधन है ।

तुलसीदास ने गुरु कृपा को भी विशिष्ट स्थान दिया है । उनका कहना है कि जिस प्रकार भगवत्कृपा तथा भागवत् कृपा उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये आवश्यक है, जिससे भव सागर पार हो जाता है उसी प्रकार गुरु कृपा भी आवश्यक है—

तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु विमल विवेक न होइ ।
बिनु विवेक ससार घोर निधि पार न पावै कोइ ॥

ब्राह्मण सेवा रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है । विप्र-द्रोह को गोस्वामी जी ने ग्रन्थों मे स्थान दिया है ।

विप्रद्रोह जनु बाँट परयो हठि सबसो बैर बढ़ावो ।
ताहू पर निज मति विलास सब सतन माँझ गनावो ॥

इस प्रकार तुलसीदास जी ने किसी नवीन मत का प्रादुर्भाव नहीं किया । सनातन हिन्दू धर्म के प्रचलित सिद्धान्तों का समन्वय करके अपने मत का स्पष्टीकरण किया है । उसम इतिहास, पुराण, वेद आदि की पृष्ठभूमि पर उन्हीं के द्वारा प्रसारित धर्म सिद्धान्तो को स्पष्टतम रूप म प्रस्तुत कर भक्ति के नाम स पुकारा है । इसके साथ साथ भक्ति म विवेक को भी पूर्ण स्थान दिया है । विवेक से ससार के स्वरूप का अर्थ तुलसी ने लिया है न कि ज्ञान मार्ग से । इस सम्बन्ध म जीव माया और ब्रह्म के विषय म अपने स्वतन्त्र विचारों को तुलसी में व्यक्त किया है । इस प्रकार तुलसी ने भक्ति रस से छलकते हुए 'मानस में समस्त भक्तों का अवगाहन कराया और समग्र लोक का आभ्यन्तर मल दूर हुआ और राम भक्ति का प्रसार हुआ । रामभक्ति के इस समन्वित लेप को जनता ने सरलता, सुबोधता और सुगमता से अपना लिया, जिससे देश की द्वेषमयी अग्नि शान्त हुई । इस सबका श्रेय मात्र भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी को है ।

७—तुलसी का काव्य सौन्दर्य

(डा० कमलेश)

तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी प्रतिभा, कल्पना और प्रकृति निरीक्षण तथा व्यावहारिक ज्ञान इतना उच्चकोटि का है कि हिन्दी का कोई दूसरा कवि उनको नहीं पा सकता। इसका कारण यह है कि कविता उनके भक्त हृदय का प्रतिबिम्ब थी। उनका उद्देश्य राम गुण गान था। स्वय उन्होंने कहा है—"एहि महं रघुपति चरित उदारा, अति पावन पुरान स्रुति सारा।" राममय जीवन के कारण ही उन्होंने प्राकृत अथवा साँसारिक मनुष्यों की प्रशसा के लिये अपनी वाणी का उपयोग कर उसे कलकित नहीं किया। उन्होंने कहा—"कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लाग पछिताना।"

'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' लिखने वाले भक्त कवि से यही आशा भी थी। लेकिन स्वातः सुखाय लिखने वाले इस कवि ने अपनी कविता में जनता के हित की इतनी बातें भरदी हैं कि उनका लेखा जोखा रखना भी आलोचकों को कठिन जान पड़ता है। 'रामचरित मानस' तथा अन्य ग्रन्थों में उनकी विचार धारा का अध्ययन करने से पता चलता है कि भारतीय सस्कृत की कोई ऐसी धारा नहीं है, जो कवि से छूट गई हो। राम का शील, शक्ति और सौन्दर्य समन्वित आदर्श खड़ा करके तुलसी ने मृत हिन्दू जाति को जीवित कर लिया। उनके राम ब्रह्म हैं और 'विधि हरि शम्भु नचावन हारे' हैं। वे नर में नारायणत्व की सरस झाँकी दिखाने वाले हैं।

किसी कवि की प्रतिभा की परख के लिए आवश्यक है कि उसे काव्योपयोगी स्थलों की पहचान हो। तुलसी इस दृष्टि से श्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने काव्योपयोगी मार्मिक स्थलों को चुनकर रखा है और जहाँ आवश्यकता पड़ी है वहाँ स्वय कल्पना से काम लिया है। इस कारण उनके काव्य में सभी रसों का समावेश हो गया है।

श्रृङ्गार रस—तुलसी के मर्यादावाद के कारण यह रस अधिक प्रस्फुटित नहीं हुआ है। फिर भी उसके सयोग वियोग दोनो पक्षों की अच्छी झाँकी

कवि ने दी है। 'पुष्पवाटिका' प्रसङ्ग से राम और सीता का स्नेह आरम्भ होता है। सीताजी के आभूषणों की झंकार से राम की मनःस्थिति क्या होती है। इसका चित्र कितनी कुशलता से कवि ने दिया है।

कंकण, किंकिण नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं।
मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं॥

राम का हृदय विचलित हो रहा है, यह देखकर तुलसीदास उनके पवित्र चरण की मर्यादा यह कहकर रख लेते हैं कि जिस पर भगवान का मन लुभाया है, उससे उनका वैसा सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए क्योंकि रघुवंशी कभी कुपथ पर पैर नहीं रखते—

जासु विलोकि अलौकिक सोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो अब कारन जान विधाता, फरकहिं सुभग अंग सुन भ्राता॥
रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ, मन कुपथ पग धरिअ न काऊ।

'कवितावली' में विवाह के पश्चात् का जो वर्णन है, वह शृंगार रस का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है— .

दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि वेदजुआ जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाहीं॥

शृंगारी चेष्टाओं के वर्णन के लिए ग्राम बन्धुओं के यह पूछने पर कि साँवले शरीर वाले कौन हैं, सीता कितनी कुशलता से संकेत करती है—

बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी, प्रिय तन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निज पति कहेउ तिन्हहि सियसैननि॥

वियोग शृंगार वर्णन भी मर्यादित है। राम के विरहोन्माद की ये पंक्तियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं—

' हे खग हे मृग मधुकर स्रेनी। तुम देखी सीता मृग नैनी।

हनुमान ने राम को सीता का जो सन्देश दिया है, वह बड़ा मर्मस्पर्शी है—

\+ + +

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीन बन्धु प्रन तारति हरना॥
मनक्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ मोहि त्यागी॥

श्रवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥
विरह श्रगिनि तनु तूल समीरा। स्वाँस जरहि जन भाँति सरीरा ॥
नयन स्रवहि जलनिज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी ॥

वीररस—मानस की कथा मूलतः वीर काव्य का विषय है। इसीलिए बाल्मीकि ने प्रत्येक काण्ड में वीरता के प्रसंगो की योजना की है परन्तु तुलसी ने कितने ही ऐसे प्रसंग हटा दिये हैं। परन्तु फिर भी वीररस का श्रभाव नहीं है श्रौर उसके श्रच्छे चित्र दिये हैं। सुन्दरकाण्ड श्रौर लङ्काकाण्ड में वीररस का श्रच्छा परिपाक है। जनक की सभा में लक्ष्मण के उत्साहपूर्ण वचनों से जिस प्रकार वीररस मूर्तिमान होता है, वह देखिए—

सुनहुँ भानुकुल पंकज भानू। कहउँ सुभाव न कछु श्रभिमानू।
जौ तुम्हार श्रनुसासन पाऊँ। कदुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ।
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक इव तोरी।
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना ॥

श्रगद रावण-सवाद तो वीररस के भावो की खान है। 'कवितावली' में श्रगद के पदारोपण उत्साह का श्रच्छा चित्र है—

रोप्यौ पाँव पैज कै विचारि रघुबीर बल,
लागे भट सिमिटि न नेकु टसकतु है।
तज्यो धीर धरनि धरनिधर धसक्तु,
धराधर धीर भार सहि न सकतु है ॥
महाबली बालि को दबत दलकतु भूमि,
तुलसी उछरि सिंधु मेरु मसकतु है।
कमठ कठिन पीठि घट्टा परयो मदर को,
श्रायो सोई काम पै करी जो कसकतु है ॥

रौद्र—वीरतापूर्ण प्रकार में वीररस के साथ-साथ रौद्र भी श्रा जाता है। परशुराम के जनक की सभा में श्राने पर लक्ष्मण-परशुराम संवाद तथा कैकेयी के राजा दशरथ के वरदान न देने पर क्रोध के समय रौद्र रस के चित्र देखने को मिलते हैं। एक उदाहरण देखिए—

मापे लखन कुटिल भईं भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं ॥
रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज श्रस कहै न कोई ॥

भयानक श्रौर वीभत्स—लङ्कादहन के वर्णन में इन दोनों रसों का परिपाक एक साथ देखने को मिल सकता है। एक उदाहरण 'कवितावली' से दिया [illegible] है। इ[illegible]में [illegible] भय[illegible] का है दूसरा वीभत्स का है—

"लागि-लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार बसन उघारे धूम धुन्ध अन्ध,
कहै बारे - बूढ़े 'बारि बारि' बार बारहीं॥
हय हिहिनात, भागजात घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात आनि,
तात, तात, तौंसियत झौंसियत झारहीं॥"
"ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूड़ के कमण्डलु, खपर किए कोरिकै।
जोगिनी झुटुंग झुण्ड - झुण्ड बनी तापसी-सी,
तीर - तीर बैठी, सो समर सरि खोरिकै॥
सोनित सो सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि - घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि - हेरि हँसति है हाथ हाथ जोरि कै॥"

अद्भुत रस—राम में देवत्व की स्थापना से तो अद्भुत रस की सृष्टि हुई ही है, तुलसीदासजी ने वैसे भी अद्भुत रस के स्थल ढूँढ़े हैं। हनुमान जी का पहाड़ लेकर आकाश मार्ग से द्रुतिगति से जाना आश्चर्य का भाव जगाता है—

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलम्ब न लायो।
मारुत नन्दन मारुत को, खगराज को वेग लजायो॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

करुण रस—करुणरस के मानस में कई प्रसंग हैं, जिनमें दशरथ मरण, राम वनवास, लक्ष्मण के शक्ति लगना प्रसिद्ध हैं। अभिषेक के समय बन-वास बड़े दुःख की बात है—

कैकयि नन्दिनि मन्द मति, कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहिं रघुनन्दन जानकिहिं, सुखावसर दुख दीन्ह॥

दशरथ के मरण पर यह शोक अपनी चरमावस्था को पहुँच जाता है—

लागति अवध भयावन भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी।
घोर [illegible] मम पर [illegible] [illegible]। [illegible]॥

घर मसान परिजन जनु भूता । सुत हित मीत मनहुं जमदूता ।
बागन्ह विटप बेलि कुम्हिलाहीं । सरित सरोवर देखि न जाहीं

हास्य-रस—नारद मोह में हास्य-रस की एक झलक देखिए—

काहु न लखा सो चरित बिसेखा । सो सरूप नृप कन्या देखा ॥
मर्कट बदन भयङ्कर देही । देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली । सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ।
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं । देखि दसा हर गन मुसकाहीं ॥

शान्त-रस—सारी रामकथा का पर्यवसान ही शान्तरस में हुआ है। 'विनय पत्रिका' और 'कवितावली' के उत्तरकाण्ड में शुद्ध शान्त रस है। शृंगार प्रधान 'बरवै रामायण' का उत्तरकाण्ड तक शान्त रस से पूर्ण है। संसार की अनित्यता का एक उदाहरण विनय पत्रिका से यहाँ दिया जाता है—

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु हीते ॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते ।
हम हम करि धनधाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते ॥
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबहीते ।
अन्तहु तोहि तजेंगे पामर ! तू न तजै अबहीते ॥
अब नाथहि अनुरागु, जागु जड़, त्याग दुरासा जीते ।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घीते ॥

वात्सल्य रस के वर्णन के लिए 'गीतावली' और 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड द्रष्टव्य हैं । यों तो तुलसी ने सभी रसों का समावेश अपने ग्रंथों में सफलता पूर्वक किया है ।

अलङ्कार—यद्यपि तुलसीदासजी को चमत्कार प्रिय नहीं है और उन्होंने अलङ्कारों के लिए कविता नहीं की फिर भी उनके काव्य में अलङ्कार स्वतः आगये हैं । आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में गोस्वामी जी ने अलङ्कारों का प्रयोग निम्नलिखित रूपों में किया है—

१—भावों में उत्कर्ष की व्यंजना में सहायक ।

२—वस्तुओं के रूप (सौन्दर्य, भीषणता आदि) का अनुभव तीव्र कराने में सहायक ।

३—गुण का अनुभव तीव्र कराने में सहायक ।

४—क्रिया का अनुभव तीव्र कराने में सहायक ।

भावों के उत्कर्ष की व्यजना में सहायक अलङ्कारों के उदाहरण स्वरूप

अलङ्कारों को दिया जाता है—

उहुक न है उजिरिया, निसि नहि घाम।
जगत जरत अस लागु, मोहि बिनु राम॥

यह निश्चयालङ्कार है, जो सीता के विरह-सन्ताप का उत्कर्ष दिखाने में सहायक है।

तृषित तुम्हारे दरस कारन चतुर चातक दास।
बपुष वारिद बरसि छवि-जल, हरहु लोचन प्यास॥

यह 'रूपक' है, जिसमें रति भाव की अनन्यता दिखाई गई है।

हृदय घाव मेरे पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराय सरीरै॥

यहाँ 'असङ्गति' अलङ्कार द्वारा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम की मानसिक व्यथा की व्यंजना की गई है।

रूप का अनुभव तीव्र कराने में सहायक अलङ्कारों में यह आवश्यक होता है कि प्रस्तुत और आलङ्कारिक वस्तु में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो अर्थात् कवि द्वारा लाई हुई वस्तु प्रस्तुत वस्तु से रूप रंग में मिलती-जुलती हो। इस दृष्टि से तुलसी की नीचे की उत्प्रेक्षा देखिए—

सोनित छींट छटा न जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछवि छूटी।
मानो मरकत सैल बिसाल पै फैलि चलीं बर बीर बहूटी॥

इसमें रक्त के छींटों और बीरबहूटियों में वर्ण और आकृति दोनों के विचार से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

सीता के रूप वर्णन में 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार की छटा देखिए—

जो छवि सुधा पयोनिधि होई, परम रूप मय कच्छप सोई।
सोभा रज मन्दर सङ्गारू, मथहिं पानि - पङ्कज निज मारू॥
यह विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुखमूल।
तदपि संकोच समेत कवि, कहहिं सीय समतूल॥

रूप सम्बन्धी अन्य उक्तियों के लिए दो उदाहरण और दिए जाते हैं—

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसिदिन यह बिगसाइ॥ (व्यतिरेक)
चंपक हरवा अङ्ग मिलि अधिक सुहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हिलाइ॥ (उन्मीलित)

क्रिया का अनुभव तीव्र कराने में सहायक अलङ्कारों में अलङ्कार के लिए प्रयुक्त वस्तु और प्रस्तुत वस्तु का धर्म एक होता है या अलग-अलग कहे जाने

पर भी दोनों का धर्म समान होता है। नीचे लिखे रूपक में उपमेय और उपमान का एक ही धर्म बड़ी सुन्दरता से रखा गया है—

नृपन केरि आसा निसि नासी, बचन नखत अवली न प्रकासी।
मानी महिप कुमुद सकुचाने, कपटी भूप उलूक लुकाने॥

यहाँ केवल क्रिया का सादृश्य है, रूप आदि का नहीं। इस रूपक का उद्देश्य भावों का उत्कर्ष न होकर एक साथ इतनी भिन्न क्रियाओं का होना दिखाना है।

क्रोध से भरी कैकेयी राम को वन भेजने को उद्यत होकर खड़ी होती है। एक रूपक द्वारा तुलसीदास इसे कुशलता से व्यक्त करते हैं—

अस कहि कुटिल भई उठ ठाढ़ी, मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी।
पाप पहार प्रकट भई सोई, भरी क्रोध - जल जाइ न जोई॥
दोउ कर कूल कठिन हठ धारा, भँवर कूबरी बचन प्रचारा।
ढाइत भूप रूप तरु मूला, चली विपति वारिधि अनुकूला॥

यह सागरूपक कैकेई के कर्म की भीषणता को भलीभाँति सामने ला देता है। भाव और क्रिया की गहनता के लिए गोस्वामीजी बहुधा नदी या समुद्र के रूपकों का प्रयोग करते हैं।

गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलङ्कार का उदाहरण देखिए—

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कठिन पै कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवै नवनीता, पर सुख द्रवै सो संत पुनीता॥

'व्यतिरेक' द्वारा इस स्थल पर संतों के स्वभाव की विशेषता का स्पष्टीकरण किया है।

इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी के काव्य में श्लेष, यमक, परिसंख्या जैसे कृत्रिमता लाने वाले अलङ्कार भी मिलते हैं पर बहुत कम। वस्तुतः वे सिद्ध कवि थे और अलङ्कार का प्रयोग काव्य-सौंदर्य की वृद्धि के लिए ही करते थे।

भाषा और छन्द—भाषा पर तुलसीदासजी का जैसा अधिकार था वैसा और किसी हिन्दी कवि का नहीं। सबसे पहली बात तो यह है कि व्रज और 'अवधी' दोनों पर उनका समान अधिकार था। 'रामचरितमानस' में अवधी के पूर्वी और पश्चिमी दोनो रूप मिलते हैं। 'कवितावली', 'विनय-पत्रिका' और 'गीतावली' तीनों की भाषा व्रज है। 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल' और 'रामलला नहछू' यह तीनों पूर्वी अवधी के ग्रन्थ हैं।

दूसरी विशेषता उनकी भाषा की यह है कि वह प्रसङ्गानुकूल है। कहीं

संस्कृत गर्भित है तो कहीं चलती हुई मुहाविरेदार है। 'विनय पत्रिका' के आरम्भ में इनकी भाषा संस्कृत गर्भित है और लोकोक्तियों से मुहावरे युक्त भाषा के उदाहरण देखिए—

१—प्रसाद राम नाम के पसारि पॉंव सूति हौं।

२—बात चले बात को न मानिगो बिलग, बलि,
काशी सेवा रीझिकै निवाजौ रघुनाथ जू।

३—मांगि कै खैवो मसीत को सोइवो लैवो को एक न देवे को दोऊ।

तीसरी विशेषता यह है कि उनकी वाक्य रचना बड़ी व्यवस्थित है। एक भी शब्द भरती का नहीं है। थोड़े में बहुत कहने की प्रकृति है। एक उदाहरण देखिए—

परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन पर गुन, नहिं दोष कहौंगो॥

चौथी विशेषता यह है कि तुलसी ने अधिकतर तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। प्राकृत के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं और कहीं कहीं संस्कृत की 'मनसि' जैसी विभक्तियाँ भी हैं। फारसी अरबी शब्दों का भी प्रयोग तुलसी में मिलता है। जैसे गरीबनिवाज, गनी, दाद, मिसकीनता आदि।

तात्पर्य यह है कि तुलसीदास जी की भाषा में स्वाभाविकता, सरलता और प्रासादिकता पर्याप्त मात्रा में है।

८—रामचरित मानस—भक्ति और युग का प्रतीक

(श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०)

साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। तत्कालीन समाज में प्रचलित प्रत्येक विचारधारा, शैली, नियम, उपनियम आदि के प्रति उसकी दृष्टि सदैव सतर्क रहती है। आचार्य हजारी प्रसाद के शब्दों में लोकनायक वही हो सकता है जो सफल समन्वय कर सके। इस 'सफल समन्वय' करने की शक्ति उसी व्यक्ति में आ सकती है जिसका दृष्टिकोण संकुचित न होकर विशाल होगा। इसके अतिरिक्त सुलझी हुई एवं तीव्रनिरीक्षण बुद्धि, विशाल अध्ययन एवं गम्भीर मनन तथा चिंतन भी इस 'सफल समन्वय' के लिए आवश्यक होता है। युगधर्म से प्रभावित तो साधारण से साधारण व्यक्ति भी होता रहता है परन्तु उसमें युग के विपरीत चलने की शक्ति नहीं होती। यह शक्ति केवल 'युग पुरुष' में होती है। वह क्रान्तिकारी होता है। उसी के व्यक्तित्व में तत्कालीन युग साकार हो उठता है। हिंदी साहित्य के भक्ति-काल में अनेकानेक यशस्वी एवं प्रतिभावान कवि हुए हैं। उनमें से कोई भी कलाकार अपने युग का प्रतिनिधित्व करने का दावा नहीं कर सकता। कवियों के उस विशाल समूह में केवल एक ही ऐसा शक्तिशाली व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है जिसमें वह युग एवं उसका समाज साकार हो उठा है। वह व्यक्तित्व है गोस्वामी तुलसीदास का और उसका प्रमाण है उनका अद्भुत ग्रंथ रामचरितमानस। इसी कारण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें महात्मा गौतम बुद्ध के बाद सबसे बड़ा लोकनायक माना है।

रामचरित-मानस में मुगल कालीन भारत की सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण 'रावण राज्य' का सहारा लेकर संकेत रूप से किया गया है परन्तु इतिहास का विद्यार्थी इससे सहमत नहीं होता। तुलसी ने मुगल युग में रहते हुए भी कथानक त्रेता युग का चुना है। उस काल का इतिहास उपलब्ध नहीं है। इसलिए तुलसी को त्रेता युग के रीत रिवाज, मत-मतान्तर, सामाजिक व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता था। त्रेता युग में न तो इतने मत मतान्तर ही थे और न इतनी जटिल सामाजिक व्यवस्था। वह युग

तो आर्य सभ्यता का शैशव काल था। उसमें तुलसी द्वारा वर्णित जटिलताओं एवं विषमताओं का होना असम्भव ही प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इतिहास में वर्णित मुगल कालीन सामाजिक दशा से 'मानस' में वर्णित सामाजिक दशा बहुत कुछ मिलती जुलती है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि तुलसी ने अपने युग से प्रभावित होकर 'मानस' में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का ही चित्रण किया है और उसमें उन्हें सफलता भी मिली। इसके साथ ही क्षुभित होकर प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने अपने आदर्शानुसार अपना मत भी प्रकट किया है।

'तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों' का अर्थ हम 'सामाजिक' शब्द के सकुचित अर्थ में न लेकर विस्तृत अर्थ में ही लेंगे। इस विस्तृत अर्थ के अनुसार हमें तत्कालीन समाज को प्रभावित करने वाली धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक सभी परिस्थितियों का विवेचन अपेक्षणीय होगा। सबसे पहिले हम धार्मिक परिस्थितियों पर विचार करेंगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "जिस उपासना प्रधान धर्म का जोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्व काल में आकर—जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के ह्रास के साथ साथ शिथिल पड़ गई थी—कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था।" नए नए सम्प्रदायों की खींचतान के कारण आर्य धर्म का व्यापक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकागदर्शिता बढ़ रही थी। शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू तू मैं मैं तो थी ही, बीच में मुसलमानों से अविरोध प्रदर्शन करने के लिए भी अपढ़ जनता को साथ लगाने वाले कई नए नए पथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंग ढग, ज्ञान-विज्ञान की निंदा, विद्वानों का उपहास, वेदान्त के दो चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि ही प्रधान थे। दम्भ बढ़ रहा था। 'ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर-कहहिं न दूसरि बात वाली स्थिति थी।' ऐसे लोगों ने भक्ति को बदनाम कर रखा था। भक्ति के नाम पर ही वे वेद शास्त्रों की निंदा करते थे, पण्डितों को गालियाँ देते थे और आर्य धर्म के सामाजिक तत्व को न समझ कर लोगों में वर्णाश्रम धर्म के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे।

तुलसी ने "गोंड गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल" की विषम परिस्थिति में अपनी धार्मिक मर्यादा का आदर्श उपस्थित करते हुए विभिन्न मतों और सम्प्रदायों से समझौता किया। उनके समय में शैव, शाक्त, पुष्टि-मार्गी, कबीर पथी, नाथ पथी आदि वैष्णव धर्म के प्रति विरोधी विचार

प्रकट कर रहे थे। तुलसी ने इनके विरोध की नीति का पालन न कर उनके आदर्शों को भी अपने मत में मिला लिया। तुलसीदास की इस सहिष्णु नीति ने धार्मिक भेदों का एक दम ही विनाश कर दिया। वैष्णव धर्म के इस सिद्धान्त संगठन ने हिंदू धर्म को इस्लाम की प्रतिद्वन्द्विता में विशेष बल प्रदान किया। शैव, शाक्त और पुष्टि मार्गी सरलता से इसी वैष्णव धर्म में सम्मिलित हो गए। अपनी इसी समन्वयात्मक बुद्धि द्वारा तुलसी ने मानस को एक साहित्यिक ग्रन्थ के साथ ही साथ धार्मिक ग्रन्थ भी बना दिया।

विष्णु और शिव की एकता स्थापित करते हुए उन्होंने राम के मुख से कहलाया—

"करिहौं इहाँ संभु थापना। मोरे हृदय परम कलपना।"
"शिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा।"
"शंकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
सो नर करहि कलपभरि घोर नरक मँह बास।"

इसी प्रकार शाक्तों की आराध्या आदि शक्ती की महानता स्थापित करते हुए तुलसी ने प्रार्थना की—

"नहिं तब आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।-
भव-भव विभव पराभव कारिनि। विश्व विमोहनि स्वबस विहारिनि

बल्लभीय पुष्टि मार्ग के समर्थन में उन्होंने राम पदों में अपने अटूट एवं अटल स्नेह की याचना करते हुए कहलाया—

"अब करि कृपा देहु वर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥"
"राम भगति मनि उर जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥"

राम के व्यक्तित्व में शैव, शाक्त और पुष्टि मार्गियों के आदर्शों का समन्वय कर उन्होंने राम भक्ति को व्यापक एवं शक्तिशाली बना दिया और इस प्रकार इस पारस्परिक विरोध का अन्त करने में सफल हुए।

तुलसी स्मार्त वैष्णव थे। ज्ञान और भक्ति के पारस्परिक विरोध के प्रति भी उनका ध्यान गया। इस विरोध में भी उन्होंने अमंगल की छाया देखी और उनमें समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। इसका विवेचन आगे किया जायगा।

अपनी इसी अद्भुत समन्वय कारिणी बुद्धि के द्वारा तुलसी इस महान धार्मिक निष्कर्ष पर पहुँच सके कि—

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥"

'मानस' में तत्कालीन सामाजिक दशा के इतने सुन्दर एवं यथार्थ उदाह-

रण नहीं मिलते जितने दोहावली, कवितावली एव विनयपत्रिका म मिलते हैं ये तीनों ग्रथ मुक्तक हैं। कवि इनमें कथा के विषय म देश, काल, पात्र से आबद्ध नहीं है। इसीकारण इन ग्रथों में तुलसी ने स्वतत्ररूप से प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा समाज का यथार्थ अङ्कन किया है। फिर भी उन्होंने यथावसर 'मानस' मे भी तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का चित्रण किया है—

"बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बचक भूप प्रजासन। कोउ नहि मान निगम अनुसासन॥"

तुलसी ने समाज की मर्यादा पर विशेष बल दिया है। उनके नायक मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। मानस के पात्रों में लोक-शिक्षा का रूप प्रधान रूप से है। इसका कारण यह था कि तुलसी अपने समय की समाज व्यवस्था एव आचार से पूर्णतया असतुष्ट थे और इसी असतोष की प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने रामराज्य का आदर्श उपस्थिति किया। इस समाज के दो भाग हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। इन दोनों क्षेत्रों में तुलसी ने अपनी असाधारण प्रतिभा से महान सन्देश दिया। पारिवारिक जीवन का आचार 'मानस' मे यथास्थान सज्जित है। पिता, पुत्र, माता, पति, पत्नी, भाई, सखा, सेवक आदि के पारस्परिक व्यवहार के लिए 'मानस' के पात्र आदर्श हैं। यही कारण है कि मानस के पात्र हिन्दू जीवन में आज भी उत्साह और स्फूर्ति पहुँचा रहे हैं।

उत्तर काण्ड म तुलसी ने रामराज्य में समाज का चित्र उपस्थित किया है। यह चित्र वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल हैं। वे प्रत्येक वर्ण की मर्यादा के पक्षपाती थे। उच्छृंखलता उन्हें पसन्द नहीं थी। रामराज्य मे सब अपना अपना कर्तव्य करते हुए सुखी थे—

"वर्णाश्रम निज निज धरम, निरत वेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय शोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती॥
चारिहु चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्प मृत्यु नहि कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोइ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
पुण्य एक जग में नहि दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥"

लेकिन विप्रों की निरक्षरता और अज्ञानता से प्रीति उन्हें अत्यन्त चिढ है—
"विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार रत वृषली स्वामी॥"

तुलसी ने हमारे सम्मुख आदर्श नारी चरित्रों की सृष्टि की है। पार्वती, अनुसुइया, कौशल्या, सीता आदि की चरित्र रेखा पवित्र और धर्म पूर्ण विचारों से निर्मित की गई है। नारी के प्रति भर्त्सना के वाक्यों का प्रयोग परिस्थिति के अनुसार किया है। वैसे तुलसी के हृदय मे नारी जाति के प्रति अत्यन्त श्रद्धा के भाव थे। अपने समय के समाज की दुरवस्था को देखकर ही उसके सुधार एव मार्ग प्रदर्शन के निमित्त ही तुलसी ने 'मानस' के आदर्श चरित्रों का निर्माण किया था। उत्तर काण्ड में कलियुग का जो वर्णन किया है उस अ श को पढ़कर ज्ञात होता है कि कवि के मन में समाज की उच्छृ-खलता के लिए कितना क्षोभ था। इसी क्षोभ की प्रतिक्रिया उनके लोक शिक्षक समाज-चित्रण के आदर्शों म है।

तत्कालीन राजनीति का भी विस्तृत चित्रण मानस मे मिलता है। योग्य पात्रों द्वारा तुलसी ने राजनीति के आदर्श उपस्थित किए हैं। आदर्शों द्वारा उन्होंने शासक वर्ग की लोक शिक्षा का व्यापक प्रयत्न किया है। पहले तो उन्होंने कलियुग से प्रभावित तत्कालीन राजनीति की दुरवस्था का चित्रण किया है और बाद मे रामराज्य के आदर्श के रूप म उसके सुधार का सुझाव दिया है। रावण के शासन की अनीतियों के रूप मे तुलसी ने अपने समय की मुगल शासन की नीति का व्यग्य एव यथार्थ चित्र उपस्थित किया है—

"भुज बल वस्य विस्व करि, राखेसि कोउ न स्वतन्त्र।
मण्डलीक मनि रावन, राज करै निज मन्त्र॥
जेहि विधि होइ धरम निर्मूला, सो सब करहि वेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं, नगर गॉव पुर आग लगावहि॥
बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहि।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहि कवन मिति॥

राजनीति की इन दुखपूर्ण परिस्थितियों से ऊबकर तुलसी ने अनेक स्थलों पर राजनीति के आदर्शों का भी निरूपण किया है। समाज एव राज्य के सुव्यवस्थित सचालन के लिये यह कहना आवश्यक है कि राजा के प्रति हमारे हृदय में श्रद्धा एव भक्ति हो क्योंकि राजा ईश्वर का अंश है—

"साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अ श भव परम कृपाला॥'

ईश्वर का अ श होने के कारण राजा का यह धर्म हो जाता है कि उसकी प्रजा सुखी रहे और उसके राज्य में किसी प्रकार का भेद भाव न होकर प्रत्येक के लिये समदृष्टि का व्यवहार हो क्योंकि—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥"

"मुखिश्रा मुखु सो चाहिये, खान पान कहुँ एक ।
पालै पोपै सकल श्रंग, तुलसी सहित विवेक ॥"

राजा को शासन कार्य के लिये सदैव चारों नीतियाँ—साम, दाम, दण्ड भेद—का प्रयोग करना चाहिये—"साम, दाम श्ररु दण्ड विभेदा, नृप उर बसहि नाथ कह वेदा।" राजा को सत्यव्रती, निर्भीक श्रौर स्वावलम्बी होना चाहिए। राजधर्म में श्रालस्य श्रौर श्रसावधानी श्रक्षम्य है। राजा को वर्णाश्रम धर्म का पूर्ण पालन करना चाहिये—

"श्रन्तहु उचित नृपहिं बनवासू। वय विलोकि हिय होइ हरासू।"
"सत कहहि श्रस नीति दशानन। चौथे पन जाइहिं नृप कानन॥"

इन उदाहरणों के श्रतिरिक्त 'मानस' में श्रनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनसे तत्कालीन राजनीति एव श्रादर्श राजनीति का ज्ञान प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विभिन्न प्रकार की तुलसी कालीन परिस्थितियों का संक्षिप्त एव सांकेतिक विश्लेषण कर हमने देखा कि तुलसी श्रपने काल की परिस्थितियों के सूक्ष्म पारखी थे। उन्होंने 'रावणत्व' के बहाने से मुगल कालीन श्रन्याय एव श्रनाचार के प्रदर्शन के साथ ही साथ धार्मिक क्षेत्र में फैले हुए श्रनाचारों एव विभिन्न मत मतान्तरों का हृदयग्राही चित्र उपस्थित किया है। कथा बन्धन के कारण वे स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कह सकते थे। श्रतः हमें उनके कथन का सांकेतिक श्रर्थ लेना पड़ता है। तुलसी के ग्रन्थों में इन परिस्थितियों का वर्णन है।

ज्ञान श्रौर भक्ति का संघर्ष बहुत प्राचीन काल से चला श्रा रहा है। श्रीमद्-भागवत के भ्रमर गीत प्रसंग में भी इसी विवाद के दर्शन होते हैं शंकराचार्य प्रभृति श्रद्वैतवादियों ने जहाँ एक श्रोर ज्ञान को ही सर्वेसर्वा बताया था वहाँ रामानुजाचार्य प्रभृति श्रनेक भक्ति काल के कृष्ण भक्त कवियों में तो यह विवाद श्रपने चरम रूप में पहुँचा हुश्रा दिखाई पड़ता है। 'भ्रमर गीत' की उद्भावना केवल इसी समस्या को सुलझा कर, ज्ञान के ऊपर भक्ति की महत्ता स्थापित करने के लिये ही की गई थी। कृष्ण भक्त कवियों ने सर्वत्र ज्ञान को हीन प्रमाणित कर उस पर भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित की है। तुलसी का श्राविर्भाव भी इसी भक्ति काल में हुश्रा था इसलिए वे इस संघर्ष से किस प्रकार श्रछूते रह सकते थे। उनकी श्रद्भुत समन्वयात्मक बुद्धि ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ ठहराते हुये भी दोनों को समान माना है। 'मानस' के उत्तरकांड के उत्तरार्ध में गरुड़ ने काकभुशुंडि से प्रश्न किया था—

"एक बात प्रभु पूछौं तो ही। कहौ बुझाई कृपानिधि मोही ॥
ज्ञानहिं भगतिहि अन्तर केता। सकल कहौ प्रभु कृपा निकेता ॥"

और इसका उत्तर देते हुए परम विद्वान भुशु डि ने कहा था—

"भगतिहि ज्ञानहिं नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव सभव खेदा ॥
नाथ मुनीस कहहि कछु अन्तर। साव धान सोउ सुनु विहगवर ॥"

इस प्रकार ज्ञान और भक्ति दोनो ही साँसारिक कष्टों से मुक्ति दिलाने वाले हैं। परन्तु दोनों म अन्तर केवल इतना ही है कि भक्ति स्त्री और ज्ञान पुरुष है—

"ज्ञान विराग जोग विज्ञाना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥
× × × ×
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि ! यह रीति अनूपा ॥
माया भगति सुनहु प्रभु दोउ। नारिवर्ग जानहि सब कोऊ ॥
पुनि रघुवीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी विचारी
भगतहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया ॥

माया और भक्ति दोनों ही स्त्री वर्ग हैं। (भावना का आधार लेकर चलती हैं—आसक्ति की भित्ति पर स्थित हैं) वैराग्य, योग, विज्ञान आदि पुरुषवर्ग हैं (क्योंकि तर्क और अनुभव पर उनकी स्थिति है) स्त्री वर्ग की होने के कारण भक्ति तथा माया को निर्बल और सहज ही जड़ जाति की कहा जा सकता है और पुरुष जाति के होने के कारण ज्ञान विज्ञान आदि को परम प्रबल माना जा सकता है परन्तु नारी का मोहमय फंदा इतना प्रबल होता है कि केवल विरक्त ही उसे काट सकते हैं—सामान्य विषयी जन नहीं। इसलिए जो केवल पुरुष वर्गीय ज्ञान वैराग्य का सहारा लेकर नारीवर्गीय माया का उच्छेद करना चाहता है उसे सहज सफलता नहीं मिल पाती। भक्ति नारीवर्गीय होने के कारण माया के चक्कर म नहीं आवेगी और इस पर भी वह भगवान की पटरानी है अत. निश्चय ही नर्तकी तथा रखैल माया पर अपना आधिपत्य जमा लेगी। अतः भक्ति पर माया का कोई प्रभाव नही हो सकता। भक्त को "रघुपति कृपा सपनेहुँ माह न होइ" की भावना तुलसीदास ने अपने 'मानस' में रखी है।

"उभय हरहि भव सभव खेदा" कहते हुए भी तुलसी ने ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ क्यों ठहराया इसका कारण यह है कि ज्ञान की साधना बड़ी कठिन है। जो साधना म सफल होते हैं, उन्हें मुक्ति अवश्य मिलती है, पर यह सफलता प्राप्त करना बहुत कष्ट-साध्य है—

"ज्ञान कै पथ कृपान की धारा । परत खगेस होइ नहि बारा ॥
जो निरविघन पथ निरबहई । सो कैवल्य परम पद लहई ॥"

इसलियें जो भक्त सेव्य सेवक भाव द्वारा भगवान की भक्ति करता है उसे अल्प प्रयत्न से ही भगवान की भक्ति प्राप्त हो जाती है। यह सेव्य सेवक भाव ही तुलसी का आदर्श है । इस आदर्श के विषय में तुलसी ने पूर्ण आत्म विश्वास एव दृढ़ता पूर्वक महामना भुशु डि से कहलाया है—

"सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पकज, अस सिद्धान्त बिचारि ॥

तुलसीदास ने ज्ञान और भक्ति का विरोध दूर कर धार्मिक परिस्थितियों में महान ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था । उनकी दृष्टि में ज्ञान भी मान्य है परन्तु वहीं तक जहाँ तक कि वह भक्ति की अवहेलना नहीं करता । दोना म मूलत कोई मौलिक अन्तर न होकर केवल दृष्टिकोण का कुछ सामान्य सा बाह्य अन्तर है । यह अन्तर केवल इतना ही है कि भक्त 'बाल तनय' है और ज्ञानी 'प्रौढ़ तनय' है । माता की प्रीति बालतनय ही की ओर विशेष रहती है और उसकी रक्षा का समूचा भार माता पर ही रहता है । ऐसा समझाते हुए श्री राम ने अरण्य काड म नारद से कहा है—

"सुनु मुनि तोहि कहौ सहरोसा । भजहि जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करौ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालकहि राख महतारी ॥
गह सिसु वच्छ अनल अहि धाई । तहँ राखै जननी अरु गाई ।
प्रौढ भये तेहि सुत पर माता । प्रीति करै नहिं पाछिल बाता ॥
मारे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी । बालक सुत सम दास अज्ञानी ॥

ज्ञान प्राप्त होने पर भी भक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए क्योंकि ज्ञानी स्वबल को प्रधानता देता हुआ ज्ञान की साधना म रत रहता है परन्तु भक्त तो पूर्ण रूप से भगवान पर ही अवलम्बित रहता है । उसे अपने बल का तनिक भी भरोसा नहीं होता—

"जनहि मोर बल निज बल नाहीं । दुहुँ कँह काम क्रोध रिपु आहीं
यह विचारि पडित मोहि भजहीं । पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं ।

भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए तुलसी ने 'मानस' में एक और स्थान पर कहलाया है जिसका सार यह है कि जीवो में मनुष्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में वेदज्ञ, वेदज्ञों म धर्मिष्ठ, धर्मिष्ठों में वैराग्य शील, वैराग्य शीलों में ज्ञानी, ज्ञानियों म विज्ञानी और विज्ञानियों मे भक्त श्रेष्ठ होते हैं । यह सत्य है कि वे सब एक पिता के पुत्र हैं और सभी पर पिता का प्रेम है परन्तु

भक्त तो उस पिता का परम आज्ञाकारी सेवक पुत्र है। इसीलिए निश्चय ही उस पर पिता का अत्यधिक प्रेम होगा।" एक अन्य स्थान पर ज्ञान की सहायता को दीपक के समान और भक्ति की सहायता को मणि के समान माना है। दीपक के बुझने की भी आशका रहती है परन्तु मणि की नहीं है। इसके अतिरिक्त मणि के धारण करने से मानसिक रोग नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञान से अति दुर्लभ परमपद अवश्य मिलता है परन्तु भक्ति से भी तो वही पद मिल जाता है। दूसरी बात यह है कि भक्ति के प्रेमानन्द में इतना अपूर्व माधुर्य रहता है कि ज्ञान का ब्रह्मानन्द उसकी तुलना में तुच्छ मालूम पड़ने लगता है। इसलिए समझदार लोग मुक्ति तक का निरादर कर भक्ति की ओर ही अधिक झुकते हैं। आगे चलकर तुलसी यह बताते हैं कि भक्ति के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं। ऐसा ज्ञान कर्णधार हीन जलयान के समान है—"सोह न राम प्रेम बिन ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू।" जो ज्ञानी यह समझे कि भक्ति के बिना मैं निर्वाण प्राप्त कर लूँगा वह 'पुच्छ विषाण हीन' पशु है—

"रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर पसु बिनु पूछ विसान॥"

जो भक्ति का त्याग कर केवल ज्ञान के लिए परिश्रम करता है वह कामधेनु का त्याग कर आक के वृक्ष से शरीर पोषक दूध पाने की चेष्टा करता है—

"जे अस भगति जानि परहरिहीं। केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥"

अशक्त में तो भक्ति के बिना अकेले सभी साधन सूने हैं और उनके बिना भवसागर से पार नहीं जाया जा सकता। परन्तु भक्ति के लिये किसी भी अन्य साधन की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी। भक्ति का मार्ग स्वतन्त्र है और ज्ञान विज्ञान उसके आधीन हैं—"सो सुतन्त्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना।" भक्ति की इसी महत्ता को मानते हुए बड़े-बड़े ऋषि इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। यही वैदिक सिद्धान्त भी है और यही परम पुरुषार्थ भी है—

"शिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म विचार विशारद॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिय राम पद पंकज नेहा॥
श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी। राम भजिय सब काज बिसारी॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू॥

तुलसी ने यद्यपि 'मानस' में भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ ठहराया है परन्तु

उनमें साम्य उपस्थित करते हुए उन्होंने ज्ञान को भी यथेष्ट महत्व प्रदान किया है परन्तु सब से ऊपर भक्ति ही रहती है। श्री राम लक्ष्मण से कहते हैं कि—

"धर्म ते बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छ प्रद बेद बखाना॥
जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलै जो सन्त होहि अनुकूला॥"

तुलसीदास के अनुसार भक्ति के साधन अनेक हैं। वे सभी साधन वर्णाश्रम धर्म के दृष्टिकोण से हैं। ये साधन तुलसी ने श्रीराम के मुख से कहलाए हैं—

"भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके॥"
बचन करम मन मोरि गति भजनु करहि निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम॥"

ज्ञान का पथ कृपाण की धार है जहाँ से गिरने और नष्ट होने में देर नहीं इसलिए भक्ति मार्ग सुगम है। फिर भी ज्ञान के बिना भक्ति असम्भव है और यह जानना प्रभु कृपा बिना असम्भव है—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती॥

और यह ज्ञान भी भगवद् कृपा बिना असम्भव है। इसे वही प्राप्त कर सकता है जिस पर भगवान का अनुग्रह होता है—"सोइ जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥" ऐसी निर्मल भक्ति की प्राप्ति के लिए तुलसी ने श्रद्धा, विश्वास, निश्छलता, लोकसेवा, विवेक, वैराग्य, नाम, जप और सत्संग आदि साधनों का विधान बताया है। उनकी इस प्रकार की भक्ति द्वारा जो भगवान का सान्निध्य मिलता है वह ज्ञान द्वारा प्राप्त मोक्ष से ऊपर है। योगी की भाँति माया मोह से छूटकर अविचल हरि भक्ति की प्राप्ति ही तुलसी का ध्येय है। उनकी भक्ति-भावना लोक कल्याण की संजीवनी से युक्त होने के कारण ससारी और असंसारी दोनों के काम की है। यही उसकी विशेषता है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान और भक्ति की तुलना में गोस्वामी जी ने सर्वत्र ही भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित की है। परन्तु 'मानस' की रचना का आधार प्रधानतः 'अध्यात्म-रामायण' मानी जाती है। इसी आधार पर कोई तुलसी को अद्वैतवादी सिद्ध करते हैं और कोई विशिष्टाद्वैतवादी। उनको अद्वैतवादी मानने का प्रबल कारण उनके

द्वारा किया गया ज्ञान का विशद विवेचन है। वे वास्तविक ज्ञान के वास्तविक महत्व को कहीं भी नहीं भूले हैं। इसी कारण ज्ञानी भगवान का 'प्रौढ़ तनय' है। वह उनका विशेष प्यारा भी है—"ज्ञानी प्रभुहि विशेष प्यारा।" भक्ति के परम आचार्य और सद्गुरु हैं भगवान शकर और महर्षि लोमश। गोस्वामी जी ने इन दोनों को ही स्पष्ट रूप से ज्ञानी माना है। ज्ञान का उपदेश परम अधिकारी को ही दिया जाता है सर्व साधारण को नहीं। इसी कारण "नहिं कछु दुरलभ ज्ञान समाना।" "पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहि ॥" से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान भक्ति ही का फल है।

भक्ति और ज्ञान की इसी अभिन्नता को दिखाते हुए तुलसी ने भक्ति रूपी मणि के खोजने में ज्ञान और वैराग्य रूपी नयनों की आवश्यकता बताई है—"ज्ञान विराग नयन उरगारी।" और हरिभक्ति रूपी विजय के लिए ज्ञान रूपी खड्ग से काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का मारना अनिवार्य बताया है—

"विरत धर्म अस ज्ञान मद लोभ-मोह रिपु मारि।
जय पाइया सो हरि भगति देखु खगेस विचारि ॥"

इन दोनों में इतना साम्य होते हुए भी एक के ऊपर दूसरे की स्थापना क्यों की गई यह प्रश्न चक्कर में डाल देता है परन्तु हमारे इस संदेह का निराकरण तुलसी 'मानस' की कुछ चौपाइयों द्वारा अनायास ही करने में समर्थ हो सके हैं। कारण यह है कि ज्ञानमार्ग मे साधक पहिले पहल अपने व्यक्तित्व को लेकर चलता है इसलिए काम क्रोधादि से युद्ध करने मे उसे बहुत परिश्रम करना पड़ता है। भक्त प्रारम्भ से ही भगवद्भाव को लेकर चलता है इसलिए यह भाव ही उसके लिए ढाल का काम देता है। वह पूर्णरूप से अपने स्वामी पर अवलम्बित रह कर स्वयं सुख मे मग्न रहता है। इस कारण भक्ति मार्ग ही ऐसा है जिसमे प्रारम्भ से ही सुख मिलता है। इसी कारण सर्वसाधारण के लिए यही मार्ग उत्तम और राजपथ माना गया है।

९—कृष्ण काव्य : एक विश्लेषण

(श्री जयकिशन प्रसाद एम० ए०)

रामकाव्य की तरह कृष्णकाव्य की परम्परा भी पहले से चली आती थी। राम में देवत्व की स्थापना कृष्ण में उसी तरह की भावना की स्थापना के साथ ही हुई थी। परन्तु कृष्णजी शीघ्र लोकप्रिय होगए। श्रीमद्भागवत की रचना ने कृष्ण-भक्ति को एक ऐसा आकर्षक रूप दिया कि शीघ्र ही इसके साहित्य की परम्परा चल पड़ी। कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ विद्यापति से माना गया है, किन्तु विद्यापति पर 'गीत-गोविन्द' के रचयिता महाकवि जयदेव का विशेष प्रभाव होने के कारण कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से मानना चाहिये। कृष्ण-भक्ति शाखा का विकास प्रायः मुक्तक के ही रूप में हुआ है। विद्यापति शैव थे, अतः उन्होंने शिव सम्बन्धी जो पद लिखे हैं वे अवश्य ही भक्ति से ओतप्रोत हैं किन्तु कृष्ण और राधा सम्बन्धी उनके जो पद मिलते हैं उनमें वासना का ही वर्णन है। इस क्षेत्र में जयदेव के शृङ्गार ने विद्यापति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत प्रखर है। राधा-कृष्ण को साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में लिया गया है, कृष्ण की सख्य भाव से उपासना की गई है और राधा का जो प्रेम-वर्णित है वह भौतिक और वासनामय है। चैतन्य के कारण ही विद्यापति का इतना अधिक प्रचार हुआ।

ब्रजभाषा में कृष्ण काव्य की रचना का समस्त श्रेय वल्लभाचार्य को है, जिनके द्वारा प्रचारित पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्ट छाप के कवियों ने कृष्ण-साहित्य की रचना की। पुष्टि मार्ग के प्रभाव में आकर अनेक भक्ति कवि भगवान की लीला गाने में मस्त हो गए। वे प्रतिदिन गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मन्दिर में कृष्णजी के नैमित्तिक कर्मों पर मधुर पद बनाकर राधा-कृष्ण के चरित्र का गान करते थे। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उन कवियों में से सर्वश्रेष्ठ आठ कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की स्थापना की।

हिन्दी साहित्य में काव्य सौन्दर्य का अथाह सागर भरने वाले महाकवि

सूरदास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख थे। सूरदास के काव्य के दो पक्ष महत्व-पूर्ण हैं, भक्ति पक्ष और काव्य पक्ष। सूर काव्य का विषय गोपाल कृष्ण की व्रजलीला है। इस लीला के अतिरिक्त अन्य अवतारों आदि का जो वर्णन हुआ है उसमें भक्त सूरदास के दर्शन नहीं होते न उनके कवि हृदय की ही झलक मिलती है। सूरदास के विनय के पद यद्यपि उनके हृदय की भक्ति-भावना को व्यक्त करते हैं तथापि उनमें काव्य सौन्दर्य का अभाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के कृष्ण-लीला के सम्बन्ध म जो पद हैं उनमें सूर के भक्त और कवि हृदय की सुन्दर झाँकी मिलती है।

सूर साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका विषय अलौकिक होते हुए भी वह इतना सामान्य है कि साधारण बुद्धि और हृदय वाला व्यक्ति भी उससे सहज में आनन्द पा सकता है। सूर के समस्त चित्र मानवी और सामान्य हैं। यशोदा माँ, नन्द पिता, कृष्ण पुत्र, सखा और विलासपटु प्रेमी हैं। गोपियाँ अनन्य प्रेम की अधिकारिणी प्रेमिकायें हैं। राधा चचल अल्हड़ किशोरी विलास चतुरा नायिका है, प्रोषित पतिका है और अन्त में सामान्य भार्या है जो अपने पति से अनन्य रूप से प्रेम करती है। अपने चरित्रों की इसी सामान्यता के कारण सूर साहित्य प्रत्येक मनुष्य के हृदय को छूता है। वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की भक्ति और पूजा की प्रतिष्ठा कर के धार्मिक साहित्य के लिए एक नए प्रसग की सृष्टि कर दी। भगवान कृष्ण की बाल लीलाओं का जितना स्वाभाविक और सरस वर्णन सूर अपनी बन्द आँखों से कर सके उतना हिन्दी का कोई अन्य कवि न कर सका। सूरदास का वात्सल्यरस का वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। सूर का शृ गार वर्णन भी केवल कवि परम्परा का पालन मात्र न होकर जीवन की सजीवता व पूर्णता की अभिव्यक्ति करता है। गोपियों का विरह वर्णन तो अपना एक विशेष महत्व रखता है। उसमें गोपियों के सरल हृदय के प्रेम जनित विरहोद्गारों का बड़ा स्वाभाविक और रोचक ढग से वर्णन हुआ है। सूर का भ्रमर गीत वियोग शृ गार का ही उत्कृष्ट ग्रन्थ नहीं है वरन् उसमे सगुण और निर्गुण का भी काव्यमय विवेचन है। सूर ने साहित्यिक व्रजभाषा म अपने काव्य का सृजन किया है। आपका व्रजभाषा में काव्य का प्रयोग अपना विशेष महत्व रखता है। उन्होंने एक इत पूर्व काव्य म अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर मधुर एव आकर्षक बना दिया कि लगभग चारसौ वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारत की कविता का सारा राग विराग, प्रेम प्रतीत, भजन भाव इसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ। सूर ने गीत पदों म हृदय के भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यजना की है।

इसी कारण उनके गीत अपना विशेष महत्व रखते हैं।

अष्टछाप के कवियों मे सूर अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के शेष सात सत्कवियों मे कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास सम्मिलित थे।

कुम्भनदास—का 'संतन कहा सीकरी सों काम' उनकी ससार से विरक्ति का द्योतक है। इनकी फुटकर कविताएँ मिलती हैं। वल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति पर इनकी फुटकर कविताएँ मिलती हैं। वल्लभाचार्य की पद्धति पर इनकी भक्ति-कविता रचित है। भक्त-कवि होने के साथ ही ये उच्चकोटि के गायक थे। इनकी कविता बड़ी भावमयी और रसभरी है।

परमान्ददास—भी अष्टछाप के एक कवि थे। सूर के बाद कृष्ण-भक्त कवियों में इनका ही वात्सल्य रस का सुन्दर और सजीव निरूपण हुआ है। प्रेम का वर्णन भी आपका बड़ा सुन्दर हुआ है। ये तन्मयता और भक्ति की विह्वलता में बड़े ही सरस और भावपूर्ण पद गाया करते थे। आपने शृङ्गार रस में सयोग पक्ष के साथ वियोग पक्ष को भी अपनाया है।

कृष्णदास—विट्ठलनाथ जी के शिष्य और कृष्ण-भक्त कवियों के अष्ट छाप में से एक थे। इनकी कविता, सूरदास और नन्ददास को छोड़कर 'अष्ट छाप, में सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। इन्होंने श्री राधाकृष्ण के विशुद्ध शृंगार का गेय पदों द्वारा बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। इनकी कविता बड़ी सरस और भावमयी है।

छीतस्वामी—विट्ठलनाथ के शिष्य और अष्ट-छाप के कवियों में थे। आपके गीत पद सरस और प्रेमानुभूति मिश्रित हैं। इनकी विशेषता व्रज-भूमि के प्रति आसक्ति की अभिव्यक्ति है।

गोविन्दस्वामी—विट्ठलदास के शिष्य और बड़े उच्चकोटि के गायक थे। अतएव आपके पदों में सगीत का विशेष प्रवाह है।

चतुर्भुजदास—कुम्भनदास के पुत्र और विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनकी लीला में विशेषकर कृष्ण लीला विषयक गानों का बाहुल्य पाया जाता है, इनकी भाषा सरल, स्वाभाविक तथा सुव्यवस्थित है।

नन्ददास—अष्टछाप में सूर के बाद अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। इन्होंने बहुत से ग्रंथ लिखे हैं जिनमें रास पचाध्यायी और भँवर गीत अधिक प्रसिद्ध हैं। नन्ददास परम भागवत, महान भावुक और उच्च प्रतिभावान सत्कवि थे। इनकी रचना हृदय वेधिनी, मर्म स्पर्शिनी, सरस और सजीव है।

नन्ददास का भ्रमरगीत सूर से भिन्न है। सूर के भ्रमरगीत में गोपियों की मानसिक अवस्था का सूक्ष्म विश्लेषण है परन्तु नन्ददास के भ्रमरगीत में ज्ञान और भक्ति पर विवाद है। उनका उद्धव-गोपी सवाद भी अधिक वाग्वैदग्ध्य पूर्ण है। और भी एक बात है, सूर के भ्रमरगीत में उद्धव कृष्ण का सन्देश ही प्रकट करते हैं, पर नन्ददास के भ्रमरगीत में वे स्वयं उपदेश देते हैं इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्ददास का भ्रमरगीत अपनी एक अलग विशेषता रखता है। नन्ददास के काव्य में भक्ति रस की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। काव्य-कला की दृष्टि से भी इनका काव्य महत्वपूर्ण है। इनकी कविता के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है "और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।"

बल्लभाचार्य की शिष्य परम्परा के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों में भक्तों, सूफियों, कथाकारों, रीतिकारों, सन्तों तथा अन्य सम्प्रदाय के सुकवियों को पाते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त चार अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्त कवि अधिक प्रसिद्ध हैं। ये चार सम्प्रदाय इस प्रकार हैं :—

१—राधावल्लभीय सम्प्रदाय।

२—गौड़िया सम्प्रदाय।

३—टट्टी सम्प्रदाय।

४—निम्बार्क सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों ने भी बड़े-बड़े रसिक और भावुक कवियों को जन्म दिया है। उनमें से मुख्य-मुख्य का विवेचन हम आगे करेंगे।

श्री हितहरिवंश—राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्होंने कृष्ण से अधिक राधाजी को महत्ता दी है। आप बड़े उच्चकोटि के भक्त थे। आपने आध्यात्मिक पक्ष के अर्थानुसार श्री राधाकृष्ण का विशुद्ध शृंगारवर्णन किया है। आपकी व्रजभाषा की रचना यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है, पर है बड़ी सरस और हृदय ग्रहिणी।

गदाधर भट्ट—चैतन्य महाप्रभु के शिष्य और संस्कृत के पण्डित थे। संस्कृत के पण्डित होने के कारण आपकी रचना में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य और परिमार्जित, सुन्दर, सरस तथा सारगर्भित भाषा का प्रयोग हुआ है। आपके पदों में साहित्यिक सौष्ठव के साथ अनुराग, भक्ति और त्याग की मात्रा अधिक है। तुलसीदास के समान इन्होंने संस्कृत पदों के अतिरिक्त संस्कृत-गर्भित भाषा-कविता की रचना भी की है। ये भागवत को गा-गा कर सुनाया करते थे।

मीराबाई—की रचनाओं का कृष्ण-काव्य में विशेष स्थान है। उन्होंने क्रमानुसार कृष्ण की लीलाओं का वर्णन नहीं किया वरन् दीनता से अपनी हृदय की समस्त भावनाओं को भक्ति के सूत्रमें बाँधकर कृष्ण की आराधना की। उन्होंने माधुर्य भाव से अपनी भक्ति-भावना का स्वरूप निर्धारित किया और स्वयं कृष्ण की विरहिणी बनकर अपने आराध्य कृष्ण से प्रणय-भिक्षा माँगी। यही कारण है कि मीरा की कविता में गीत काव्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। इनके पद कुछ राजस्थानी में हैं और कुछ शुद्ध ब्रज भाषा में। जो पद इन्होंने लिखे हैं वे तन्मयता से भरे हुए हैं। इनकी पीड़ा में निजीपन होने के कारण तीव्रानुभूति का परिचय मिलता है।

स्वामी हरिदास—टट्टी सम्प्रदाय के प्रवर्तक तथा गायनाचार्य थे। इनकी रचना में भावों की सुन्दर छटा है पर शब्दों के चयन में विशेष चातुर्य नहीं है।

सूरदास मदनमोहन—चैतन्य सम्प्रदाय के नैष्ठिक वैष्णव थे। इनकी कविता बड़ी सरल और मनोहारिणी थी। इनके कुछ फुटकर पद मिलते हैं।

श्री भट्टजी—की रचनाएँ सरस और मधुर होती थीं। इनका काव्य यद्यपि परिमाण में अधिक नहीं है तथापि कवित्व में श्रेष्ठ है। इनकी कविता में कृष्ण जी की भक्ति का बड़े सरल पदों में प्रतिपादन किया गया है जिससे पदों में तन्मयता का भाव श्रेष्ठ है।

व्यास जी—संस्कृत के अच्छे पण्डित थे तथा हित हरिवंश के शिष्य थे। इन्होंने ज्ञान और भक्ति की विवेचना बड़े सरल तथा स्पष्ट ढङ्ग से की है। ये कृष्ण लीला के बड़े प्रेमी थे, और इन्हीं लीलाओं के पद बना कर सुनाया करते थे। इनकी रचना अधिकतर स्फुट पदों में मिलती है।

रसखान—हिन्दी के मुसलमान कवियों में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय में गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा ली थी। इन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रेम का बहुत ही सुन्दर स्वरूप दिया है। इन्होंने एकांगी और निस्वार्थ प्रेम को ही प्रेम का आदर्श माना है। ब्रजभाषा में इनकी बड़ी उत्तम कविता हुई है। इनकी कविता में शब्दाडम्बर शायद ही कहीं हो। उसमें प्रसाद और भावगाम्भीर्य कूट कूटकर भरा हुआ है। 'सवैया' इनका इतना टकसाली और रस पूर्ण है कि उसका दूसरा नाम 'रसखान' हो गया। प्रेम और भक्ति का जैसा सजीव और सुन्दर चित्र रसखान ने खींचा है, कदाचित ही वैसा किसी अन्य कवि ने खींचा हो।

अन्य कृष्णोपासक कवियों में ध्रुवदास, नागरीदास, अलबेली, अलिजी,

चाचा हित वृंदावनदास जी, भगवत् रसिक, आनन्दघन, ललितकिशोरी आदि अनेक उच्चकोटि के भक्त हुए हैं, जिनकी रचनाएँ बड़ी सुन्दर हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कृष्णोपासक भक्त कवियों में गग, नरहरि, बीरबल, टोडरमल, बनारसीदास, नरोत्तमदास, लक्ष्मी नारायण, निपट निरंजन, लालचदास, कृपाराम, मनोहर कवि, बलभद्र मिश्र, केशवदास, होलराय, सेनापति, सुन्दर और मधुकर कवि आदि हैं। इस काव्य परम्परा के मुसलमान कवियों में रसखान के अतिरिक्त जमाल, कादिर, कारेखाँ, मुबारक, आलम, महबूब, रसलीन नजीर आदि ने कृष्णजी की बाल लीलाओं का और प्रेम का बड़ा सुन्दर और मनोहारी वर्णन किया है। इनमें रसलीन, मुबारक, कादिर, आलम आदि की रचनाएँ अधिक सुन्दर हुई हैं।

स्त्री कवियित्रियों मे मीरा के अतिरिक्त प्रवीणराय, छत्र कुँवरिबाई, साईं, रसिक बिहारी, प्रतापकुवरि, सुन्दरकुवरि, आदि ने कृष्ण-भक्ति विषयक काव्य का सृजन किया। मुसलमान महिलाओं में, ताज और शेख नाम की महिलाओं की कविता बड़ी ही सरस और भावपूर्ण है। सत निर्गुण उपासिकाओं में दयाबाई और सहजोबाई के कृष्ण विषयक पद भक्तिपूर्ण हृदयों के स्वच्छ उद्गार हैं। इनकी रचना में उच्चकोटि का साहित्य तो नहीं है परन्तु सन्तों के समान विरक्ति, गुरुपूजा, निर्गुण-उपासना आदि की अच्छी विचारावली है।

आधुनिक काल में भी कृष्ण-भक्ति विषयक रचनाएँ हुई हैं। भक्तिकाल के परब्रह्म कृष्ण रीतिकाल के शृंगार के नायक बन गए थे। उस काल में राधाकृष्ण को आलम्बन मानकर कवियों ने अपने हृदय के अश्लील उद्गारों को व्यक्त किया। कृष्ण-भक्ति विषयक कविता लिखने की परम्परा आगे चलती रही। अष्टछाप के कवियों द्वारा इस काव्य का पूर्ण परिपाक हुआ था। राम की अपेक्षा कृष्ण अधिक लोक प्रिय हुए, इसी कारण से हम देखते हैं कि कृष्ण-काव्य, राम-काव्य से बहुत अधिक है।

अष्टछाप

विक्रम की १६ वीं शताब्दी के मध्य में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वैष्णव धर्म की एक विशिष्ट शाखा की स्थापना की थी। यह सम्प्रदाय 'पुष्टिसंप्रदाय' के नाम से विख्यात है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनन्तर उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने अपने पिता द्वारा स्थापित सम्प्रदाय की सांगोपांग

उन्नति की। विट्ठलनाथ जी के २५२ शिष्य मुख्य थे जिनका वृतान्त 'दो सौ बावन वैष्णुवन की वार्ता' से ज्ञात होता है। वल्लभाचार्य के भी ८४ शिष्य मुख्य थे जिनका विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है।

विक्रम की १७ वीं शताब्दी के आरम्भ में गोसाईं विट्ठलनाथ ने चार अपने पिता के और चार अपने शिष्यों की मण्डली बनाई। उस मण्डली के आठों भक्त अपने समय में पुष्टि सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ काव्य कार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। वे आठों भक्त कवि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहवास में एक दूसरे के समकालीन थे और ब्रज में गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन सेवा और वहीं रहकर भगवद्-भक्ति की पद रचना करते थे। पुष्टि सम्प्रदाय के अनेक शिष्यों में से उन आठों के निर्वाचन द्वारा गोसाईं विट्ठलनाथ ने उन पर अपने आशीर्वाद की 'छाप' लगायी थी। इस मौलिक तथा प्रशंसात्मक छाप के बाद ही ये महानुभाव 'अष्टछाप' कहलाने लगे थे। हिन्दी ब्रज-भाषा के आठ कवि अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

पुष्टि संप्रदाय की मान्यता है कि वे आठो भक्तजन श्रीनाथजी की नित्य लीला में अंतरंग के रूप में सदैव उसके साथ रहते हैं। ये पुष्टि सम्प्रदाय में 'अष्टसखा' के नाम से विख्यात हैं। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता है, अतः इस सम्प्रदाय के कवि भगवान कृष्ण की नैमित्तिक लीलाओं पर पद रचना किया करते थे, वही रचनाएँ अब हमें उपलब्ध होती हैं। अष्टछाप के कवि भी अपनी मनोहर पद-रचना द्वारा श्रीनाथ जी की लीलाओं का गायन किया करते थे।

अष्टछाप के कवि उच्चकोटि के भक्त, कवि तथा गवैये थे। अपनी रचनाओं में प्रेम की बहुरूपिणी अवस्थाओं के जो चित्र इन कवियों ने उपस्थित किए हैं, वे काव्य-कौशल की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। वात्सल्य, सख्य, माधुर्य और दास्य भावों की भक्ति का जो स्रोत अपने काव्य में इन भक्तों ने खोला है वह बड़ा मर्मस्पर्शी है। लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों अनुभूतियों की दृष्टि से देखने पर इनका काव्य महान है।

हिन्दी साहित्य में अष्टछाप का महत्व उसके काव्य के कारण है, किन्तु पुष्टि संप्रदाय में उसके महत्व का अन्य कारण भी है। पुष्टि सम्प्रदाय की मान्यता है कि अष्टछाप के आठों महानुभाव श्रीनाथ जी के अन्तरंग सखा हैं जो उनकी नित्यलीला में सदैव उनके साथ रहते हैं। गिरिराज नित्य-निकुञ्ज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठों सखा इन द्वारों के अधिकारी हैं।

वे इन द्वारों पर रहते हुए ठाकुर जी की सदैव सेवा करते रहते हैं। लौकिक-लीला में वे भौतिक शरीर से इन द्वारों पर स्थित रहते हैं और लौकिकलीला की समाप्ति पर वे अपने भौतिक शरीर को त्यागकर अलौकिक रूप से नित्य-लीला में विराजमान रहते हैं।

इसके अतिरिक्त अष्टछाप का हिन्दी के काव्य में बहुत महत्व है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य की उन्नति से भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने जिस समय अष्टछाप की स्थापना की थी, उस समय व्रज-भाषा साहित्य का अधिक प्रचार नहीं था। किन्तु उनके प्रश्रय के कारण साम्प्रदायिक भक्तों में उसका व्यापक प्रचार हो गया। इसके अनुकरण पर वैष्णव धर्म के अन्य कई सम्प्रदायों में भी व्रजभाषा साहित्य की अतिशय उन्नति होती रही। सच बात तो यह है कि अष्टछाप ने व्रजभाषा के पद्यात्मक भक्ति-साहित्य पर इतना व्यापक प्रभाव डाला है कि कई शताब्दियों के पश्चात् अब तक भी उसका महत्व अक्षुण्ण है। अष्टछाप के महानुभावों ने यद्यपि स्वयं व्रजभाषा गद्य में रचना नहीं की, तथापि उनके प्रासंगिक चरित्र वार्ता रूप में व्रजभाषा गद्य में रचित होने से अन्ततः वे गद्य साहित्य के भी कारण हैं। चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ वैष्णवन की वार्ता, अष्टसखान की वार्ता, जिनमें अष्टछाप के कवियों के जीवन वृतात दिए हुए हैं, व्रजभाषा के साहित्यिक गद्य की आरम्भिक पुस्तकें हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुष्टि सम्प्रदाय के कारण व्रजभाषा गद्य की अत्यधिक उन्नति हुई थी। इस प्रकार हम देखते हैं पद्य और गद्य के क्षेत्र में अष्टछाप का साहित्यिक महत्व बहुत अधिक है।

अष्टछापकी स्थापना का एक उद्देश्य पुष्टि संप्रदाय के मंदिरों में ठाकुरजी के नित्य और नैमित्तिक उत्सवों के लिए कीर्तन की उचित व्यवस्था करना भी था। कीर्तन में भिन्न-भिन्न राग-रागनियों के पद ताल-स्वर से गाए जाते हैं, इसलिये कीर्तनकार को संगीत शास्त्रानुसार गान वाद्य का यथोचित ज्ञान होना आवश्यक है। अष्टछाप के आठों महानुभाव कवि होने के अतिरिक्त गान-वाद्य कलाओं के मर्मज्ञ और उनके अपूर्व ज्ञाता थे। इसी कारण से अष्टछाप का कलात्मक महत्व इतना अधिक है कि शताब्दियों तक देश में सर्वोच्च श्रेणी के कलाकारों में उसकी रचनाओं का पूर्ण प्रभाव रहा है।

संगीत कला के अतिरिक्त अष्टछाप पर अन्य कलाओं का भी प्रभाव है। सूरदास आदि के पदों में नाना प्रकार के व्यञ्जनों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। ये पद ठाकुरजी के राज भोग, छप्पन भोग अथवा अन्नकूट आदि उत्सवों

पर गाये जाते हैं। इस प्रकार अष्टछाप का पाक कला विषयक महत्व भी स्पष्ट है।

कृष्ण काव्य को सूरदास की देन

बल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्व प्रधान, सूरसागर के रचयिता, सूरदास, अष्टछाप के आठों कवियों में ही नहीं, वरन् ब्रजभाषा साहित्य के समस्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। सूरदास उच्चकोटि के भक्त और कवि हैं। इनकी कविता ने ब्रजभाषा काव्य की गणना विश्व साहित्य में कराई है। सूर के कविताकाल को सौर काल कहा जाता है। इस काल की गणना स० १५०३ से १५७३ तक है। यह ब्रजभाषा का काल हिन्दी की परम समृद्धि का युग था। हिन्दी में कृष्ण काव्य के आरम्भ करने का श्रेय मैथिल कोकिल विद्यापति को है, किन्तु उसका पूर्ण विकास सूरदास की कविता में ही दिखलाई पड़ता है। सूरदास के बाद ही कृष्ण काव्य का इतना अधिक प्रचार हुआ कि कई शताब्दियों तक अगणित कवियों की उच्चकोटि की रचनाएँ इसी विषय पर बनती रहीं। निदान हम कह सकते हैं कि कृष्ण काव्य परम्परा के कवियों में सूरदास का प्रमुख स्थान है। आपने कृष्ण काव्य को पूर्ण समृद्धि प्रदान की और उसे उसकी चरमोन्नति के शिखर तक पहुँचाया।

सूरदास के सूरसागर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है, पर अब तक उनके लगभग छः सात हजार पद ही प्राप्त हुए हैं। महाप्रभु बल्लभाचार्य की प्रेरणा से आपने श्रीमद्भागवत् के आधार पर श्री कृष्ण लीला का विषद् वर्णन किया। सूरसागर में भागवत् के दशम स्कन्ध का प्राधान्य है। दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में गोकुल और ब्रज में विहार करने वाले कृष्ण का चरित्र है और उत्तरार्द्ध में कृष्ण के द्वारिका गमन से लेकर उनकी मृत्यु तक की कथा का वर्णन है। सूरदास के आराध्य बालकृष्ण ही थे, अत उन्होंने श्रीकृष्ण के पूर्वार्द्ध जीवन पर ही विशेष प्रकाश डाला। भागवत् का आधार लेते हुए भी सूरदास ने कृष्ण के जीवन का चित्रण नितात मौलिक रूप से किया है। भागवत् के कृष्ण शक्ति के प्रतीक हैं और सूर के कृष्ण इस गुण से समन्वित होते हुए भी प्रेम और माधुर्य की प्रतिमूर्ति हैं। इस प्रेम और माधुर्य की व्यंजना बड़ी ही स्वाभाविक और सजीव हुई है। सूरदास ने कृष्ण के प्रेमपूर्ण जीवन मे जो मौलिकता रक्खी है उसमें निम्नलिखित अङ्गों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

(अ) मनोवैज्ञानिक चित्रण—बाल जीवन की प्रत्येक भावना का जो सूक्ष्म और स्वाभाविक चित्रण सूर ने किया वह उनकी मौलिकता का द्योतक

है। उन्होंने बाल जीवन की विविध मानसिक अवस्थाओं के बड़े ही सुन्दर चित्र खींचे हैं। कृष्ण का जन्म, उनका घुटुअन चलना, मक्खन खाना, सोना, खेलना, खेल में झगड़ना, तुतलाकर बात करना, अपने आप नाचना आदि जितनी बाल मनोभावनाओं का चित्र सूर ने खींचा है वह अपूर्व है। उन्होंने बालक कृष्ण और माँ यशोदा के हृदय की भावनाओं का सार्वभौमिक चित्रण किया है।

(आ) लौकिक आचार—कृष्ण के जन्मोत्सव, छठी, नामकरण, बँधावा आदि लौकिक आचारों का ग्राम्य वातावरण के मध्य में बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन सूर की विशेषता है।

(इ) साम्प्रदायिक विचार—बल्लभाचार्य द्वारा चलाए पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के कारण सूरदास ने कृष्ण की नैमित्तिक क्रियाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। पुष्टि मार्ग के लोग कृष्ण की नैमित्तिक क्रियाओं पर पद रचना किया करते थे। नैमित्तिक कर्म आठ हैं—

१—मंगलाचरण। २—शृङ्गार। ३—गोचारण। ४—राजभोग। ५—उत्थापन। ६—भोग। ७—सन्ध्या-आरती। ८—शयन।

(ई) साहित्यिक परम्परा—सूरदास के पूर्व जयदेव और विद्यापति कृष्ण का वर्णन कर चुके थे, किन्तु उनके कृष्ण शृंगार-रस के आलम्बन हैं। इस साहित्यिक परम्परा में सूर ने अपना मौलिक योग दिया। उनको सूर ने शृङ्गार रस के अतिरिक्त वात्सल्य रस का आलम्बन भी बनाया। शृंगार के वर्णन में भी उन्होंने उसमें धार्मिक भावना का समन्वय करके अपनी मौलिकता परिचय दिया। विप्रलम्भ शृङ्गार के चित्रण में भ्रमर गीत की कल्पना करके सूर ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया। यद्यपि कृष्ण की बाल लीला, भ्रमरगीत आदि का वर्णन भागवत में भी है, किन्तु उसमें सौन्दर्य भर कर सूर ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया।

अन्तिम बात सूरदास ने मुरली के द्वारा आध्यात्मिक सङ्केत करके की है। उन्होंने श्रीकृष्ण की मुरली का योग-माया के रूप में वर्णन किया है। रात में इस मुरली ध्वनि से गोपिका रूपी आत्माओं का आह्वान तथा रास होता है। गोपियों के साथ रास उसी प्रकार है जिस प्रकार असख्य आत्माओं के बीच परमात्मा। सूर ने लौकिक चित्रणों में इसी अलौकिक भावना का समावेश किया है।

सूरदास ने व्रजभाषा साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया। सूरदास की चलाई हुई परम्परा के आधार पर कृष्ण-काव्य का [illegible] व्यापक प्रा-

हुआ कि कई शताब्दियों तक अगणित कवियों की उच्चकोटि की कविताएँ इसी विषय पर बनती रहीं।

भाषा की दृष्टि से भी सूर अपनी विशेषता रखते हैं। उन्होने काव्य में इतः पूर्व अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर और आकर्षण रूप दिया कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारत की कविता का सारा राग, विराग, प्रेम प्रतीति, भजन भाव उसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ। सूरदास का गीति काव्य भी अपनी एक अलग विशेषता रखता है। जो पद निर्गुण उपासना को वहन करते आ रहे थे उनको सूर ने सगुण रस से सरस बना दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास हिन्दी-साहित्य के महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा के दृष्टिकोण से साहित्य को सुसजित किया वरन् कृष्ण काव्य की विशिष्ट परम्परा को भी जन्म दिया।

कृष्ण काव्य की शृङ्गार में परिणति

जिस प्रकार भक्तिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का आधार लेकर उसे अपनी निगूढ़तम भक्ति-भावना का व्यंजक बनाया था उसी प्रकार रीतिकालीन कवि उसे ऐसा सुन्दर तथा पवित्र रूप न दे सके। उनसे राधा-कृष्ण के मधुरतम व्यक्तित्व में निहित सूक्ष्म भक्ति-भावना का निर्वाह न हो सका। रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीलाओं को स्थूल रूप में ग्रहण किया, जिसके परिणामस्वरूप राधा और कृष्ण, जो अलौकिक प्रेम की साक्षातमूर्ति समझे जाते थे, साधारण लौकिक प्रेमियों के रूप में प्रदर्शित किये जाने लगे। वास्तव में यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जिस भक्ति में प्रेम की प्रधानता होती है तथा श्रद्धा अथवा पूज्य बुद्धि का अभाव होता है वह वासना म परिणत हो जाती है। कृष्ण-भक्ति धारा का भी यही हाल हुआ। आचार्य शुक्लजी ने ठीक ही कहा है, 'भक्ति इन्द्रियोपभोग की भावना से कलुषित हो जाती है। भक्ति की निष्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग स होती है। जहाँ श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव—जिसका लगाव धर्म से होता है—छोड़कर केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली जायगी, वहाँ वह अवश्य विलासिता से ग्रस्त हो जायगी।

....वैष्णवों की कृष्ण भक्ति शाखा ने केवल प्रेम लक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लीलता की प्रवृत्ति जगाई।'

शुक्लजी ने एक अन्य स्थल पर भी लिखा है, "जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों (भक्तिकालीन कवि) ने गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी

उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकालीन कवियों के राधा और कृष्ण साधारण नायक और नायिक मात्र रह गए। उनका देवत्व तिरोहित हो गया। वह विद्यापति के राधाकृष्ण के समान पुनः लौकिक रति क्रीड़ा में व्यस्त हो गए। कवियों ने कृष्ण और राधा के लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। इन रीतिकालीन कवियों ने यद्यपि लोक-निन्दा के भय से कृष्ण और राधा को कहीं-कहीं अलौकिक रूप में स्वीकार कर लिया है, किन्तु यह सब धोखा मात्र था। उदाहरण के लिए बिहारी जहाँ श्रीकृष्ण के प्रति अपनी असीम भक्ति भावना का दावा करते थे जैसे कि— कोऊ कोटिक समहौं, कोऊ लाख हजार।

मो सम्पति जदुपति सदा, बिपद बिदारन हार॥

वहां उन्होंने श्रीकृष्ण को पूर्ण कामुक के रूप में भी प्रदर्शित किया। यही हाल देव, पद्माकर आदि अन्य रीतिकालीन कवियों का भी है। कृष्ण-काव्य के शृंगार में परिणत होने के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं—

(१) कृष्ण भक्ति की दार्शनिक जटिलता—

कृष्ण-भक्ति शाखा के काव्य की शृंगार में परिणति का सबसे मुख्य कारण यह है कि कृष्ण भक्ति की पृष्ठभूमि में, जो वल्लभाचार्यजी की आध्यात्मक और दार्शनिक विचारधारा थी, जन साधारण के लिए उसकी प्रतिपत्ति बड़ी ही कठिन थी। वल्लभाचार्य ने कृष्ण को ब्रह्म, गोपियों को मुक्तयोगिन आत्माएँ तथा ब्रह्म को गोलोक मानकर जिन कृष्ण की नित्यलीला की महत्ता प्रतिपादित की उसे वास्तविक रूप से समझना अत्यन्त कठिन था। रीतिकालीन कवियों में भक्ति की श्रेष्ठ भावना का नितान्त अभाव होने से वल्लभाचार्य की भक्ति के शुद्ध रूप को समझने में असमर्थ रहे और श्रीकृष्ण के स्थूल दृष्टि से घोर शृंगारिक दीखने वाले रूप को लेकर उन्होंने वासनामूलक शृंगारी कविताएँ लिखी।

(२) तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ—

कृष्णकाव्य में शृंगारिकता के समावेश हो जाने का दूसरा कारण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें संभव होती हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना अथवा हास-विलास में पड़कर अपनी हार भूल जाना। भक्तिकाल में पहली मनोवृत्ति की प्रधानता मिलती है तथा रीतिकाल में दूसरी भावना की। उस समय के हिन्दू राजा विदेशी तथा विजातीय विजे-

ताओं के हास-विलास में सम्मिलित हो तज्जन्य रूप समता का अनुभव करके हार से व्यथित हृदय की पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे। उनकी इस प्रकृति की छाप तत्कालीन कविता पर भी पड़ी। उस समय के कवियों को विलासिता का प्रदर्शन करने के लिए राधा और कृष्ण के चरित्र से बढ़कर और कौन सा माध्यम मिल सकता था।

(३) कवियों का राज्याश्रय में होना—

रीतिकालीन कवि प्रायः राजाओं के दरबारों में ही रहा करते थे। उन्हें ऐसी कविताएँ प्रस्तुत करनी पड़ती थीं जिन्हें उनके आश्रयदाता राजा पसन्द करते थे। जैसा कि ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि तत्कालीन राजाओं की वृत्ति शृंगारोन्मुखी हो चली थी, अतः कविगण उन्हें प्रसन्न करने के लिए शृंगारी कविताओं की रचना ही किया करते थे।

(४) तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ—

रीतिकाल में केवल राजाओं की वृत्ति ही शृंगारोन्मुखी नहीं हुई वरन् जनता पर भी इसका प्रभाव पड़ा। साधारण जनता के लिए, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, कृष्ण काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझना अत्यन्त कठिन था, अतः उसने श्रीकृष्ण के लौकिक शृंगारी रूप को ही ग्रहण किया। तत्कालीन राजाओं की चित्तवृत्ति के प्रभाव ने इसमें और योग दिया। साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब है, अतः तत्कालीन साहित्य में शृंगारी रूप का विशद् वर्णन हुआ।

(५) शृङ्गार मूलक संस्कृत साहित्य का प्रभाव—

कृष्ण-काव्य के शृंगार में परिणित हो जाने का यह भी एक कारण है कि प्राचीन शृंगारी संस्कृत कवियों की कृतियों का प्रभाव उस पर यथेष्ठ-रूप से पड़ा। रीतिकाल में संस्कृत ग्रन्थों का बहुत कुछ अनुवाद तथा प्रचार हुआ यह तो सबको विदित ही है। उस समय संस्कृत की 'आर्यासप्तशती' तथा 'गाथा सप्तशती' आदि का काफी प्रचार हुआ होगा। इसी प्रकार का प्रभाव तत्कालीन राधा और कृष्ण को लेकर लिखी गई रचनाओं पर भी पड़ा। बिहारी-सतसई पर तो इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त ही है। प० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई के 'सञ्जीवन भाष्य' की भूमिका में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण जो शृंगारिकता कृष्ण-काव्य में आ गई थी उसमें संस्कृत साहित्य की शृंगारी रचनाओं के प्रभाव ने भी योग दिया।

१०—सूर की शृंगार-भावना

(प्रो० राजेन्द्र शर्मा एम० ए०)

जो बात सूर के लिए वात्सल्य रस के विषय में कही जा सकती है वही शृंगार रस के विषय में भी ठीक है। यद्यपि सूर भक्त कवि थे फिर भी शृंगार का जैसा विषद और सांगोपांग वर्णन उन्होंने किया है हिन्दी में कोई दूसरा कवि वैसा नहीं कर सका यहाँ तक कि भक्त-प्रवर तुलसीदास भी इस विषय में सूर की प्रतिद्वन्द्विता में नहीं ठहरते।

भक्त होते हुए भी यदि सूर ने शृंगार का इतना विशद् और मार्मिक वर्णन किया है उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हमारी समझ में इसके दो ही कारण सम्भव हैं—

१—दार्शनिक दृष्टि से रास में कृष्ण के चतुर्दिक नृत्य करनेवाला गोपिका मण्डल वास्तव में गोपिका मण्डल नहीं है अपितु सिद्ध सन्तों की जीवात्मायें हैं। सूर भी उसी मण्डल में सम्मिलित होना चाहते हैं इसलिए शृंगार वर्णन आवश्यक हो गया।

२—गोपियों के विरह वर्णन के द्वारा वे निराकारोपासना की निस्सारता दिखाना चाहते थे इसीलिए उनका वियोग वर्णन जितना मार्मिक और उत्कट है उतना अन्य किसी कवि का नहीं।

रसों में शृंगार रसराज माना जाता है। जीवन के जितने विस्तृत क्षेत्र को यह ढँकता है उतना दूसरा रस नहीं। जीवन के प्रमुखतः दो पक्ष होते हैं। १—सुख पक्ष, २—दुःख पक्ष। शृंगार रस में भी वियोग शृंगार और संयोग शृंगार के रूप में दुख और सुख के दोनों पक्षों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए स्पष्ट है कि शृंगार रस में जीवन अपने सम्पूर्ण विस्तार के साथ समाहित रहता है। इसका स्थायी भाव है रति। रति भी कई प्रकार की मानी गई है; दाम्पत्य रति (शृंगार), संतान विषयक रति (वात्सल्य) और देव विषयक रति (भक्ति)। जितने अधिक सञ्चारी भाव शृंगार रस में होते हैं उतने अन्य किसी रस में नहीं। शास्त्रीय दृष्टि से अधिकांश रस शृंगार के अविरोधी

होत हैं। साराश यह है कि शृंगार रस अपनी असीम परिधि में सपूर्ण जीवन को समेट लेता है इसलिए शृंगार का दूसरा नाम रसराज उपयुक्त ही है।

सूर शृंगार के अद्भुत कवि हैं। उनके काव्य में दाम्पत्य रति (शृंगार) पुत्र विषयक रति (वात्सल्य) और देव विषयक रति (भक्ति) सभी का विशद् एव मार्मिक वर्णन हुआ हैं। किन्तु हम यहाँ विशेष रूप से सूर के दाम्पत्य शृंगार का ही विवेचन करेंगे।

१—सँयोग शृंगार—कृष्ण का बचपन व्रज में ही बीतता है। वे अपने अद्भुत सौन्दर्य के कारण सभी के प्रेम के आलम्बन हैं। सारा व्रज उनके पीछे पागल है। क्या गोपियाँ क्या ग्वाल, क्या युवक क्या वृद्ध, कृष्ण सभी के आँखों के तारे हैं। लेकिन व्रज में कोई ऐसा भी व्यक्तित्व है जो कृष्ण को अपनी ओर खींच लेता है और कृष्ण जिसे देखकर अपने आपको भूल जाते हैं वह व्यक्तित्व राधा का है। एक दिन वे व्रज की गलियों में उन्हें अचानक दिखाई पड़ गई। मानो कोई युगों से भूली उनकी अपनी वस्तु मिल गई हो। प्रथम साक्षात्कार में ही एक दूसरे के हो गए—

खेलन हरि निकसे व्रज खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नैन विशाल भाल दिए रोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगौरी॥

आखिर कृष्ण बिना परिचय पूँछे नहीं रह सके क्योंकि यहाँ तो परिचय बनाने का प्रश्न भी था—

'बूझत स्याम कौन तू गोरी।,
कहाँ रहत काकी तू बेटी।,
देखी नाहि कबहु व्रजखोरी।'

राधा सक्षिप्त सा उत्तर देता हैं—

"काहे को हम व्रजतन आवति
खेलति रहति आपनी पौरी।"

राधा के इधर न आने का एक कारण यह भी है कि उसने सुन रखा है कि इधर कृष्ण नामक एक चोर रहता है—

"सुनत रहत स्रवनन नँद ढोठा, करत रहत माखन दधि चोरी।"

लेकिन कृष्ण कम अनुभवी नहीं हैं, वे राधा को बना लेते हैं—

'तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ सग मिलि जोरी।"

एक तो अलौकिक सौन्दर्य की साकार प्रतिमा, फिर इतने वाक्पटु और विनय की इस मधुरता से तो राधा पिघल ही गई —

"सूर स्याम प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी।"

सूर का शृंगार रस राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण के प्रेम से स्निग्ध है। गोपियाँ कृष्ण का जप करती हैं और कृष्ण राधा का। राधा भी कृष्ण की ओर पूर्ण रूप से आकृष्ट हैं और उसी आकर्षण के प्रवाह में बहकर वे नित्य कृष्ण-गृह में आ जाती हैं, मा यशोदा को कुछ शंका होती है—यह लड़की यहा नित्य प्रति क्यों आती है, वे उससे साफ कह देती हैं ; राधा तुम बार-बार इधर मत आया करो—

"बार-बार तू ह्यां जिनि आवै।"

रूप-गर्विता और प्रेम-गर्विता राधा तो इस प्रकार के वाक्य सुनने की आदी नहीं है। राधा से यह अपमान नहीं सहा जाता। वह मा यशोदा को बड़ा खरा उत्तर देती है और उससे वास्तविक अपराधी को फटकारने के लिए कहती है। उसका कहना है कि यहा आने में वह स्वयं दोषी नहीं है, दोषी हैं कृष्ण जो बिना उसके रह नहीं सकता। राधा उत्तर देती है—

"मैं कहा करौं सुतहि नहिं बरजै, घरते मोहि बुलावै।
मोसों कहत तोहि बिन देखे रहत न मेरो प्राण।
छोह लगत मोको सुनि बानी महरि तिहारी आन॥"

अपनी तो अपनी कृष्ण को दूसरों की गायें भी दुहनी पड़ती हैं। कृष्ण राधा की गाय दुह रहे हैं अचानक राधा दिखाई पड़ जाती है फिर धार का ध्यान भूल जाता है और केवल राधा का ध्यान ही रह जाता है। कम्प सात्विक का इससे सुन्दर उदाहरण और कहाँ मिलेगा—

"धेनु दुहत अति ही रति बाड़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाड़ी।
मोहन करतें धार चलत पय, मोहनि मुख अतिही छबि बाढ़ी"

राधा कृष्ण की इस स्थिति को भाँप लेती हैं और मधुर व्यग्य करती हुई कहती हैं—

"तुम पै कौन दुहावै गैया।
इत चितवत उत धार चलावत, ऐहि सिखायो है मैया॥"

कृष्ण बहुत देर तक वहीं रहते हैं अन्त में राधा उनका ध्यान विलम्ब की ओर आकृष्ट करती है कि अब घर जाने का समय आ गया है लेकिन घर कौन जाय मन तो राधा के पास से जाना नहीं चाहता और अकेला तन घर जाकर करेगा क्या? देखिए सूर संयोग शृंगार का कितना मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हैं—

घर तनु मनहि बिना नहिं जात।
आपु हँसि-हँसि कहत हौं जू, चतुराई की बात॥
तनहि पर है मनहि राजा, जोई करै सो होई।
कहो घर हम जायँ कैसे मन धरयौ तुम गोइ॥

केवल यही नहीं सूर ने सयोग शृ गार क ऐसे न जाने कितने अमर चित्र प्रस्तुत किए हैं जो हिन्दी साहित्य की अमर निधि हैं। राधा कृष्ण के जल-विहार का चित्र लीजिए—

विहरत हैं जमुना जल स्याम।
राजत हैं दोऊ बाहा जोरी, दम्पति अरु ब्रज बाम॥
कोइ ठाड़ी जल जानु जँघ लौं, कोइ करि हृदय ग्रीव।
यह सुख वरनि सकै को ऐसो सुन्दरता की सींव।

सूर के सयोग शृ गार में मुरली का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। रीति कालीन काव्य मे जो कार्य दूती करती है बहुत कुछ वही कार्य सूर काव्य में मुरली करती है। मुरली गोपियों को कृष्ण के निकट आकृष्ट करके ले जाती है। मुरली की ध्वनि कर्णगोचर होते ही गोपियाँ आत्म-विस्मृत हो जाती हैं और ससार के सभी बन्धनों को अमान्य करके वे अबाध कृष्ण की ओर दौड़ने लगती हैं। इसके अतिरिक्त सूर ने मुरली को लेकर गोपियों के मन में एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक भावना का क्रमिक विकास दिखाया है। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि हम जिसे प्रेम करते हैं उस व्यक्ति की प्रत्येक वस्तु हमारे लिए आकर्षण का विषय बन जाती है। प्रिय के भेजे पत्र ही कौन सजीव वस्तु हैं किन्तु अपने प्रिय के साहचर्य और निकटता के प्रकरण में वे सजीव से भी अधिक हो उठते हैं। यही बात मुरली के विषय में भी है। मुरली कृष्ण से अभिन्न रूप से सम्बद्ध है, उनकी वह चिरसहवर्तिनी है। इसलिए गोपिया मुरली को भी प्रेम करने लगती हैं और धीरे-धीरे प्रेम इस कोटि तक पहुँच जाता है कि वे मुरली से कभी प्रसन्न और कृतज्ञ रहती हैं तो कभी उससे मान भी कर बैठती हैं, कारण मुरली कृष्ण के साथ हर समय रहती है और उन्हें इतना अवसर भी नहीं देती कि गोपियों से प्रेमालाप भी कर सकें। गोपियों का वर्ग एक है, उनके स्वार्थ एक हैं, आकांक्षाएँ एक हैं इसीलिए वे सब मिल-कर मुरली के विरुद्ध एक अच्छा खासा मोर्चा बना लेती हैं और उसे पराजित करने की बात सोचती हैं। वे एक स्थान पर मिलकर बैठती हैं और मुरली-चर्चा छिड़ जाती है।

मुरली तऊ गोपालहि भावति।

सुन री सखी जदपि नन्द नन्दन, नाना भाँति नचावति।
राखत एक पाँय ठाड़ो करि अति अधिकार जनावति॥

× × ×

आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर कर पल्लव सन पद पलुटावति।
भृकुटी कुटिल कोपि नासापुट, हम पर कोप कुपावति॥

मुरली को क्या अधिकार कि वह कृष्ण और गोपियों के बीच में आए। यह तो सचमुच असहनीय है। थोड़ी बहुत देर की तो कोई बात नहीं पर यह तो बड़ी समय भक्षक है, कृष्ण से अलग ही नहीं होती और कृष्ण की कृपा भी तो इस पर कम नहीं। वे भी इसे अत्यधिक प्रेम करते हैं, वह निस्संकोच उनके अधरामृत का पान करती है जो अधर रस बड़े बड़ों को दुर्लभ है वह इस मुरली को सहज प्राप्य है। क्या किया जाय, कैसे इस बाधा को मार्ग से हटाया जाय, यह तो एक नई सौत पैदा हो गई है। निर्जीव वस्तु को सजीवता देना और फिर गोपियों की विभिन्न भावनाओं का इसे मधुर आलम्बन बनाना यह सूर ही कर सकते थे देखिये—

अधर रस मुरली लूटन लागी।
जा रस को सटरितु तप कीन्हो, सो रस पियत सभागी।
कहाँ रही कहँ ते आई कौने याहि बुलाई।
सूरदास प्रभु हम पर ताको कीनी सौति बजाई॥

कोई तरकीब नहीं सूझ रही कि इसे मार्ग से हटाया जाय लेकिन प्रसिद्ध है—जहाँ चाह तहाँ राह, आखिर एक तरकीब गोपियों को सूझ ही गई क्यों न इस दुष्टा का अपहरण कर लिया जाय, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी—

सखी री मुरली लीजे चोरि।
छिन इक घर भीतर निसि बासर, धरत न कबहूँ छोरि।
कबहूँ कर कबहूँ अधरनि कबहूँ कटि खोंजत जोरि॥

इस प्रकार सूर का संयोग शृंगार इतना मार्मिक और आकर्षक है कि हिंदी में इसकी तुलना सम्भव नहीं है। लेकिन सूर वियोग शृंगार के वर्णन में भी उतने ही सफल हैं जितने सयोग-शृङ्गार वर्णन में और इसीलिए शृङ्गार रस के ये अद्वितीय कवि हैं, इस क्षेत्र के प्रत्येक कोने को वे झाँक आए हैं।

२—वियोग शृंगार—कृष्ण व्रज को छोड़कर एक दिन मथुरा चले जाते हैं और इस प्रकार संयोग की कहानी पर सदा के लिए पटाक्षेप होजाता है। व्रज रहते कृष्ण वहाँ के कण-कण में बिध गए थे वे व्रज के लिये सचमुच अपरिहार्य थे। जिनकी उपस्थिति से ही व्रजभूमि आलोकित पुलकित रहती

थी उनकी अनुपस्थिति में उस व्रजभूमि की कल्पना बड़ी ही रोमांचक है। कृष्ण का वियोग यदि एक व्यक्ति का ही वियोग होता तो बात दूसरी थी पर उनका वियोग तो व्रज के प्राणों का ही वियोग था जिसके अभाव में सम्पूर्ण व्रज निर्जीव एवं निष्प्राण हो गया। सूर को यह अद्भुत सुविधा प्राप्त थी कि जिनको लेकर उनका सयोग शृंगार आनन्द और केलि से जितना ही अधिक सुवासित था उन्हीं कृष्ण की अनुपस्थिति ने उनके वियोग शृंगार को उतना ही तीव्र और मार्मिक बना दिया।

मथुरा पहुँचने पर कृष्ण व्रजबालाओं को और सर्वोपरि राधा को भूल नहीं जाते। वे उनकी विरह व्यथा की सहज ही कल्पना करने की स्थिति में थे। वे जानते थे कि व्रज आज असहनीय दुःख म लिप्त है। इसलिए उसे कम करने की इच्छा से उन्होंने अपने ज्ञानमार्गी सखा उद्धव को व्रज भेजने का निश्चय किया जिससे वे गोपियों को ज्ञान का सन्देश देकर उन्हें स्वस्थ चित्त बना सकें और उनकी विरह व्यथा को कुछ कम कर सकें। यद्यपि इस उद्देश्य सिद्धि के परिणाम से वे पहले ही अवगत थे लेकिन यह सोचकर कि उद्धव के ज्ञानदंभ का ही कुछ परिहार हो जायगा उन्होंने उद्धव को व्रज भेजने का निश्चय कर लिया।

उद्धव अपनी ज्ञान गठरी लेकर व्रज पहुँचे और उन्होंने गोपियों को समझाया कि जिस कृष्ण को तुम प्रेम करती हो वह कोई व्यक्ति नहीं है अपितु साक्षात् ब्रह्म है। वह काल और स्थान के बन्धन में बँधने वाला सामान्य प्राणी नहीं है अपितु इन सब का नियन्त्रण करने वाला सर्वेश्वर है, इसलिए वे गोपियों को अपने जाने सत्परामर्श देते हैं कि कृष्ण का लोभ छोड़कर तुम परब्रह्म का ही ध्यान करो उसी से तुम्हें शांति मिलेगी। परन्तु गोपियाँ अत्यन्त अबोधता के साथ उद्धव से प्रश्न करती हैं—

"लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटै।"

गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम ऐसा नहीं है जो प्रथम दर्शनमात्र का हो उसके पीछे तो सतत साहचर्य की सुविस्तृत पृष्ठभूमि है। उसकी उपेक्षा कैसे की जाय? इस प्रेम की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उद्धव की ज्ञान वायु में प्रेम का यह पौधा निर्मूल नहीं हो सकता।

उद्धव फिर भी थकते नहीं हैं। उन्हें अपने ज्ञान पर आवश्यकता से अधिक विश्वास है, उसे दंभ की संज्ञा भी दी जा सकती है। उद्धव अध्यापक की भाँति ज्ञान के महत्त्व पर अपना भाषण प्रारम्भ करते हैं किन्तु श्रोता मण्डली उससे बिलकुल प्रभावित नहीं होती। गोपियाँ समझती हैं यह कोई विक्षिप्त मनुष्य

है किसी की कुछ सुनता ही नहीं अपनी ही कहे जा रहा है। अत्यन्त सङ्कोच के साथ आखिर गोपियाँ उद्धव से कह ही देती हैं, उद्धव आप अपनी चिकित्सा कराइये, आपकी मनःस्थिति अच्छी नहीं प्रतीत होती आपको तो अच्छे-बुरे का विवेक भी नहीं रहा है—

ऊधौ तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागत, कत बेकाज ररौ॥
जाइ करौ उपचार आपनो हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुए कहि डारत धुनि देखियत नहिं नीकी

गोपियों की दशा कृष्ण वियोग में चिंतनीय हो गई है। कृष्ण की उपस्थिति में प्रकृति की जो वस्तुएँ जितनी मादक और सुखपूर्ण प्रतीत होती थीं अब वे उतनी ही दाहक और दुःखपूर्ण प्रतीत होती हैं।

बिनु गुपाल बैरिन भई कुँजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुँजैं।
बृथा बहति यमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं॥
पवन पानि घनसार सजीवन दधिसुत किरन भानु भई भुंजैं।
कहियो पथिक जाइ माधव सो मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं॥
सूरदास प्रभु तुमरे दरस कौं मग जोवत अँखियाँ भईं गुंजैं॥

जागते हुए सुख की कल्पना भी गोपियाँ नहीं कर सकतीं परन्तु अब तो स्थिति इतनी विषम हो गई है कि स्वप्न में भी विरह उनका पीछा नहीं छोड़ता और अत्यन्त कष्ट देता है। देखिए सूर ने निम्नाङ्कित पंक्तियों में विरह का अगाध समुद्र भर दिया है—

हमकौं सपनेऊ में सोच।
जा दिन ते बिछुरे नन्द नन्दन ता दिन ते ये पोच।
मनु गुपाल आए मेरे गृह हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिन भई निंदिया निमिष न और रही।
ज्यौं चकई प्रतिबिंब देखिकै आनन्दी प्रिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर विधाता, चपल कियो जलआनि

कृष्ण जब से मथुरा गए हैं गोपियों के आँसू बन्द नहीं हुए हैं, बरसात की भाँति वे निरन्तर झरते रहते हैं—

निश दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हमपै, जबतैं स्याम सिधारे॥

दग श्रंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भए कारे।
कसुकि नहिं सूखति सुनि सजनी उरबिच बहत पनारे।

विरह की दस दशायें मानी गई हैं, १—अभिलाषा, २—चिन्ता, ३—स्मरण, ४—उद्वेग, ५—प्रलाप, ६—उन्माद, ७—व्याधि, ८—जड़ता, ९—मूर्छा, १०—मरण।

इन सभी अवस्थाओं को सूर ने गोपी विरह में दिखाया है इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से भी सूर का वियोग शृंगार निर्दोष है। प्रत्येक स्थिति का एक-एक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगाः—

१—अभिलाषा—

निरखत अङ्क स्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलिकै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।

२—चिन्ता—

मधुकर ये नैना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमल नयन को प्रेम मगन भए भारे।

३—स्मरण—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नन्दलाल कहीं।

४—उद्वेग—तिहारी प्रीति-किधौं तरवारि।
दृष्टिधार करि मार साँवरे, घायल सब व्रज नारि।

५—प्रलाप—

कैसे पनघट जाऊँ सखीरी, डोलों सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चली है, इन नैनन के नीर
इन नैनन के नीर सखी री सेज गई घर नाँउ।
चाहति हौं याही पै चढ़ि कै स्याम मिलन को जाँउ॥

६—उन्माद—

माधव यह व्रज को व्यौहार
मेरो कह्यो पवन को भुस भयौ गावत नन्द कुमार।
एक ग्वालि गोधन लै रेंगति, एक लकुट करि लेति।
एक मंडली कर बैठारति छाक बाटि कै देति।

७—व्याधि—

ऊधो जू मैं तिहारे चरन लागौं· बारक या व्रज करवि भाँवरी।
निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै, मग जोवत भइ दृष्टि झाँवरी॥

८—जडता—

बालक सग लिये दधि चोरत, खात खवावत डोलत।
सूर सीस सुनि नौंक्त नावहिं, अब काहे न मुख बोलत

९—मूर्च्छा—

सोचति अति पछिताति राधिका मूछित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें बिथा न जाति सही॥

१०—मरण—

जब हरि गवन कियौ पूरब लौं, तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जरिके भस्म ह्वै निवरयौ बहुरि मसान जगाओ॥
मेरे मनोहर आनि मिलाओ कै लै चलु हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यौ है पाप तिहारे माथे।

इतना अवश्य है कि सूर ने जितने विस्तार से गोपियों के विरह का वर्णन किया है उतने विस्तार से कृष्ण के विरह का नहीं। इसका दार्शनिक कारण ही सम्भव है। कृष्ण पर ब्रह्म हैं वे जीवात्मा का विरह क्या अनुभव करेंगे? गोपियाँ जीवात्माओं की प्रतीक हैं अत उनका विरह दार्शनिक दृष्टि से भी न्याय सगत है। लेकिन सूर ने जहाँ तहाँ कृष्ण के हृदय को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

कृष्ण यद्यपि मथुरा आगए हैं राजसी ठाठबाट में रहते हैं और राजनैतिक घटना बाहुल्य के कारण अब उन्हें इतना समय नहीं है कि एक बार ब्रज जाकर वहाँ के निवासियों की दशा देख आयें किन्तु उनके हृदय में गोप-गोपियों के प्रति अपार प्रेम है। वे इसका स्पष्टीकरण उद्धव के समक्ष करते भी हैं—

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हस सुता की सुन्दर कगरी, अरु कुजन की छाहीं।
वे सुरभी वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं
यह मथुरा कचन की नगरी मनि मुकताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तन नाहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि सूर का वियोग शृङ्गार तथा सयोग शृगार का वर्णन सागोपाग एव मार्मिक है और सूर इस क्षेत्र के एकछत्र अधिपति हैं।

११—सूर की वात्सल्य-भावना

(श्री वासुदेव शर्मा एम० ए०)

भक्त प्रवर सूरदास जी ने वात्सल्य को भी भक्ति में बहुत उच्च स्थान दिया है। वात्सल्य स्नेह मनुष्य मात्र की एक सहज प्रवृति है; साथ ही मनुष्य को संसार में लिप्त कराने के लिए सन्तान का मोह भी एक ऐसा प्रबल कारण है, जिसका अति क्रमण करना इसलिये समीचीन है कि इस प्रवृत्ति को भी श्री कृष्णोन्मुख कर के परिष्कृत रूप दे दिया जाय। 'वार्ता' के अनुसार सूर को दीक्षा देते समय महाप्रभु वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की बाल लीला पर ही उनका ध्यान आकृष्ट किया था। आचार्य जी ने बालकृष्ण को इष्टदेव के रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने कृष्ण लीला पर जितना बल दिया उतना अन्य सम्प्रदाय वालों ने न दिया। लीलागान ही उनकी भक्ति थी। फलतः सूरदास जी ने भी वात्सल्य भाव के ही पद रचकर उन्हें सुनाये थे। इधर श्रीमद्भागवत भी कृष्ण की बाल लीला का चित्रण था। सूरदास जी ने पुष्टि सम्प्रदाय से प्रेरणा तथा भागवत से आधार लेकर कृष्ण के ब्रह्म रूप और बाल चरित्र का अत्यन्त विशद, विस्तृत और स्वाभाविक चित्रण किया और उसके द्वारा यशोदा एव नन्द के वात्सल्य भाव की सरस तथा मधुर अभिव्यक्ति की।

यशोधा-कृष्ण सम्बन्ध की कथा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) जब कृष्ण माता यशोदा के समक्ष ब्रज में थे और (२) जब वे मथुरा चले गये। इनको हम क्रमशः संयोग व वियोग वात्सल्य कह सकते हैं। सूरदास ने इनके दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण किया है। वात्सल्य (वियोग) के सम्बन्ध में उनके पद अधिक नहीं उन्होंने तो वात्सल्य (संयोग) पर ही अपनी कलम का कमाल दिखाया है। उन्होंने मातृ हृदय की प्रत्येक परिस्थिति का बड़ा सूक्ष्म चित्रण किया है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को यशोदा के व्यक्तित्व में मिलाकर श्रीकृष्ण की बाल-लीला में भाग लिया है। यशोदा-कृष्ण के प्रसङ्ग में ही स्वय सूर के वात्सल्य पूर्ण हृदय का भी चित्रण हो गया है।

रस की निष्पत्ति में स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव व सचारी भावों की आवश्यकता होती है। वात्सल्य-रस में स्थायी भाव बालप्रेम है। आलम्बन बालक, आश्रय माता, उद्दीपन बालक का शारीरिक सौन्दर्य, बुद्धि-कौशल बालकेलि आदि, अनुभाव, प्रसन्नता, हास्य, गोद लेना, चूमना आदि, सचारी भाव पुलक, स्मृति, हर्ष आदि है। सूर ने वात्सल्य रस के अग प्रत्यग का, वर्णन किया है। यहाँ आलम्बन कृष्ण हैं, आश्रय यशोदा, उनकी लीलायें उद्दीपन, यशोदा का प्रसन्न होकर हँसना आदि चेष्टायें अनुभाव हैं।

सूर का बाल मनोविज्ञान का ज्ञान उन्हें वात्सल्य रस की सृष्टि में सहायता देता है। यद्यपि बाललीला में कहीं कहीं अद्भुत रस भी आ गया है पर वह प्रधान नहीं, गौण है, अतएव खटकने वाला भी नहीं। इस सामान्य विवेचन के बाद हम वात्सल्य रस का आस्वादन करें।

श्रीकृष्ण ने सुन्दर वस्त्र आभूषण धारण किये हुए हैं। यशोदा के हृदय में जो सुख उमड़ता है उसके दर्शन कीजिये—

आँगन श्याम नचावहि यशुमति नँदरानी।
तारी दें दे गावहि मधुरी मृदुबानी॥
पायन नूपुर बाजई, कटि किंकनि कूजै।
नन्हीं एड़ियन असलता फल बिम्ब न पूजै॥
× × × ×

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसर धूरि घुटुरुयन रेंगनि बोलनि वचन रसाल की॥
छिटकि रहीं चहुँ दिशि जु लटुरियाँ लटकन लटकत भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कण्ठ कमल दल माल की॥
कछु के हाथ, कछू मुख माखन, चितवनि नयन विशाल की।
सूरज प्रभु के प्रेम मगन भई दिग न तजति ब्रज बाल की॥

यशोदा या गोपियाँ कृष्ण के इस सौंदर्य को देखकर कृष्ण का सामीप्य नहीं छोड़ना चाहतीं। एक अन्य उदाहरण लीजिये—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मणिमय कनक नन्द के आँगन मुख प्रतिबिम्ब पकरिवे धावत॥
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह को करसों पकरन को चित चाहत।
किलकि हँसत राजति द्वै दतियाँ पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत॥

इस पद में अपने मुख के प्रतिबिम्ब को देखकर बालकृष्ण का उसे पकड़ने

कि वह स्वाभाविक बाल दशाओं के चित्रण द्वारा पाठकों के मन में सहज ही रसोद्रेक कर देते हैं।

अब निम्न पद में बालकों को सुलाने का एक दृश्य देखिये :—

यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै॥
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं वेगिहि आवे तो को कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं कबहु अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि सैन बतावै॥
इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि यशुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनि पावै॥

बच्चों को सुलाने के लिये गीत गा-गा कर पालने में झुलाना और धीरे-धीरे थपकी देना अचूक साधन है। यशोदा भी यही कर रही हैं। इसमें घरेलू बातें हैं, बात सामान्य सी है, पर इसी सामान्य का सूर ने कितनी सजीवता से वर्णन किया है।

सूरसागर में ऐसे दृश्यों की कोई कमी नहीं, जिन्हें देख दर्शक तृप्त नहीं होते। बालदशा के न जाने कितने विभिन्न रूप सूर को अपनी बन्द आँखों से दिखाई देते थे। एक और चित्र देखिये। बालकृष्ण आगन में घुटने के बल चल रहे हैं। नन्दरानी उसे देखती हैं। कृष्ण कभी हँसते हैं कभी गिर पड़ते हैं। नन्द इस दृश्य को देख परम आनन्दित होते हैं।

माता मन में अभिलाषा करती थी कि कृष्ण चलने लगें, आज अपनी उस अभिलाषा को पूर्ण होता देख वह मन में प्रसन्न होती है, कृष्ण की शोभा भी वरणी नहीं जाती—

कान्ह चलत पग दै-दै धरनी।
जो मन में अभिलाष करत ही सो देखत नन्द घरनी।
रुनुक झुनुक नूपुर बाजत पग यह है अति मन हरनी।
बैठि जात पुनि उठत तुरत है सो छवि जात न बरनी।

श्रीकृष्ण का बाल छवि का और चित्र देखिये—

शोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत, रेनु मंडित तन मुख दधि लेप किये।

× × ×

मेरो माई ऐसो हठी बाल गोविन्दा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन को माँगै चन्दा।

श्रीकृष्ण की इस बाल छवि में जहाँ अनुपम शारीरिक सौन्दर्य प्रकट हुआ है, वहाँ उसमें आन्तरिक बुद्धिचातुर्य भी कम नहीं। कृष्ण एक दिन सन्ध्या समय माखन चोरी के लिए एक घर मे घुस गए। दही में हाथ डाला ही था कि गोपी ने आकर पकड़ लिया। गोपी कहती है :—

श्याम कहा चाहत से डोलत।
बूझे हुते बदन दुरावत सूधे बोल न बोलत॥
सूने निपट अँधियारे मन्दिर दधि भाजन में हाथ।
अब कहि कहा बनै ही उत्तर कोऊ नाहि न साथ॥

कृष्ण अपनी सहज बुद्धि चातुर्य से उत्तर देत हैं—

मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोके में आयो।
देखत हो गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो॥

यह उत्तर सुनकर गोपी मुस्कराने लगी:—

सुनि मृदु वचन निरखि मुख शोभा ग्वारिनि मुरि मुसकानी॥

कृष्ण ने माखन चोरी की। मौके पर पकड़े भी गये। अब उसे छुपाना भी है। अपनी माखन चोरी को कृष्ण किस भांति छुपात हैं। इसका भी एक उदाहरण देखिये:—

मैया मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही सींके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछ कहत नन्द नन्दन दोना पीठि दुरायो।
डारि सांटि मुसुकाई तबहि गहि सुत को कठ लगायो॥

एक बार कृष्ण बलदाउ के साथ खेलने चले गये। खेलते खेलते झगड़ा होगया और बलराम कह बैठे "तुझे तो दाई को पैसे देकर मोल लिया है।" कृष्ण रोते माँ के पास आये और कहने लगे :—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजाओ।
मोसों कहत मोल को लीनों तू जसुमति कब जायो।
कहा कहो इहि रिस के मारे खेलन हा नहि जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तात॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी तू कत श्याम सरीर।

चुटकी दे दे हँसत ग्वाल सब सिरी देत बलवीर ॥
× × × ×
खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहि मोहि देखत लरिकन संग तबहि खिजत बल भैया ॥
मोसों कहत पूत बसुदेव को देवकी तेरी मैया ।
मोल लयो कछु दै बसुदेव् को करि करि जतन बढ़ैया ॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत ।
सूर श्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत ॥

मातृ हृदय की अभिव्यंजना जितनी इसमे हुई है शायद ही कहीं अन्यत्र हो। गोपियाँ नित्य यशोदा को उलहना कृष्ण की चोरी का देती थीं। एक दिन माता ने उन्हें ऊखल से बाँध दिया। जब वे हिचकियाँ भर-भर रोने लगे तो गोपियाँ यशोदा को निष्ठुर कहने लगीं। इस पर यशोदा कहती हैं—

कहनि लगी अब बढ़ि-बढ़ि बात ।
ढोटा मेरो तुमहि बँधायो, तनिकहि माखन खात ।
× × × ×
मेरे लाल को प्राण खिलौना ऐसे को ले जैहै री।
नेंक सुनत जो पैहौं ताकों, सो कैसे ब्रज रहै री ॥

मातृ हृदय की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है इस पद में।

यह तो हुई कृष्ण के ब्रज मे रहने तक की बात। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर जो कुछ माता यशोदा कृष्ण को याद करती हैं और उसमें अपने को भुला देती हैं, उससे वत्सलता की रही सही कमी भी पूर्ण हो जाती है। वे कृष्ण से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं को देख उन्हें स्मरण करती हैं और कहती हैं :—

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब वैसे ही धरयो रहै ।
को उठि प्रात होत लै माखन, को कर नेत गहै ॥
सूने भवन यशोदा सुत के गुनि गुनि सूल सहै ।
\+ + + +
निसि बासर छतियाँ लै ल्याऊँ,
बालक लीला गाऊँ ॥
वैसे भाग बहुरि फिरि ह्वै है,
मोहन मोद खवाऊँ ॥

मातृ हृदय का एक अन्य उदाहरण देखिये। यशोदा पथिक से कहती हैं:-

सँदेसो देवकी सौं कहियो।
हौं तौ धाय तिहारे सुत की मया करति ही रहियो॥
यद्यपि टेव जानि तुम उनकी तऊ मोही कहि आवै।
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनों अरु तातो जल ताहि देखि भजि जात।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती क्रम-क्रम के न्हाते॥

वात्सल्य रस के अन्तर्गत यशोदा के हृदय का जो इतना चित्रण हुआ है उसका कारण यह है कि वात्सल्य का पूरा-पूरा अनुभव मातृ हृदय को ही होता है। कृष्ण के सयोग व वियोग दोनों अवस्थाओं में कृष्ण उसके प्राण हैं। सयोग के अवसर पर उसे वियोग की तनिक भी चिन्ता नहीं और वियोग में उनके गुणों को भूल नहीं पातीं। उनका वात्सल्य जब पूर्णता को प्राप्त होता है तो वह पति प्रेम के भी ऊपर उठ जाती हैं। वे नन्द को उलाहना देती हैं कि उन्होंने भी दशरथ के पथ का अनुसरण क्यों नहीं किया। सूरदास की ही यह श्रेष्ठता है कि वह इसको पूर्णतया अभिव्यक्त करने में सफल हुये। इस प्रकार हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि सूर ने वात्सल्य का कोना-कोना झाँका है और उसका उद्घाटन पूर्णता से किया है।

१२—रीतिकाल और घनानन्द

(श्री राम वाशिष्ठ एम० ए०)

रीतिकाल में कृष्ण और राधा का रूप—घनानन्द का प्रादुर्भाव जिस समय हुआ उस समय हिन्दी-साहित्य का वातावरण शृंगार से आप्लावित था। सर्वत्र शृङ्गार की धारा में ही कवि लोग डुबकी लगाकर अपने कवि-कर्म को सफल बना रहे थे। भक्ति, योग और अन्य उपासना पद्धतियों का जोर समाप्त हो चुका था। अब न तुलसी की राम-काव्य की धारा ही दिखाई देती थी और न कबीर, दादू आदि सन्तों की बानी का ही स्वर सुनाई देता था, न सूर के माखनचोर और पैर में पैंजनी बाँधकर नाचने वाले कृष्ण का बालरूप ही दृष्टिगोचर होता था। कृष्ण का जो रूप मिलता था वह शृंगार में लथ-पथ और भोग-विलास में रँगा एक ऐसा रूप था जो तात्कालिक कुत्सित विचार-धारा के किसी भी युवक का रूप हो सकता था। अब कृष्ण का पतित पावन, दुष्ट-संहारक और ललितकलाओं के प्रचारक का रूप नहीं था वरन् एक विलासी और लम्पट नायक के रूप को ही कृष्ण नाम से सम्बोधित किया जाने लगा था। राधा भी कृष्ण के समान ही अपने पद से च्युत हो चुकी थीं। उनको भी साधारण नायिका का रूप देकर उनके उस प्रेमतत्व की अनुभूति को समाप्त कर दिया गया था जो शताब्दियों से हिन्दू जनता को एक गम्भीर भाव-धारा में निमज्जित करती चली आ रही थी। घनानन्द का रचनाकाल ऐसे समय म हुआ जिस समय साहित्य में अनेकों धारायें शृङ्गार के सागर को भरने का प्रयत्न कर रहीं थीं। उन सब धाराओं के मूल में शृङ्गार भावना की ही प्रधानता थी।

तात्कालिक मुख्य प्रवृत्तियाँ—उस समय प्रधान रूप से काव्य-शास्त्र के अनेकों भेद-प्रभेदों की नाना प्रकार से व्याख्या हो रही थी। रस, अलकार, ध्वनि आदि को ही काव्य म प्रधान रूप से स्वीकार कर लिया गया। नायिका भेद, नखशिख वर्णन, ऋतु वर्णन तथा छन्दों मे कवित्त, सवैये, दोहा आदि को प्रधानता दी गई। शृङ्गार रस को रस-राजत्व दिया गया। भक्ति और उपासना को अधिक महत्व नहीं दिया। यदि उस काल में भक्ति का रूप कुछ

मिलता भी है तो वह भी शृङ्गार की भावना से ओतप्रोत और निम्न स्तर का ही है। भक्ति की उस विभोरता और रसमयता का चित्र केवल कुछ कवियों में ही मिलता है। घनानन्द आदि कवियों ने कृष्ण और राधा विषयक कुछ कवितायें लिखीं लेकिन उनमें भी उनकी मनोवृत्ति शृंगार के रूप को दिखाने की ओर ही अधिक रही है। लौकिक प्रेम का स्पष्टीकरण इन कवियों के द्वारा भी अधिक किया गया।

भक्तिकाल के कवियों ने काव्य के आन्तरिक सौंदर्य को देखने का ही प्रयत्न किया था। उनके काव्य में उनकी आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति थी। किन्तु इस काल के कवियों ने अपनी कविता राज्याश्रय में ही लिखी इसलिए उन्होंने अपने स्वामियों की प्रसन्नता के लिये चमत्कार की ओर ही अपना ध्यान अधिक रखा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनकी कविताओं में कहीं-कहीं भाव भी उच्चकोटि के हैं किन्तु उनकी ओर ध्यान अधिक नहीं। देव अवश्य एक ऐसे कवि थे जिनमें हम रीतिकालीन नियमों की मान्यता के होते हुये भी भावपक्ष भी गौण नहीं पाते। कहीं-कहीं तो उनके काव्य में भक्त कवियों की-सी ही तन्मयता प्रतीत होती है।

सतसई लिखने की एक परम्परा सी चल पड़ी थी। बिहारी, मतिराम आदि अनेक कवियों ने सतसइयों की रचना की जिनमें शृंगार रस को ही प्रमुखता दी गई।

इस काल में लक्षण ग्रंथों की परिपाटी चल पड़ी। कवि लोग कविता को केवल नायिकाओं के लक्षण और भेदों के ही लिये लिखते थे। इस काल की विशेषताओं के विषय में आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार अपना मत दिया—'रीति ग्रंथों की इस परम्परा के द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और सीमित सी हो गई। उसका क्षेत्र सकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर दृश्य रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गये। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत कम रह गया।'

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि रीतिकालीन कविता में अनेकरूपता नहीं थी। वह केवल कुछ बँधी हुई परिपाटियों पर ही चलने लगी। कविता की सफलता इसी में थी कि वह पिंगल आदि के लक्षणों से युक्त हो

श्रोर उसम कोई भी ऐसा दोष न हो जो कि काव्यशास्त्र के नियमो के प्रतिकूल हों। यही कारण था जिससे कवि लोग अपनी कविता की सफलता अपने ही मुख से घोषित करने लगे—

राखति न दोषै पिंगल के लच्छन कौं,
बुध कवि के जो उपकण्ठ ही बसति है।
जोए पद मन कौं हरष उपजावति है,
तजै को कनरसै जो छन्द सरसति है॥
अच्छर है विशद करति उपै आप सम,
जातै जगत की जड़ताऊ बिसरति है।
मानो छवि ताकी उदवत सविता की सेना—
पति कवि ताकी कविताई विलसति है॥

ऊपर का कवित्त सेनापति का है। कवि अपने कला कौशल पर स्वयम मुग्ध है। किन्तु यदि उसके इस कवित्त को देखा जाय तो इसम केवल श्लेष का चमत्कार है वह भी बड़ी खींचतान के साथ। अन्यथा कवि किसी भी प्रकार के भाव को इस कवित्त म नहीं दिखा सका। लेकिन फिर भी सेनापति कवि का स्थान रीतिकालीन कवियों में अपनी विशेषता रखता है क्योंकि उन्होंने रीति म बद्ध होकर ही कविता लिखी थी और उस काल की जनता कविता के वाह्य आवरणों की सजावट पर ही मुग्ध थी इसलिये सेनापति भी रीतिकाल के प्रमुख कवियों के अन्तर्गत ही माने गये।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि घनानन्द के काल की मुख्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ थीं—(१) काव्य के विभिन्न अगों का लक्षण और उनका उदाहरण सहित विवेचन होता था। नायिकाओं के भेद और प्रभेदों को भी काव्य में प्रमुख स्थान था। नखशिख वर्णन का प्राधान्य था। (२) मुख्यरस शृ गार था। शृ गार के सयोग और वियोग पक्षो को कवियों ने अनेक प्रकार से वर्णित किया है। (३) अलकारों के द्वारा अर्थ म चमत्कार विधान करने का प्रयत्न रहा। (४) नारी के प्रति सामन्तवादी दृष्टिकोण था। वह पुरुष के भोग की वस्तु थी। उसके सामाजिक *अधिकारा का पक्ष गौण* था। (५) राधा और कृष्ण की प्रेमाभक्ति के स्थान पर नायक और नायिकाओं की विलास प्रियता ही प्रधान थी।

स्वच्छन्द कवि घनानन्द—ऐसी परिस्थितियों में ही महाकवि घनान द उत्पन्न हुये। किन्तु उन्होंने शृ गार के उदात्त रूप को ही लिया और प्रेम की ऐसी तान छड़ी जिसने सम्पूर्ण रीतिकालीन वातावरण की नीरसता का दूर कर

दिया जो एक बँधी हुई परिपाटी के कारण उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने अपने भग्न हृदय की ऐसी सच्ची और सरल अभिव्यक्ति की कि उस समय के कला-पारखियों ने उनके काव्य को रीतिकालीन काव्य से अधिक महत्त्व दिया। घनानन्द का काव्य किसी प्रकार की सकुचित सीमाओं के बन्धनों मे नहीं था। इसको किसी सँकरी और गन्दी गली म नहीं चलना था वरन् एक प्रशस्त राजमार्ग का अवलम्बन करना था। घनानन्द को किसी राजा और सामन्तों की प्रशसा या प्रसन्नता के लिये अपने काव्य का सृजन नहीं करना था वरन् अपने हृदय की कोमल और उदात्त भावनाओं को जनता के समीप पहुँचाना था। यही कारण है कि उनकी कविता मे भावोद्रेग को ही प्रधान रूप मिली।

घनानन्द की विशेषता—रीतिकालीन कवियों और उनके काव्य से यदि घनानन्द और उनके काव्य की तुलना की जाय तो घनानन्द मे और उन रीतिकालीन कवियों के काव्य मे जमीन आसमान का अन्तर है। रीतिकालीन कवियों की मुख्य प्रकृति थी कि उनम भक्ति की विभोरता और तन्मयता का कहीं नाम नहीं था। केवल नायिकाओं के भोग-विलास, अभिसार और अन्य चेष्टाओं का वर्णन ही उनका मुख्य कविकर्म था किन्तु घनानन्द म ऐसी कोई भी बँधी परिपाटी नहीं थी। उनका काव्य उनके हृदय की मुक्तावस्था में ही अभिव्यजित किया गया था इस कारण उसम अन्त वृत्तियों का आलोडन-विलोडन ही अधिक था। हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को प्रत्यक्ष रूप देने में घनानन्द को जो सफलता मिली उसके विषय म रीतिकाल के कवियों का कोई ध्यान भी नहीं था। उनका काव्य तो उनके चमत्कारिक प्रयोगों का अखाड़ा मात्र था। ठाकुर कवि ने इन रीतिकालीन कवियों के विषय में उचित ही कहा था—

सीखिलीनो मीन मृग खजन कमल नैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप की कहानी है।
सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चितामनि,
सीखि लीनो मेरु औ कुवेर गिरिआनी है॥
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानी है।
ढेल लो बनाय, आप मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानी है॥

अलकारों की पिटी-पिटाई लीक पर ही कवि लोग अपना ध्यान केन्द्रित किये हुए थे। स्त्रियों के अ गों को कवियो ने अनेक रूपो से चित्रित करके

काव्य का उद्देश्य ही सम्भवतः नखशिख को ही बना लिया था। भाषा की सजीवता, शब्दों का सुन्दर चयन सभी कुछ इन रीतिकालीन कवियों में अपने चरमोत्कर्ष पर था किंतु भाव-प्रवणता और भाव-गाम्भीर्य का जहाँ तक प्रश्न था वह इन कवियों में न्यून मात्रा में ही था। काव्य के वाह्य आवरण को सजाने में ही इन कवियों की प्रतिभा समाप्त हो जाती थी। शृंगार की उथली नालियों में ही यह कवि लोग अपनी प्रतिभा को नष्ट कर देते थे। यदि उस काल में स्वतन्त्र शृङ्गार रस के गभीर सागर में किसी ने डुबकी लगाई तो वह केवल कतिपय कवि थे। उनमें बोधा, ठाकुर और घनानन्द का नाम प्रमुख है। यह सम्पूर्ण कवि अपनी सच्ची अनुभूति को अभिव्यक्त करने के कारण उस काल में भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने में समर्थ हुये। प्रेम की गम्भीर और स्वाभाविक पीर का जितना सुन्दर समन्वय इन कवियों के काव्य में मिलता है उतना उस काल के कवियों में देखने को नहीं मिलता। केवल देव ही एक ऐसे कवि अवश्य हैं जो रीतिकालीन वातावरण में भी अपनी मौलिकता को नहीं छोड़ सके। किंतु उन पर भी रीतिकालीन उन मान्यताओं का प्रभाव था। इस कारण उनको रीति काल के कवियों के अन्दर ही स्थान मिला।

घनानन्द ने अपने काव्य को किसी भी परिपाटी एवं परंपरा के आधार पर नहीं रचा वरन् उन्होने तो अपने हृदय के उन उद्गारों को अभिव्यजित किया जिन्होंने उनको दिल्ली के भोग-विलास के वातावरण से हटाकर वृन्दावन की धूलि में लोटने को विवश कर दिया। घनानन्द की कविता हृदय के सच्चे भावोल्लास के रूप में निस्सरित हुई। उन्होंने उसको लिखने का प्रयास नहीं किया वरन् वह स्वत. ही उनके मुख से निकलकर उनके हृदय के भावोल्लास को रसिकों के सन्मुख प्रकट करने लगी। घनानन्द ने स्वय ही कहा है–

तीछन ईछन बान बखान सी,
पैनी दसान लै सान चढ़ावत।
प्रानन प्यारे भरे अति पानिप,
मायल घायल चोप चढ़ावत॥
यौं घन-आनन्द छावत भावत,
जान सजीवन ओर सों आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत॥

शृंगार रस का उदात्त रूप—इसमें कोई सन्देह नहीं कि घनानन्द ने

भी रीतिकालीन कवियों की भाँति शृंगार रस को ही अपने काव्य का चरम लक्ष्य रखा किंतु उनके शृंगार और रीतिकालीन कवियों के शृंगार में एक बहुत बड़ा अन्तर था। रीतिकालीन कवियों ने भाव को उतनी प्रमुखता नहीं दी जितनी कि वस्तु व्यजना को।

घनानन्द का काव्य समग्र रूप से भावाभिव्यंजन को लेकर ही चला है। उसमें प्रेम के चरमोत्कर्ष की झाँकी ही अधिक मिलती है। भावों के आलोड़न विलोड़न की ओर ही कवि का ध्यान अधिक गया है। रीतिकालीन कवियों की तरह वह भाषा, अलकार और चमत्कार के विधान की ओर अधिक आकर्षित नहीं हुए।

रीतिकालीन कवियों ने राधा और कृष्ण को अपने काव्य का आलम्बन बनाया था किन्तु उन्होंने राधा को साधारण नायिका और कृष्ण को सामान्य नायक के रूप में ही चित्रित किया। किन्तु घनानन्द ने कृष्ण और राधा के उस पवित्र रूप को लिया जिसमें प्रेम-तत्व की प्रधानता रही। रीतिकालीन कवियों ने सकेत स्थलों के वर्णन, गुरुजनों को मूर्ख बनाने के उपायों में ही अपनी प्रतिभा का अपव्यय किया। किन्तु घनानन्द ने उस प्रेम को स्पष्ट किया जो कि उनके शरीर के रोम रोम में रम चुका था। उन्होंने उस प्रेम को अभिव्यजित किया जिसे सरलता के साथ प्राप्त किया जाता है। चतुरता उस प्रेम के मार्ग में बाधक है। उस प्रेम को पाकर अपनत्व की भावना मिट जाती है। और इस प्रेम के मार्ग में कपटी और धूर्त्त लोग जाने में डरते हैं। घनानन्द ने मुक्त रूप से कहा—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेंकु सयानप बाँक नहीं।
जहाँ सूधे चलैं तजि आपुनपौ झिझकैं कपटी ते निसाँक नहीं॥

इस प्रकार की घोषणा करके घनानन्द ने रीतिकालीन कवियों को चेतावनी दी कि प्रेम का मार्ग बिल्कुल टेढ़ा नहीं जैसा कि वह समझते थे। इस सरल प्रेम का सबध हृदय से है। यह एक हृदय का दूसरे हृदय से सीधा सम्बन्ध है। इसमें किसी भी अन्य की आवश्यकता नहीं। रीतिकालीन कवियों ने प्रेम के रूप को न समझ कर केवल विलासप्रियता और कामुकता को ही प्रेम की सज्ञा दे दी थी। घनानन्द ने प्रेम को इससे विपरीत बतलाया। उसमें शारीरिक सबंध की तनिक भी चाह नहीं होती। केवल हृदय की उन तरंगों में ही बहना प्रेमियों को अच्छा लगता है। अपने प्रिय के ध्यान में प्रेयसी सुबह से शाम तक और शाम से सुबह तक बैठी रहती है। उसकी आँखें और कुछ भी नहीं चाहतीं केवल अपने प्रियतम के दर्शन ही

अभीप्सित है—

भोर तें साँझ लों कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ सों भोर लों तारनि ताकिवो तारनि सों इकतार न टारति॥
जो कहूं भावतो दीठि परै घन-आनन्द आँसुनि औसर गारति।
मोहन सोहन जोहन की लागियै रहै आँखिन के उर आरति॥

घनानन्द के प्रेम के सम्मुख मछली का प्रेम भी कुछ नहीं। मछली तो अपने प्रेम म कायरता दिखाती है। वह अपने प्रिय से वियुक्त होकर अपने प्राणों को ही छोड़ देती है। किन्तु घनानन्द को इस प्रकार की कायरता पसद नहीं। उनको तो उस प्रेमी के वियोग में उत्पन्न वेदना और कसक को सहन करने में भी एक असीम आनन्द मिलता है—

हीन भये जल हीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही को लाय कलक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै॥
प्रीति की रीति सु क्यों समुझै जड़ मीत के पानि परै को प्रमानै।
या मन की जु दशा घन-आनन्द जीव की जीवनि जान ही जानै॥

प्रेमिका के हृदय की दशा को जितना अच्छा उसका प्रिय जान सकता है उतना और कोई नहीं जान सकता। इस प्रेम की ऊँचाई पर रसिक जन हीं पहुँच सकते हैं। साधारण लोगों की कल्पना भी वहाँ पर नहीं पहुँच सकती। घनानन्द ने कृष्ण और राधा को आध्यात्मिकता देने का प्रयत्न सम्पूर्ण स्थलों पर किया है।

प्रेम की उच्चता को घनानन्द ने अपने शब्दों म इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै।
इहि बात की बात छकी॥
सुनि कै सब के मन लालच दौरै।
पै बौरै लखै सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखे रहै ह्याँ।
प्रवीनन की मति जाति चकी॥
समुझै कविता घन-आनन्द की।
हिय आखिन प्रेम की पीर तकी॥

यहाँ पर कवि ने प्रेम की उदात्त भावना को पाठकों के सन्मुख रख के उसकी व्यापकता को प्रदर्शित किया है। यह वासना का भोग नहीं वरन् आत्मा की विभोरता है।

घनानन्द ने शृंगार रस के दोनों पक्ष संयोग और वियोग का वर्णन बड़ी सफलता से किया है। किन्तु वहाँ भी उनका ध्यान भावगाम्भीर्य की ओर ही अधिक रहा है। सयोग में कृष्ण की रूप माधुरी से मत्त नयनों की दशा का चित्रण कवि की सफलता का परिचायक है। नेत्र छवि को निरख कर छक जाते हैं। उस मृगनयनी के नेत्र प्रेम से आर्द्र होकर विभोरता के भार से नमित हो जाते हैं और उसी समय आनन्दातिरेक की एक ऐसी लहर उस सुन्दरी के नेत्रों में थिरकती है कि उनमें चपलता के साथ २ आश्चर्य के भाव की झलक परिलक्षित होने लगती है। कभी पलकों को खोलती है और कभी उनको बन्द कर लेती है। इस रूप की उस असीमता को वह अपने नेत्रों में भर-भर अघाती नहीं। कृष्ण के कटाक्ष की धार के सन्मुख वह प्रेम में बेसुध होकर एकान्त में आकर भी लाज से थकित हो जाती है—

दग छाकत हैं छवि ताकत ही,
मृगनैनी जबै मधुपान छकै।
घन-आनन्द भीजि हँसै सु लसै
झुकि झूमति चौंकि पकै॥
पल खोलि ढकै लागि जात जकै
न सभारि सकै बलकै ऽरु बकै।
अलबेली सुजान के कौतुक पै
अति रीझि इकौसी ह्वै लाज थकै॥

इसमें कोई सदेह नहीं कि यहाँ पर कवि ने शृंगार की भावना को ही प्रदर्शित किया है किन्तु इस भावना में नायिका की मनोदशाओं को चित्रित करने की ओर भी कवि का ध्यान अधिक रहा है। उसने संयोग का विवरण इतना नहीं दिया जितना कि उन भावों का जो कि उस सुन्दरी के हृदय का परिचय देने में समर्थ हैं। यदि रीतिकालीन कवि इस प्रकार के चित्रण को प्रस्तुत करता तो वह उस सयोग के अन्दर होने वाली घटनाओं की ओर अपने ध्यान को अधिक लगाता। किंतु घनानन्द सर्वथा हृदय को ही खोलकर रख देने का प्रयास करते हैं।

वियोग पक्ष में भी कवि का ध्यान राधा और कृष्ण की उस वेदना की ओर रहा है जो उनके हृदय के तारतार को झंकृत करने में समर्थ है। उन्होंने साँसों की तप्तावस्था के कारण शीतकाल में गरम हवाओं के चलाने का प्रयास नहीं किया और न उस गर्मी का ही वर्णन किया है जिसके कारण सखियाँ जाड़ों की रात में भी नायिका के पास गीले कपड़ों को पहन कर

जाती है और न उस विरह की अग्नि से धुंआ ही इतना निकलता है जिसके कारण भौंरा और कौआ काले होते हैं। यह तो केवल उस राधा के हृदय की अवस्था को कुछ इसप्रकार का बना देता है कि उसे ससार में कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सूझता। वह कृष्ण की रट सी लगाती रहती है। विरह को नापने का प्रयत्न भी कहीं नहीं किया गया और न विरह की आग को सम्पूर्ण जगत को जलाने वाला ही कहा गया है।

घनानन्द की राधा तो अपने प्रिय से चातक और चकोर की भांति प्रेम करती है। विरह को वह अपने प्रेम की अनन्यता के लिये एक कसौटी मानती है। उसे विरह के कारण मरना नहीं। वह तो प्रिय के ध्यान में इस विरह के काल को सरलता पूर्वक व्यतीत कर लेगी। लेकिन फिर भी अपने प्रियतम को उपालम्भ देने को उसका मन चाहता है और वह उन अतीत के चित्रों की स्मृति करते हुए अपने प्रिय से कहने लगती है—

> क्यों हँसि हेरि हरयो हियरा,
> अरु क्यों हित के चित चाह बढ़ाई
> काहे को बोले सुधासने बैननि,
> चैननि मैन निसैन चढ़ाई॥
> सो सुधि मो हिय में घन-आनन्द
> सालति क्यों हू कढ़ै न कढ़ाई।
> मीत सुजान अनीत की पाटी
> इतै पै न जानिये कौनैं पढ़ाई॥

कितना मधुर उपालम्भ है। राधा नहीं पुकार रही वरन् इस कवित्त में विरहिणी का हृदय पुकार रहा है।

राधा कृष्ण को मीठे उपालम्भ दे रही है कि हे कृष्ण पहिले तो आपने मुझे प्रेम में रँग कर अपना लिया और अब उस प्रेम को इस प्रकार तोड़ रहे हैं। आपने मुझे मँझधार में इस प्रकार डुबाने की क्यों ठान ली। आपने तो मुझे आश्रय देकर अपना बनाया था और अब आप इस प्रकार निष्ठुर होते हैं। आपने मुझे प्रेम रस से सिक्त करके जीवन दान दिया और जीवन में आशा का सचार किया। मैं विश्वास कर बैठी थी किंतु अब आप विश्वास घात कर मेरे हृदय को तोड़ रहे हैं—

> पहिले अपनाय सुजान सनेह सों
> क्यों अब नेह कों तोरिये जू।
> निरधार अधार दै धार मझार,

दई । गहि बाँह न बोरिये जू ।।
घन - आनन्द आपने चातक कों,
गुन बाँधि लै मोहन छोरिये जू ।
रस प्यायके ज्याय, बढ़ाय कै आस
बिसास मे यों विष घोरिये जू ।।

वियोग-जन्य दुःख को जिस सरलता से हम घनानन्द के काव्य में देखते हैं उस प्रकार रीतिकालीन किसी भी कवि के अन्तर्गत नहीं पाते। उन्होंने वेदना को मूर्तिमान करके दिखलाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि बाबू श्यामसुन्दरदास जैसे विद्वान ने घनानन्द, बोधा और ठाकुर की अपनी पुस्तक 'भाषा और साहित्य' में मुक्त रूप से प्रशंसा की है—'रीति की परिपाटी' के बाहर प्रेम संबंधी सुन्दर मुक्तक छंदों की रचना करने वालों में इन तीन कवियों का प्रमुख स्थान है। रीति के भीतर रहकर बँधे-बँधाए विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से, और परंपरा प्रचलित उपमानों की योजना से काव्य का ढाँचा खड़ा करना कवि को विशेष ऊँचे नहीं पहुँचाता। प्रकृति के रम्य रूपों को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उन पर मुग्ध होना एक बात है और नायक-नायिका की विहार-स्थली को उद्दीपन के रूप में दिखाना दूसरी बात है। एक में निसर्ग-सिद्ध काव्यत्व है, दूसरे में काव्याभास मात्र! उसी भाँति अनेक नायक नायिकाओं के विभेद दिखलाते हुये, हावों आदि को जोड़कर खड़ा कर देने में कवि की सहृदयता का वैसा पता नहीं लग सकता जैसा तल्लीनता की अवस्था में प्रेम के मार्मिक उद्‌गारों और स्त्री पुरुष के मधुर सम्बन्ध के रमणीय प्रसंगों का स्वाभाविक चित्रण करने में। घनानन्द बोधा और ठाकुर (बुन्देल खंडी) तीनों ही प्रेम की उमंग में मस्त सच्चे कवि हुये। यह ठीक प्रेम का लौकिक-पक्ष न ग्रहण करने के कारण उनकी कविता ऐकांतिक प्रेम सम्बन्धिनी अतः अलोकोपयोगी हो गई हैं, परन्तु उस काल की बंधी परिपाटी से स्वतन्त्र होकर मनोहर रचना करने के कारण ये तीनों ही कवि हिन्दी में आदरपूर्वक देखे जायेंगे।'

रामचन्द्र शुक्ल ने भी इनको रीतिकालीन प्रभाव से मुक्त ही माना है। अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में वह मुक्त रूप से घनानन्द की प्रशंसा करते हैं—"लौकिक-पक्ष पाकर ही वह भागवत प्रेम में लीन हुये। कविता उनकी भाव-पक्ष प्रधान है। कोरे विभाव-पक्ष का चित्रण इनमें कम मिलता है। जहाँ रूप-छटा का वर्णन इन्होंने किया भी है वहाँ उसके प्रभाव का ही वर्णन मुख्य

है। इनकी वाणी की प्रवृत्ति अन्तर्वृत्ति-निरूपण की ओर ही विशेष रहने के कारण वाह्यार्थ-निरूपक रचना कम मिलती है। होली के उत्सव मार्ग में नायक नायिका की भेंट, उनकी रमणीय चेष्टाओं आदि के वर्णन के रूप में ही वह पाई जाती हैं। सयोग का भी कहीं-कहीं वाह्य वर्णन मिलता है किन्तु उसमें भी प्रधानता बाहरी व्यापारों या चेष्टाओं की नहीं है, हृदय के उल्लास और लीनता की है।

घनानन्द के काव्य में प्रेयसी अपनी प्रेम-भावना को स्वय ही व्यक्त करती है। उसे किसी दूती और सखी की आवश्यकता नहीं। रीतिकालीन परपरा में दूती और सखी का प्रेम के परिपक्व कराने म एक विशेष स्थान था। वहाँ पर प्रेम की गहराइयों की ओर उतना ध्यान नहीं जितना कि नायक से मिल कर अपनी काम पिपासा को शान्त करने की चिन्ता थी। इसीलिये रीति-बद्ध कवियों की कविता समाज मे अनैतिकता फैलाने म ही सहायक हुई। किस प्रकार कृष्णाभिसारिका और शुक्लाभिसारिका लोगों की आँख बचाकर सकेत स्थल पर अपने नायक से मिलती हैं। किस प्रकार के सकेतों के द्वारा भरे भवन में नेत्रों के द्वारा ही प्रेमालाप किया जाता है। कैसे खडिता नायिका अपने नायक का अन्य स्त्रियों से जो सबध है उसको शरीर के चिन्हों के द्वारा पकड़ लेती हैं। किस प्रकार अज्ञात-यौवना अपने शरीर के विकास को देख-कर ज्ञात-यौवना से उनका कारण पूछती है। किस प्रकार नायक प्रिय के द्वारा चु बित किये पुत्र के मुख को चूमकर अपनी अदम्य वासना को तृप्त करती है और इस क्रिया से उसको पुलक हो आता है। गर्भिणी स्त्री के नेत्र और शरीर की क्या दशा होती है? किस प्रकार बच्चे को लेने के बहाने से लम्पट और धूर्त नायक अचानक ही नायिका के उरोजो का स्पर्श कर लेता है। इस प्रकार के अनेकों उपाय और तरीके बताने में ही रीतिबद्ध कवियों की प्रतिभा लगी रही। परिणाम यह हुआ कि समाज मे कुत्सित मनोवृत्ति का प्रचार हुआ। कला का उद्देश्य है मनोवृत्तियों का परिमार्जन करना। जनता में उदात्त और पवित्र भावनाओं को प्रसारित करना। किन्तु रीतिबद्ध कवियों की कविता कुरुचिपूर्ण मनोवृत्ति को ही प्रोत्साहित करती थी। यही कारण था कि २०० वर्ष की हिन्दी कविता में समाज की गति को रुद्ध करने वाले तत्वों की प्रधानता रही।

घनानन्द के काव्य में इस प्रकार के चमत्कार और कुत्सित विचार-धाराओं को स्थान दिया गया। राधा और कृष्ण के कुछ शृ गारिक चित्रों को कवि ने उपस्थित किया। किन्तु उन चित्रों को आध्यात्मिकता के रग में

रंगकर ही उपस्थित किया। परिणाम यह हुआ कि उनके काव्य के शृंगारिक चित्रों में अश्लीलता का वह दोष नहीं लगा जो रीतिकालीन परम्परा के पुजारियों के ऊपर थोप दिया गया। घनानन्द के काव्य में रति और संभोग के कितने ही चित्र हैं किन्तु उनमें भी सूरदास के समान आध्यात्मिक तत्व की प्रधानता है। साथ ही वाह्य चेष्टाओं और शरीर की अवस्था का चित्र कवि ने उपस्थित नहीं किया वरन् उस चरम-सुख की आन्तरिक भावना को व्यक्त करने में अपने सम्पूर्ण साधनों को जुटा दिया है। इसलिये उनके काव्य में खिलवाड़ नहीं होने पाई। घनानन्द का सम्पूर्ण काव्य उनके हृदय का बिम्ब प्रतिबिंब है। कहीं भी बुद्धि के चमत्कार से भावों की हत्या नहीं की गई।

रीतिकालीन कवियों में अलंकार और अनुप्रासों के प्रयास में कविता का भावपक्ष गौण हो जाता था। उनका ध्यान इसी बात पर था कि अलंकार के द्वारा किस प्रकार चमत्कार से लोगों को मुग्ध किया जा सकता है। घनानन्द के काव्य में इस प्रकार के प्रयत्नों को स्थान नहीं। रीतिकालीन कवियों में से बिहारी, सेनापति, देव, ग्वाल और पद्माकर कवि में अलङ्कार विधान की ओर ही अधिक ध्यान रहा है।

घनानन्द ने अपने काव्य को अनुभूति प्रधान रचकर चमत्कार के विधान को सर्वत्र बचाया। किंतु कहीं-कहीं पर जहाँ अलङ्कार और अनुप्रासों का प्रयोग हुआ भी है वह भावातिरेक के साथ अचानक ही हो गया है। इसलिये उनके काव्य में अलङ्कारों ने भाव-सौन्दर्य को नष्ट नहीं किया। भाव सर्वदा अपनी मुक्त और व्यापक अवस्था को बनाये रखते हैं। अलङ्कार और अन्य कला के वाह्य उपकरण कवि के प्रयास से नहीं सजाये गए। एक ही सवैये में आप देख सकते हैं कि भाव और वृत्तियों के स्वाभाविक उत्कर्ष में अनुप्रासों का प्रयोग कितना सहायक हुआ है—

भोर तें साँझ लो कानन ओर
निहारति बावरी नेंकु न हारति।
साँझ ते भोर लौं तारनि ताकिबो
तारनि सों इक तार न टारति॥
जो कहूँ भावतो दीठि परै
घन-आनन्द आँसुन औसर गारति
मोहन - सोहन जोहन की
लगियै रहै आँखिन के उर आरति

अनुप्रासों के प्रयोग में कवि की बुद्धि का चमत्कार बिल्कुल नहीं।

स्वतः ही भाव तरंग के साथ उन्हों ने अपने को उचित स्थान पर लगा लिया है।

रीतिबद्ध कवियों का प्रभाव—धारा के विरुद्ध चलने वाले व्यक्ति को अचानक ही सफलता नहीं मिलती। जिस समय कोई मनुष्य किसी नदी की धारा में बहाव के विपरीत चलता है तो उस विरोध केलिए कभी-कभी उसको उस धारा में बहना पड़ता है। घनानन्द को भी इसी प्रकार रीतिबद्ध परम्परा का विरोध करना था। यदि वह उस अगाध सरिता के प्रवाह के विरोध में अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा देते तो हो सकता था कि वह उस धारा को चीर कर अपने पथ को प्रशस्त नहीं कर पाते। किन्तु उन्हों ने रीतिकालीन उस प्रमुख धारा के कुछ प्रचलित तत्वों को अपनाने का प्रयत्न भी किया। नायिका भेद, नखशिख वर्णन आदि के कुछ उदाहरण उनके काव्य में भी मिल जाते हैं। कारण भी स्पष्ट है। जनता की रुचि एक लम्बे समय से जिस मार्ग का अनुसरण कर रही थी उस मार्ग से उसे हटा देना एक साथ सरल नहीं था। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं लेना चाहिये कि घनानन्द ने जागरूक होकर यह सब किया। यह तो उन परिस्थितियों का प्रभाव था जो उस समय के वातावरण को आच्छन्न किये हुये थीं, फिर घनानन्द पर कोई दोष नहीं लगाया जा सकता। क्यों कि खंडिता और अन्य नायिकाओं के वर्णन में भी वह आन्तरिक सौन्दर्य की ओर ही अधिक झुके हैं। रीतिबद्ध कवियों की उस अश्लीलता को उन्होंने अपने काव्य में स्थान नहीं दिया। रीतिकालीन कवियों के समान उन्होंने शृङ्गार रस को ही अपनाया किन्तु उसमें भी उन्होंने संयत होकर ही काम लिया। रीतिबद्ध कवियों ने संयोग शृंगार में अपने कुत्सित एवं जघन्य विचारों का समावेश करने में स्वतन्त्रता से काम लिया है। किन्तु घनानन्द ने संयोग शृंगार को प्रधानता न देकर वियोग की ओर ही अपना ध्यान आकर्षित किया है और इस प्रकार उनके वियोग वर्णन में मर्मस्थल की सुन्दर झाँकियाँ हैं। वियोग की मात्रा को ऊहात्मक वर्णनों के द्वारा नापने का प्रयत्न नहीं किया गया।

नायिका भेद के कुछ उदाहरण घनानन्द के काव्य में मिलते हैं। प्रौढा-धीराधीरा का एक उदाहरण रीतिबद्ध कवियों के भाव की समानता का परिचायक है—

> रूप के भार न होति है सौंही
> लजौंही ये डीठ सुजान पै झेली।
> लागि ये जातन लागी वहूँ

निशि जागत ही पलकों गति भूली
बैठिये जू पिय बैठन आजु
कहा कहिये उपमा समतूली।
आये हो भोर भये घन-आनन्द
आखिन मॉंझ तौ सॉंझ सी फूली॥

घनानन्द ने प्रोषितपतिका नायिका का वर्णन तो अनेक स्थानों पर किया है किन्तु उसमें रीतिकालीन कवियों की सी स्थूलता न होकर अन्तः वृत्तियों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म तरंगों का ही दिग्दर्शन कराया गया है। इस दृष्टि से देखा जाय तो उनकी प्रोषितपतिका नायिका आदि भक्त कवियों की प्रोषितपतिका की श्रेणी में ही आती है। सूरदास, नन्ददास भक्त कवियों में इसी प्रकार की हृदय की गहराई को ही अधिक पाते हैं। घनानन्द की प्रोषितपतिका नायिका में भी प्रेम की व्यंजना अधिक है—

कितकों ढरिगो वह ढार अहो
जिन मोतन आंखिन ढोरत हे।
अरसानि गही वह बानि कछू
सरसानि सों आनि निहोरत हे।
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनो
तब तो सब भॉंतिन भोरत हे
मन मॉंझ जो तोरन हीं की हुती
बिसवासी सनेह क्यों जोरत हे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह भी प्रोषितपतिका नायिका का कथन है किन्तु इसमें जो गूढ़ प्रेम की व्यंजना है वह रीति परम्परा के किसी भी कवि में नहीं मिलेगी। उदाहरणार्थ पद्माकर का एक सवैया उद्धृत किया जाता है। उससे अन्तर स्पष्ट हो जायेगा—

अब हूँ है कहा अरविन्द सो आनन
चन्द के हाथ हवाले परयो।
पदमाकर भाये न भाये बनै
जिय ऐसे कछू बकसाले परयो।
इन मीन बिचारयो बध्यो बनसी
पुनि जाल के जाय दुसाले परयो।
मन तो मनमोहन के सग गो
तन लाज मनोज के पाले परयो॥

दोनों सवैयों से स्पष्ट है कि घनानन्द के द्वारा जिस गम्भीर भाव की व्यजना की गई है वह पद्माकर के द्वारा न की जा सकी। भाव की उत्कृष्टता जो घनानन्द में है वह पद्माकर में नहीं।

खडिता नायिका की कुछ उक्तियाँ अवश्य रीतिपरम्परा के अनुकरण पर ही हुई है। उनमें मौलिक भावों का समावेश नहीं हो सका। कुछ सवैये तो ऐसे प्रतीत होते हैं मानों रीतिबद्ध कवियों के भावों से ही ओतप्रोत करके रख दिये हों—

रूप के भार न होत हँसौं ही
लजौंही ये दीठि सुजान वै भूली।
लागियौं जात न, लागी कहू
निसि पागी तहीं पलको गति भूली।
बैठिये लू हिय बैठत आजु
कहा उपमा कहिये समतूली।
आये हो भोर भये घन - आनन्द
आँखिन मॉझ तो सॉझ सी फूली ॥

खडिता के उपर्युक्त उद्धरण में रीति परम्परा के कवियों के से भावों ही दिखाया है।

रीतिकालीन काव्य परम्परा का अगर कहीं घनानन्द पर प्रभाव है तो वह ऐसे स्थलों पर ही। अन्यथा कवि ने अपने भाव के उदात्त रूप की सर्वदा रक्षा की है। स्वाधीनपतिका नायिका का चित्रण भी घनानन्द के काव्य में मिलता है। परकीया स्वाधीनपतिका को उन्होंने अपने काव्य में अधिक स्थान दिया है। रीति परम्परा के कवियों का सा अनुप्रास प्रेम भी यत्र तत्र है किन्तु उच्चकोटि का ही है—

अँगुरीन लौं जाइ भुलाइतहीं,
फिर आइ लुभाय रह्यौ तरवा।
चपचाइन चाइ ही एड़िन ह्वै,
छरछाय छकी छवि छाइ छवा।
घनआनँद यौं रस भीति भिजो,
कबहू बिसराम न लोक नवा।
अलयेली सुजान के पाइन पाइ,
परो न टरो मन मेरो भवा ॥

उपर्युक्त सवैये मे कवि ने केवल यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सुजान

; पैरों की सुन्दरता को देखकर मेरा मन इतना मुग्ध हुआ कि वह अब उनको ,ला भी नहीं सकता। इसके अतिरिक्त और क्या भाव कवि दिखना चाहता वह हमारी बुद्धि में तो आता नहीं। हाँ दो स्थानों पर अनुप्रास के सौंदर्य को अवश्य यहां दिखाया गया। सम्पूर्ण पद केवल शब्दों का आडम्बर मात्र है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। घनानन्द जैसे कवि में यह रीतिकालीन प्रभाव अधिक नहीं लेकिन फिर भी उनकी रचनाओं में अनेकों स्थल इस प्रकार के हैं जहाँ इस परम्परा का अनुकरण अनजाने में ही होगया है। परन्तु इस प्रकार के वर्णनों का घनानन्द की कविता में आधिक्य नहीं। यह तो केवल उस वातावरण का प्रभाव है जिसने शताब्दियों तक हिन्दी साहित्य के ऊपर अपना प्रभाव जमा रखा था।

फारसी काव्य का प्रभाव—घनानन्द की भाषा पर भी उस काल के कवियों की भाषा का प्रभाव है या कहना चाहिए कि उस काल में फारसी शासक वर्ग की भाषा होने के कारण प्रत्येक कवि पर अपना कुछ न कुछ असर अवश्य डालती थी। घनानन्द के ऊपर भी ऐसा प्रभाव है। वियोगवेलि और इश्कलता तो उस काल की उस प्रेम परम्परा के ही प्रतीक हैं जो सूफी सन्तों के प्रभाव से उस काल के साहित्य में अपना घर बना चुकी थी। पीर की चर्चा कवि ने वियोगवेलि में इस प्रकार की है—

लिखों कैसे पियारे प्रेम पाती।
लगी अँसुअन भरी है टूँक छाती
अनौखी पीर प्यारे कौन पावै।
पुकारों मौन में कहिबौ न आवै॥

इश्कलता में तो कवि ने स्पष्ट रूप से प्रेम की पीर को वर्णित किया है। फारसी के शब्दों की भी भरमार है—

इश्क शहर के बीच है यह अकह कहानी।
अलकों से बांधे रहै महबूब गुमानी॥
रहौ खुशी महबूब नन्दके मनमाने तित जावौजू
कहीं-कहीं घनआनँद जानी इन गलियन भी आवौ जू॥

'वियोगवेलि' की भाषा व्रज है लेकिन उसमें कवि ने जो छन्द चुना है वह फारसी भाषा का है। इसके अतिरिक्त उसमें जिस वियोग और प्रेम को कवि लेकर चला है उस पर भी फारसी काव्य पद्धति का ही प्रभाव है जो रीतिकाल के अधिकतर कवियों पर था। भारतीय प्रेम में वीभत्स चित्रों उपस्थित नहीं किया जाता किन्तु फारस के प्रेम में प्रेमी और प्रियतम

ही अपनी आँखों से आँसुओं के स्थान पर रक्त बहाने लगते हैं। इस प्रकार के वर्णन सूफी कवि जायसी, कुतुबन आदि में भी भरे पड़े हैं। घनानन्द में भी कुछ इस प्रकार के वर्णन हैं—

सैन कटारी आसिक उर पर तें यारा झुकझारी है।
महर लहर ब्रजचन्द यार दी जिन्द असाड़ी ज्यारी है॥

इस प्रकार यदि घनानन्द के काव्य को व्यापक रूप से देखा जाय तो उसमें उस काल की प्रचलित परिपाटियों और मान्यताओं का समावेश भी मिल जाता है। किन्तु ऐसा करने में कवि का सजग प्रयत्न कदापि नहीं वह तो केवल उस काल के वातावरण का प्रभाव था जिससे घन-आनन्द ने बचने का प्रयत्न किया था। लेकिन इस अवस्था में भी उनके ऊपर उस काल की प्रवृत्तियों के कुछ छींटे अवश्य पड़े। यदि घनानन्द के काव्य को पूर्ण रूप से देखा जाय तो उनके काव्य में भक्त कवियों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। उनके पद भक्त कवियों का ही अनुकरण है। लेकिन यदि उनकी अन्य रचनाओं पर प्रकाश डाला जाय तो वह शृंगारी कवि ही प्रतीत होते हैं। शुक्ल जी के शब्दों में उन्होंने काव्य के आन्तरिक पक्ष की ओर ही अधिक ध्यान रखा इस कारण इन पर वह दोष नहीं लगाया जा सकता जो रीतिकालीन कवियों पर लगाया जाता है।

घनानन्द ने काल की धाराओं के उदात्त रूप को ही अपनाया। उन्होंने शृंगार रस में ही काव्य की रचना की किन्तु शृङ्गार के उदात्त रूप को ही उन्होंने प्रस्तुत किया। यही कारण है कि शुक्ल जी ने उनको रीतिकाल के स्वच्छन्द कवियों में घोषित किया। उनकी कला को भावना प्रधान माना। बाह्यपक्ष की सजावट की प्रधानता से घनानन्द की कविता को मुक्त माना और उन्होंने अन्तःवृत्तियों के चित्रणों का साँगोपांग रूप घनानन्द की कविता में ही बतलाया—

"रीतिकालीन कवियों में यह उस परम्परा में आयेंगे जो प्रेम की उमग के कारण ही कविता लिखते हैं। उन पर किसी राजा और सामंत का प्रभाव नहीं था। घनानन्द, ठाकुर और बोधा की रचनाओं में प्रेमोल्लास को ही अधिक महत्त्व दिया गया इसलिये इनको हम वही स्वतन्त्र स्थान देंगे जो मुसलमान कवि रसखान को भक्तिकाल में मिला है।"

१३—विहारी की काव्य-साधना

(श्री फूलचन्द जैन 'सारंग' एम० ए०)

बिहारी की एकमात्र रचना 'सतसई' है। यह मुक्तक काव्य है और इसमें ७१६ दोहे सकलित हैं। सतसई का निर्माण काल स० १६६२ से लेकर १७०२ तक माना जाता है। इन दस वर्षों में बिहारी जैसे कवि ने केवल ७१६ दोहों की ही रचना की होगी यह बात कुछ युक्ति सगत नहीं जान पड़ती। परन्तु बिहारी की अन्य कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने अवश्य सतसई की अनेक प्रतियों को मिलाकर बिहारी के डेढ़ सौ दोहे और छांटे हैं। कुछ भी हो अपनी एकमात्र सतसई के बल पर ही बिहारी का हिन्दी कवियों में विशिष्ट स्थान है। हिन्दी में बिहारी ही अकेले ऐसे कवि हैं जिन्हे इतनी कम काव्य रचना पर इतना अधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। उनकी सतसई वास्तव में हिन्दी भाषा का शृंगार है। यों तो व्रजभाषा में बड़े-बड़े कवियो ने काव्य रचना की है पर सतसई उन सब की भी भूषण है :—

> व्रज भाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि विसाल।
> सबकौ भूषण सतसई रची बिहारीलाल॥

सतसई की अब तक अड़तीस टीकाएं हो चुकी हैं। इसमें से २४ गद्यात्मक और शेष पद्यात्मक हैं। सतसई के उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, गुजराती में अनुवाद भी हुए हैं। बिहारी की सतसई इस बात का ज्वलत प्रतीक है कि किसी कवि की लोक प्रियता का आधार साहित्य सामिग्री की प्रचुरता न होकर काव्य कौशल और काव्य गुण हैं।

सतसई मुक्तक काव्य है, और इस नाते इसका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र है। इसी से सतसई का कोई क्रम नहीं है। लगभग तेरह-चौदह टीकाकारों ने सतसई के दोहों को क्रमबद्धता का रूप दिया है। इनमें सबसे प्रसिद्ध आजमशाही क्रम के अनुसार प्रारभिक दोहे सामान्य विषयो को लेकर चले हैं। तदुपरान्त नायिका भेद का वर्णन है। इसके पश्चात् शृङ्गार रस का विवेचन

है। श्रृङ्गार रस की योजना में सयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का विशद और मार्मिक निरूपण है। तीसरे प्रकरण म नखसिख और ऋतु वर्णन है। चौथे प्रकरण म हास्य, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक आदि रसों का वर्णन है। अन्त में नीति और वैराग्य सम्बन्धी दोहे हैं।

इस प्रकार सतसई का समस्त कलेवर रीतिकालीन प्रवृत्तियों की अतुल भाव राशि से आपाद मस्तक ढका हुआ है। वैभव और विलास से भरे मुगलकालीन सामतीय जीवन में स्थूल श्रृ गार और वासनापरक प्रेम क जो आदर्श गृहीत हुए, जनमगल के मनोभावों से शून्य और वास्तविक जीवन की जटिलताओं से अपरिचित केवल मात्र नारी देह की शोभाओं और चेष्टाओं का अवलोकन ही, रीतिकालीन मनोवृत्ति का जा साहित्यिक आधार बना, बिहारी की सतसई ने शत प्रतिशत उसी को स्वीकार किया है।

रीति युग के इस साहित्यिक आधार की रूपरेखा रीतियुग म ही आकर नहीं बनी, वरन् सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श के रीति मुक्तकों की विशाल परम्परा विरासत रूप में उसे प्राप्त हुई है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में "जिस साहित्यिक दृष्टिकोण की रूपरेखा हिन्दी में चितामणि के उपरान्त बँधकर निश्चित हुई वह कोइ आकस्मिक घटना नहीं थी। उसका एक विशेष साहित्यिक पृष्ठाधार था। वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी जिसके अन्तर्तत्त्व प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के भक्ति काव्य में धीरे धीरे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विकसित होते रहे थे। यह प्राचीन परम्परा थी मुक्तक कविता की जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त काव्य वस्तुओं का छोड़ नितप्रति के सरल ऐहिक जीवन के छोटे छोटे चित्रों को आँक रही थी।" इस परम्परा का प्रारम्भ सर्व प्रथम प्राकृत भाषा म रची गई हाल की गाथा सतसई है। हाल स ही प्रेरणा ग्रहण कर सस्कृत में कवि अमरूक ने अमरूशतक तथा गोवर्धनाचार्य ने आर्या रूपशती की रचना की है। अपभ्र श काव्य म भी इस परम्परा को बल मिला हागा। इसमें सन्देह नहीं, यद्यपि रीतिमुक्तकों का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है। केवल जयवल्लभ और हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में इस प्रकार का मुक्तक काव्य मिलता है। इसी काव्य परिपाटी पर आधारित सस्कृत में दर्जनों श्रृङ्गार परक शतकों की रचना हुई, जिनमें कालिदास का श्रृ गार तिलक, भर्तृहरि का श्रृ गारशतक, उत्प्रेक्षावल्लभ का सुन्दरीशतक तो प्रसिद्ध हैं ही।

सतसई की इसी श्रृङ्गार परक साहित्यिक परम्परा का सबसे अधिक विकसित रूप हिंदी में बिहारी की सतसइ है। रीति युग के विशिष्ट वातावरण के

बीच बिहारी की सतसई म ही प्राकृत अपभ्र श और सस्कृत की इस साहित्यिक परम्परा का चरम रूप प्राप्त हुआ है।

अपने युग की प्रवृत्तियों के सीमित क्षेत्र में ही रेशमी कीड़े की भाँति बिहारी ने अपनी काव्य कला के सूक्ष्म ताने बाने बुने हैं। अपने सम सामयिक वातावरण को शत प्रतिशत स्वीकार करते हुए उन्होंने उस रीतिकालीन परम्परा का सफलता पूर्वक अवगाहन किया है जो जहाँगीर, शाहजहाँ युग के वैभव और विलास के स्वच्छन्द वातावरण के बीच पनप रही थी। अपने युग से ऊपर उठकर उनकी काव्य साधना ने मानव जीवन के व्यापक क्षेत्र म सचरण नहीं किया। जीवन के मूल प्रश्नों के साथ उसका कोई सबध भी नहीं है और न मानव जीवन के नाना विधि व्यापारों का उसमें सन्निवेश है। जीवन के शाश्वत सत्यों के निरूपण से वह अछूती है और सम्पूर्ण सृष्टि के साथ रागात्मक सबन्ध स्थापित करने वाले तत्त्वों का उसमें अभाव है। इस प्रकार बिहारी की काव्य साधना का आधार फलक बड़ा सीमित और सकुचित है। परन्तु अपने इस सीमित और परम्परा बद्ध काव्यक्षेत्र में भी अपनी उत्कट काव्य प्रतिभा और अप्रतिम कला मर्मज्ञता के बल पर बिहारी बहुत ऊँचे उठ गए हैं। शृगार, रीति और कला की त्रिधाराओं के सगम पर खड़े होकर निश्चय ही इस कवि ने अद्भुत काव्य की सृष्टि की है।

बिहारी का समस्त काव्य मूलत. शृगार भावना से अनुप्राणित है। बिहारी की यह शृगार भावना पूर्णत अपने युग के साहित्यिक, सामाजिक और सास्कृतिक वातावरण की उपज है। बिहारी ने रीतियुग की उस जनरुचि को अपने काव्य में प्रश्रय दिया है जो जनरुचि घर की चहार दीवारी में सिमिट कर, आर्थिक और आध्यात्मिक दृष्टि से जर्जर अपने जीवन को रसमय बनाने के लिए भोग और विलास की केन्द्र बिन्दु, नारी के अङ्गों से उलझ रही थी। जीवन के प्रति इस भोगवादी दृष्टिकोण ने काम की सार्वभौम उपासना और वासना परक ऐहिक शृगार को जन्म दिया। फलत उस शृङ्गारिकता का रूप सर्वथा निर्बाध रूप से वासना तुष्टि ही था। रीतिकालीन कृष्ण भक्ति परम्परा की नैतिक अनुमति ने इस प्रकार की भावना को और भी अधिक बल प्रदान किया। शरीर के सुख व साधन रूप म शृगार की तत्कालीन भोग प्रधान भावना जीवन का स्वीकृत सत्य थी। इसीलिए उसे अप्राकृतिक रूप से किसी आध्यात्मिक या अन्य आवरण द्वारा गोपनीय बनाने की आवश्यकता ही नहीं थी। कवियों ने निर्द्वन्द्व भाव से कामवासना की विविध केलि क्रीड़ाओं का प्रकाशन किया है। बिहारी की सतसई म शृगार के ऐसे अनेकों

नग्न चित्र मिलेंगे।

रीतिकाल की इस शृंगारिकता मे प्रेम का उदात्त आदर्श नहीं मिलता। उसमें न तो प्रेम और प्रेमिका का व्यक्तित्व ही उभर पाया है और न उसमें प्रेमी जीवन की अनेकरूपता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "यह प्रेम शुरू से लेकर अन्त तक महत्वाकाक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के मनोभाव से प्रायः अस्पष्ट, पिंड नारी के आकर्षण से हततेज और स्थूल प्रेम व्यजना से परिलक्षित है। जिस नारी देह को लेकर शृङ्गार की अजस्र धारा प्रवाहित की गई है उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। मातृत्व की महिमा से मण्डित नारी यहाँ जैसे अपनी सब विशेषताओं को खो बैठी है और वह केवल विलास और भोग की उपकरण मात्र बन गई है। यही कारण है कि बिहारी की नायिका अपने पुत्र का मुँह किसी वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर नहीं चूमती वरन् इसलिए चूमती है कि प्रियतम ने अभी उसका चुम्बन किया है।

बिहँसि बुलाइ, विलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को पिय चूम्यौ मुँह चूमि॥

शृङ्गार का यही भोगवादी दृष्टिकोण बिहारी के काव्य पर आदि से अन्त तक छाया हुआ है। उनके शृंगार में सूक्ष्म आन्तरिकता नहीं है और न वह भावना प्रधान है। वह सर्वथा एकातिक, स्थूल और शारीरिकता प्रधान है। उसमें प्रेमी प्रेमिकाओं के शारीरिक भाव-भाव, चेष्टा, मुद्रा, क्रीड़ा, कुहल, विनोद की तो अच्छी व्यजना है पर प्रेमी हृदय की अन्तर्दशा का प्रकाशन नहीं है। इसीलिये आचार्य प्रवर रामचन्द्र शुक्ल को बिहारी के सम्बन्ध में कहना पड़ा "भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती नीचे ही रह जाती है।"

इतना सब कुछ होते हुए भी बिहारी के इस शृङ्गार वर्णन में गृहस्थी के जीवन का रस भरपूर है। घर की चहारदीवारी के भीतर नायक नायिका के बीच जिस प्रेम का आदान-प्रदान होता है, उसका चित्रण अनुभूतियों की सचाई से भरा और बड़ा मोहक है। सत्य तो यह है कि रीतिकाल के बिहारी जैसे कवियों ने भी श्री बृजकिशोर मिश्र के शब्दों में "नारी को उसके सर्वांगीण रूप में देखा। उसके अंगों को सहारा था, उसके स्वभाव को समझा था और उसके जीवन के साथ क्रीड़ा की थी। कभी उसे गृहकार्य करते देखा, कभी छिपकर उसे स्नान करते देखा, कभी जल भरते देखा और

कभी अपने ही अंगों की सराहना करते देखा। 'आँख मूँदिबो' खेलने की आयु से लेकर निसकोच 'बालम सों दृग जोरने' तक की परिस्थितियों का उन्होंने गहरा अनुभव प्राप्त कर लिया था तब फिर उनके चित्रण सच्चे हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?"

अनुभूतियों की इस सचाई को लेकर बिहारी ने शृंगार के सयोग वर्णन को अपने काव्य का अतुलित वैभव प्रदान किया है। नायक नायिकाओं के मिलन, हास्य विनोद, नाना प्रकार की केलि-क्रीड़ाओं, मान, अभिसार, रति आदि सयोग शृंगार के विविध प्रसगों को लेकर बड़े चुभते दोहे कहे हैं। नायक नायिकाओं की मुद्राओं, चेष्टाओं और हाव-भावों की व्यजना बड़ी सरस और विदग्धतापूर्ण है। इस प्रकार के वर्णन के लिए जिस प्रकार की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति अपेक्षित है बिहारी में वह पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। सयोग शृंगार की विविध चेष्टाओं, मुद्राओं और हाव-भावों को लेकर उन्होंने जो सवाक चित्र खींचे हैं, वे सहृदय पाठक के सामने वैसा ही वातावरण खड़ा कर देते हैं। एक-एक दोहे में उन्होंने अगणित भावों की लड़ी पिरोई हुई है, अगणित चेष्टाओं और क्रियाओं का उद्घाटन किया है। नीचे के दोहे मे तो अभिलाषा, गर्व, हर्ष, अमर्ष, स्मित आदि अनेक भाव एक साथ गुथे हुए हैं—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत है, नैनन ही सब बात॥

इसी प्रकार प्रेमिका के नयनों से बिधे नायक कृष्ण की व्याकुलता और अस्तव्यस्तता का चित्र देखिए। उनकी मुरली कहीं है, पीताम्बर कहीं है। मुकुट और बनमाला कहीं छिटके पड़े हैं—

कहा लड़ैते दृग करें, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीतपट्ट कहुँ मुकुट बनमाल॥

अनुभावों का कैसा सच्चा विधान है। इसी प्रकार नायक को खिजाने और परेशान करने में आनन्द लेती हुई नायिका की चेष्टाएँ देखिए—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनु हँसै, देन कहै, नटि जाय॥

सयोग शृंगार की विविध क्रीड़ाएँ जैसे आँखमिचौनी, जल क्रीड़ा, फाग झूलने की क्रिया, शयनगृह में सोने के झूठे बहाने और नायक नायिका की परस्पर चुहल इन सब विविध प्रसगों को लेकर बिहारी ने बहुत कुछ कहा है।

नायिका सोने का बहाना करके शयनगृह में लेट रही है। नायक उसका

मुख खोलकर उसका बहाना देख रहा है। अन्त में नायिका के होंठ फड़क उठे, शरीर पुलकित हो गया, और नेत्र खुलकर के फिर जुड़ गये—

मुखु उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ न मौ मिस-सैन।
फरके होंठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन॥

प्रेम की इन विविध क्रीड़ाओं के चित्रण से अधिक बिहारी ने विभाव पक्ष का रूप वर्णन विशेष रूप से किया है। समस्त रीतिकालीन साहित्य ही रूप रस चर्वणा का साहित्य है, जिसमें बिहारी जैसे रसिक कवि तो इस दृष्टि से सबसे आगे हैं। उनके प्यासे नैन रूप सौन्दर्य का पान करते हुए अघाते ही नहीं। उनकी सूक्ष्मदर्शी निगाह ने सौंदर्य के बारीक से बारीक सकेत को पकड़ा है और ऐसा प्रतीत होता है मानो जैसे उनके काव्य की सम्पूर्ण चेतना नारी देह के अगों की शोभा और आभूषणों की चकाचौंध में बँधकर रह गई है। नेत्रों की शोभा को लेकर तो कल्पना के ऐसे मजमून बाँधे गए हैं जिसके जोड़ का साहित्य अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

प्रेम निरूपण की भाँति बिहारी की यह सौन्दर्य भावना भी बहिरग है। कवि की दृष्टि शारीरिक सौन्दर्य पर ही रीझकर रह गई है, इसके आगे मन के सूक्ष्म सौन्दर्य को उसने अपनी वाणी प्रदान नहीं की। यही नहीं हृदय पर पड़ने वाले इस रूप सौन्दर्य के विविध प्रभावों का वर्णन भी बिहारी ने नहीं किया। जहाँ प्रभाव वर्णन है भी वहाँ भी रूप वर्णन प्रधानता लिए हुए है।

सयोग शृ गार की परिधि में केवल प्रेम की क्रीड़ाए, नखशिख वर्णन ही नहीं आता, रस की पूर्ण व्यजना तो प्रेम की उक्ति प्रत्युक्ति के विधान में होती है। पर बिहारी में प्रेम की यह कहासुनी बहुत कम है। वह खण्डिता मानिनी और अनुरागिनी नायिकाओं के कुछ कथनों तक ही सीमित रह गई है। सत्य तो यह है कि उक्ति प्रत्युक्ति का यह विधान प्रेम की नाना प्रकार की वृत्तियों के बीच ही सम्भव था और बिहारी के शृ गार का क्षेत्र ऐसा व्यापक न था। बिहारी का यह सयोग वर्णन नायिका भेद के सीमित दायरे में सिमट कर रह गया है और वह पास पड़ौस, सौत और खण्डिता नायिका की उक्तियों से आगे नहीं बढ सका है।

इतना अवश्य है कि अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और अप्रतिम कल्पना कौशल के बल पर उन्होंने इन परम्परा भुक्त वर्णनों में भी बड़ी मौलिक उद्-भावनाएँ की हैं। बिहारी के काव्य की भावभूमि वही है, सयोग शृ गार की वे ही परम्परागत भगिमाएँ हैं, पर बिहारी ने अपने काव्य कौशल की सूक्ष्म कारीगरी से कविता के ऐसे रगमहल की सृष्टि की है जिसकी चमक-दमक

सभी ओर से सर्वथा नई है। उन स्थलों पर तो बिहारी की कविता काव्य सौन्दर्य की बहुत ऊँची भाव-भूमि पर पहुँच गई है जहाँ उसने रूढ़िबद्ध रीति परम्परा को छोड़कर प्रेम के व्यापक क्षेत्र में संचरण किया है।

जिनके हृदय में प्रेम की पीर जगती है उनके लिये फिर प्रिय की प्रत्येक वस्तु आलबन रूप बन जाती है। उसकी प्राप्ति और उसके स्पर्श से ही उन्हें प्रिय सुख कासा अनुभव होता है। नायक जिस पतंग को उड़ा रहा है, नायिका के लिए उस पंतग की छाया ही इतनी प्रिय है कि उसके लिए पागल के समान वह आँगन-आँगन दौड़ती फिरती है—

उड़ति गुड़ी लखि ललन आँगना आँगना मांह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली जाह॥

प्रेम का कितना व्यापक रूप है। इसी प्रकार प्रियतम के छल्ले को प्राप्त करने वाली प्रेयसि की प्रेम मग्न चेष्टाओं का वर्णन कितना हृदयग्राही है—

छला छबीले लाल कौ, नवल नेह लहि नारि।
चूंवति चाहति लाइ उर पहिरत धरति उतारि॥

एक क्षण के लिये भी प्रेयसि अपने प्रियतम का वियोग नहीं चाहती। प्रेमी बिना तो स्वर्ग भी उसके लिए नरक तुल्य है—

जो न जुगति प्रिय मिलन की धूरि मुकति मुँह दीन।
जो लहिए सँग, सजन तो धरक नरक हूँ की न॥

प्रेम की पूर्णता इसी में है कि प्रेमी और प्रेमिका में कोई अन्तर न हो। प्रेम की चरम अवस्था को पहुँचकर नायिका स्वय अपने को नायक समझ बैठती है—

पिय कें ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि,।

प्रेम का इससे अधिक ऊँचा आदर्श और क्या होगा ? बिहारी के काव्य में ऐसे और भी अनेक उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। ये इस बात को निर्विवाद रूप से स्पष्ट करते हैं कि बिहारी प्रेम के सच्चे स्वरूप की व्यंजना करने में किसी से पीछे नहीं है। इसमें सदेह नहीं कि यदि बिहारी रीतिकालीन परम्परा लीक को छोड़कर घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि कवियों की भाँति शृंगार के क्षेत्र मे आदर्श और विशुद्ध प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का उद्‌घाटन करते तो निश्चय ही उनके काव्य का सौन्दर्य और भी निखर उठता।

कवियों ने प्रायः संयोग शृंगार की तुलता में विप्रलम्भ शृंगार को अधिक महत्ता प्रदान की है। प्रेम की सच्ची कसौटी उसे ही माना है। पर

शायद बिहारी को यह तथ्य स्वीकार नहीं था। यही कारण है कि बिहारी का वियोग वर्णन चमत्कार प्रदर्शन का साधनमात्र बनकर रह गया है। उसमें बिहारी ने अपनी कलात्मक अभिरुचि का तो सुन्दर परिचय दिया है पर भाव सौन्दर्य से उसे अछूता ही रखा है। उसमें हृदय की अनुभूति कम मस्तिष्क का योग अधिक है। इसीलिये उसमें प्रेम की पीर की विरहजन्य अनुभूतियों का यथार्थ प्रकाशन नहीं है। सूर और जायसी के साहित्य में व्यंजित विरही हृदय की जो दारुण कथा पत्थर हृदयों को रुला देने की क्षमता रखती है, बिहारी के लिये वह तमाशा बनकर रह गई है। यही कारण है कि विरह ताप से दग्ध बिहारी की विरहिणियों की दशा को देखकर हमारा हृदय द्रवित नहीं होता वहां कवि के उक्ति चमत्कार और ऊहात्मक पद्धति पर वाहवाही अवश्य कर उठता है। बिहारी की नायिका विरह के ताप से ऐसी दग्ध है कि सखियाँ शिशिर की रात्रि में भी गीले वस्त्र लपेट कर उसके पास जाती हैं। वह इतनी कृशकाय हो गई है कि साँस लेने के साथ छः सात हाथ इधर-उधर हो जाती है जैसे हवा के झोंको में कोई तिनका उड़ रहा हो—

> आड़े दे आले बसन, जाड़े हू की राति।
> साहस ककै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति
> इति आवति चलि जाति उत चली छसातक हाथ।
> चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासनु साथ॥

विरह की ऐसी ऊहात्मक व्यंजना बिहारी के काव्य में खूब मिलेगी। ऐसा प्रतीत होता है जैसे बिहारी ने इन दोहों की रचना उर्दू के शायरों की होड़ में की हो। क्योंकि विरह की ऐसी चमत्कार पूर्ण उक्तियाँ फारसी साहित्य में अधिक पाई जाती हैं। अनुभूति की सचाई से कोसों दूर विरह की इस अतिशयोक्ति पूर्ण व्यजना का एक और भी कारण है। बिहारी प्रेमी हृदय नहीं थे। रसिक जीव थे। संयोग शृंगार की केलि क्रीड़ाओं से तो उनका निकट का परिचय था, पर विरह की दारुण व्यथा उनके भोगवादी दृष्टिकोण के अनुकूल नहीं थी। इसीलिये विप्रलंभ शृंगार की योजना में बिहारी अधिक सफल नहीं हो सके।

बिहारी का विप्रलंभ शृंगार जहां उक्ति चमत्कार के बोझ से दबा न होकर स्वाभाविक है वहाँ उसके चित्र बड़े मर्मस्पर्शी हैं। नीचे की पंक्तियों में विरहिणी की शारीरिक दशा और विरह जन्य अनुभूतियों का कैसा मार्मिक चित्रण है—

करके मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिनु हू नीठि पिछानी जाइ॥

इसी प्रकार प्रियतम के सन्देशों को प्राप्त कर मन की क्या दशा होती है:—

कर लै चूमि चढ़ाइ सिर उर लगाइ भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की लखति बाँचति धरति समेटि॥

पर विरह की ऐसी स्वाभाविक व्यंजना बिहारी में अधिक नहीं है।

प्रकृति चित्रण—रीतिकालीन परम्परा का निर्वाह करते हुए बिहारी ने भी शृंगार के उद्दीपन रूप में प्रकृति का चित्रण किया है। पर प्रकृति चित्रण के लिये रचे गए बिहारी के अनेक दोहे इस बात के प्रतीक हैं कि उन्होंने प्रकृति के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसमें व्याप्त भावनाओं का भी निरूपण किया है। बसन्त ऋतु का कैसा स्वाभाविक वर्णन है।

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत भौंर भौंर मधु अन्ध॥

यही नहीं बिहारी ने प्रकृति का मानवीय करण भी किया है। कुंजर के रूप में समीर का मूर्तिमान चित्र देखिये—

रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥

इसमें संदेह नहीं कि बिहारी के कुछ प्रकृति चित्र तो आधुनिक काव्य की तुलना में रखे जा सकते हैं। उनमें कला की सूक्ष्म बारीकी के साथ-साथ वैसी ही मूर्तिमत्ता और चेतना विद्यमान है, जो आज के काव्य में दृष्टिगोचर होती है। ग्रीष्म और छाया के चित्र इसके स्पष्ट प्रमाण हैं—

नाहिन ये पावक-प्रबल लुवैं चलत चहुँ पास।
मानहुँ विरह बसंत कै, ग्रीषम लेत उसास॥
बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन-तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाँह॥

उक्ति वैचित्र्य और वाग्वैदग्ध्य—भावों का बहुत उदात्त स्वरूप बिहारी में चाहे न मिलता हो पर भावों को अभिव्यक्त करने की कला में बिहारी सिद्धहस्त हैं। उन जैसी कला की सूक्ष्म कारीगरी का कौशल अन्य किसी कवि में है ही नहीं है। साधारण से साधारण सी बात भी उनकी कला के स्पर्श से द्युतिमान हो उठी है। इस दृष्टि से उनकी प्रतिभा निश्चय उस पारस

पत्थर के समान है जिसके छूने से लोहा भी स्वर्ण बन जाता है। यही कारण है कि नीति और भक्ति के साधारण कथन भी बिहारी की कला के संयोग से इतने सरस और इतने मार्मिक बन पड़े हैं। अन्य मुक्तकों का तो कहना ही क्या! उनका हर शब्द उनकी इस खूबी को प्रकट करता है। शब्दों की मणि माला में भाव सूत्रों को किस प्रकार पिरोना चाहिए, कथन के बाँकेपन से सहृदय पाठकों को किस प्रकार रस मग्न किया जा सकता है, बिहारी इस बात में बड़े निपुण और काव्य-कला के पण्डित थे। नपे तुले शब्दों में भावों की कसावट देखनी हो तो बिहारी के दोहों का रसपान करिए। उनके जैसे उक्ति-वैचित्र्य और वाग्वैदिग्ध्य पर साहित्यकार लट्टू होते आए हैं। यही बिहारी का बिहारीपन है, यही उनके काव्य कला की सबसे बड़ी विशेषता है।

अलङ्कार—अलकारों की जगर मगर से कविता-कामिनी का शृंगार करना रीतिकालीन साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति रही है। सम्भवतः इसीलिए मिश्रबन्धुओं ने रीतिकाल को अलंकरणकाल कहा है। बिहारी भी अलकारों की चमक दमक पर रीझे हैं पर अलकार उनके काव्य के साध्य नहीं साधन रूप में प्रयुक्त हुए हैं। केशव की भाति उनके काव्य का सौन्दर्य अलङ्कारों से ढका हुआ नहीं है वरन् उनके संसर्ग से वह और भी निखर उठा है। वे भावोत्कर्ष में सहायक ही हैं, बाधक नहीं।

शब्दालकारों की अपेक्षा बिहारी के अर्थालकार अधिक सौन्दर्यशाली हैं। शब्दालकारों में कवि की दृष्टि चमत्कार प्रिय अधिक है। इसीलिए शब्दालकार प्रधान दोहों से रस की अनुभूति नहीं होती। रचना चमत्कार पर ही दृष्टि अटक जाती है। अर्थालङ्कारों म बिहारी ने साम्यमूलक अलङ्कारों, विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, का अधिक सहारा लिया है। इन सब के बड़े सुन्दर उदाहरण सतसई से दिये जा सकते हैं।

छन्द—बिहारी ने केवल दोहा जैसे छोटे छन्द में अपनी रचना की है। और इस लघु छन्द के माध्यम से ही बिहारी ने जिस कवित्व शक्ति का परिचय दिया वैसा अन्य कवियों द्वारा बड़े-बड़े कवित्त और सवैयों द्वारा भी सम्भव न हो सका। इन छोटे से दोहों में बिहारी ने विशाल भावों की सृष्टि की है और यथार्थ में वे गागर में सागर के समान हैं। दोहे के थोड़े से शब्दों में ही अनेक अलकार, अनेक भाव, अनेक व्यापार एक साथ गुथे हुए हैं फिर भी उन दोहों की गति का प्रवाह कहीं टूटने नहीं पाया है, और न कहीं कमल का सौन्दर्य स्खलित हो पाया है। सत्य तो यह है कि दोहों की समास पद्धति की कला मे बिहारी बहुत प्रवीण थे। उन्होंने शब्दों को उसी प्रकार दोहों में

पिट गया है जैसे कोई कुशल जौहरी आभूषणों में रत्न जड़ता है।

पिंगल की कसौटी पर भी बिहारी के दोहे खरे उतरते हैं। कहीं भी उनके दोहे में मात्राओं की न्यूनता और अधिकता नहीं है। त्रिकल, द्विकल और यति का ध्यान बिहारी ने बराबर रखा है। बिहारी के दोहे ध्वनि काव्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और उनके सम्बन्ध में कहा गया निम्न दोहा यथार्थ ही हैः—

सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥

भाषा—दोहे जैसे छोटे छन्द में बिहारी भावों को इतने सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त कर सके, इसका रहस्य यह है कि भाषा पर उनका जबर्दस्त अधिकार था। उन जैसी ठोस, प्रौढ़, और चुस्त भाषा में काव्य रचना करने वाला और कोई कवि उत्पन्न ही नहीं हुआ। उनकी भाषा में जो नपा तुला शब्द चयन, और अल्प अक्षर होते हुए भी वृहद् अर्थ को सभालने में सर्वथा समर्थ वाक्य विन्यास है वह अन्यत्र कहाँ? श्री विश्वनाथ मिश्र के शब्दों में "बिहारी को भाषा का पण्डित कहना चाहिए। घनानन्द आदि दो एक कवियों की बात तो हम नहीं कह सकते, पर भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करने वाला, भाषा पर वैसा ही अधिकार रखने वाला कोई मुक्तक रचनाकार नहीं दिखाई देता।"

इतना अवश्य है कि बिहारी की भाषा विशुद्ध ब्रज भाषा नहीं है। पूर्वी, बुन्देलखन्डी, खड़ी बोली और फारसी अरबी के शब्द उनकी भाषा में प्रचुर मात्रा में हैं। पर इससे भाषा की स्वाभाविकता कहीं भी नष्ट नहीं हुई। भाव और विषय के अनुरूप उन्होंने अपनी भाषा को गढ़ा है। नगर की नायिका के वर्णन में उनकी शब्दावली और है तथा ग्रामीण नायिका का चित्रण उन्होंने दूसरे प्रकार के शब्दों में किया है। कहीं कहीं बिहारी की भाषा में लिंग विपर्यय मिलता है। एक ही शब्द कहीं पुलिंग में प्रयुक्त हुआ है कहीं स्त्री लिंग में। पर केवल इस आधार पर व्याकरण की दृष्टि से बिहारी की भाषा अव्यवस्थित नहीं कही जा सकती। एकाध स्थलों को छोड़कर वह सर्वथा व्याकरण सम्मत है। बिहारी पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि उन्होंने शब्दों की तोड़ मरोड़ बहुत अधिक की है। पर यह कथन सर्वथा पक्षपातपूर्ण और निराधार है। बिहारी की भाषा में अन्य कवियों की अपेक्षा शब्दों की तोड़ मरोड़ बहुत कम हुई है। दो एक स्थानों पर ही 'स्मर' के लिए 'समर' और 'वैकै' के स्थान पर 'वकै' शब्द मिलते हैं।

संस्कृत की भांति व्रजभाषा की प्रकृति समास बहुला नहीं है। यही कारण है कि जिन कवियों ने व्रजभाषा को समास बहुल रूप दिया है उनकी भाषा में सहज स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं आने पाया। पर बिहारी के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। दोहे जैसे छोटे छन्द में अधिक भाव भरने के लिये बिहारी ने अनेक स्थानों पर सामासिक पदावली का सहारा लिया है, पर इससे कहीं भाषा में गतिरोध उत्पन्न नहीं हुआ है।

संक्षेप में बिहारी की भाषा कोमल, सरस तथा सवारी हुई साहित्यिक व्रज भाषा है। अभिव्यंजना की दृष्टि से वह अत्यन्त शक्तिशाली है। काव्य के क्षेत्र में बिहारी को जो इतनी सफलता मिली है उसका बहुत कुछ श्रेय उनकी भाषा को है।

शैली—बिहारी की काव्य-साधना मुक्तक काव्य की शैली को लेकर चली है। मुक्तक काव्यकार की दृष्टि से बिहारी कितने सफल हुए हैं, इस सबन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत करना अधिक उपयुक्त होगा "मुक्तक कविता म जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में चरम उत्कर्ष को पहुचा है, इसमें कोई सदेह नहीं। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसम कथा प्रसग की परिस्थित में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनमे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी पूर्ण अग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय खड दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अत. जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्त्तमान थी।"

हिन्दी साहित्य मे स्थान —भाव सामग्री की दृष्टि से बिहारी की भेंट हिन्दी साहित्य को अल्प ही है, पर जो कुछ भी बिहारी ने हमें दिया है उसका रूप बड़ा मोहक है। रीतिकाल में कला की समृद्धि पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी, बिहारी ने जैसे इस दिशा में रीतिकाल का प्रतिनिधित्व किया

है। उनके काव्य में कला की सूक्ष्म कारीगरी द्रष्टव्य है जैसे किसी महान शिल्पी ने बड़ी कुशलता के साथ किसी प्रस्तर खण्ड पर बेलबूटों का सूक्ष्म जड़ाव किया हो। बिहारी के इसी जड़ाव पर रसिक जन अब तक मुग्ध होते आए हैं और बिहारी की अनन्य लोकप्रियता का यही मूल कारण है।

हिन्दी काव्यधारा में बिहारी का विशिष्ट स्थान है। उनकी सतसई शृंगारिक काल परम्परा की गौरवपूर्ण कड़ी है। शृंगार के मादक स्वर से हृदय को गुदगुदाने की जैसी शक्ति इसमें है वैसी अन्य किसी काव्यकृति में नहीं। इस रूप में उर्दू की जवादानी और फड़कते हुए साहित्य से हिन्दी का कोई कवि टक्कर ले सकता है तो वे बिहारी ही हैं। यह सत्य है कि उनके काव्य में जीवन को समग्र रूप में ग्रहण नहीं किया। भावों का विराट और काव्य रूप उसमें नहीं मिलता। इसीलिए बिहारी, तुलसी सूर जैसे प्रथम श्रेणी के कवियों की कोटि में तो नहीं आते पर अपने युग की वे श्रेष्ठतम विभूति थे, इसमें सन्देह नहीं।

१४—घनानन्द की भक्ति एवं सम्प्रदाय

(श्री राम वाशिष्ठ एम० ए०)

महाकवि घनानन्द के मत एव सम्प्रदाय के विषय में अभी तक अधिक खोज नहीं हुई। प्रारम्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके सम्प्रदाय के विषय में अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा था—'इस पर इनको विराग उत्पन्न हो गया और वृन्दावन जाकर निबार्क-सम्प्रदाय के वैष्णव हो गये और वहाँ पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे।' उन्होंने अपने इस कथन के आधार में घनानन्द का एक कवित्त भी उद्धृत किया है जिसमें उनका वृन्दावन भूमि के प्रति जो प्रेम था उसकी झाँकी मिलती है—

गुरनि बतायो, राधा मोहन हू गायो,
सदा सुखद सुहायो वृन्दावन गाढ़े गहिरे।
अद्भुत अभूत महि मडन परे ते परे,
जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहिरे॥
आनन्द को घन छायो रहत निरन्तर ही
सरस सुदेय सो, पपीहा पन बहिरे।
जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै परि रहि रे॥

किन्तु अपने उपर्युक्त कथन के पश्चात शुक्ल जी ने वहीं पर आगे के पृष्ठ में इस प्रकार कहा है—

'इन्होंने अपनी कविताओं में बराबर सुजान को सम्बोधन किया है जो शृंगार में नायक के लिये और भक्ति भाव में कृष्ण भगवान के लिये प्रयुक्त मानना चाहिये। कहते हैं कि इन्हें अपनी पूर्व प्रेयसी सुजान का नाम इतना प्रिय था कि विरक्त होने पर भी इन्होंने उसे नहीं छोड़ा। यद्यपि अपने पिछले जीवन म घनानन्द विरक्त भक्त के रूप में वृन्दावन जा रहे पर इनकी अधिकांश कविता भक्तिकाव्य की कोटि में नहीं आयेगी, शृंगार की ही कही जायगी। लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम में लीन हुये।'

प्रथम शुक्ल जी ने इनको निम्बार्क मतानुयायी कहा और साथ ही यह भी कहा कि इनको विराग हो गया किन्तु बाद में कहते हैं कि उनकी कविता भक्त कवियों की कोटि में नहीं आयेगी। साथ ही यह भी कहते हैं कि सुजान का लौकिक नाम ही उनके इष्टदेव के रूप में व्यवहृत होने लगा। अब प्रश्न उठता है कि जो आदमी अपने लौकिक प्रेम के आधार पर ही अपने इष्टदेव की पूजा में रत हुआ तो उसको विरक्त भक्त कैसे माना जा सकता है? भक्त को लौकिक सुख और दुःख की क्या चिन्ता!

वियोगी हरि के एक छप्पय में इनको वैष्णवभक्त कहा गया है किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि यह निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव थे अथवा किसी वैष्णव सम्प्रदाय के :—

बादशाह ने कोपि राज्य ते याहि निकारियो।
वृन्दावन में आय भेष वैष्णव को धारयो।
प्यारे मीत सुजान सों नेह लगायो।
लगन बान तें विध्य विरह-रस मन्त्र जगायो।

लाला भगवानदीन जी ने भी इनको निम्बार्क सम्प्रदाय का नहीं बताया। इन्होंने इनकी विरक्ति का कारण इनका रासलीला के प्रति प्रेम बताया है— "इस रास की भावना का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये श्रीकृष्ण की लीला में रहने के लिये दरबार तथा गृहस्थी से नाता तोड़ वृन्दावन चले आये और वहाँ किसी व्यास वंश के साधु से दीक्षा ले ये किसी उपासना में मग्न और दृढ़ हो गये।'

दीन जी के कथनानुसार इस बात का पता नहीं लगता कि घनानन्द किस प्रकार के वैष्णव थे। उन्होंने स्पष्ट न होने के कारण ठीक लिखा है—'कि वे किसी उपासना में दृढ़ और मग्न हो गये।' यह उपासना क्या थी इसका पता उनको ठीक नहीं लगा।

श्री शम्भूप्रसाद बहुगुना ने घनानन्द की भक्ति-भावना को एक मोड़ देकर अपना नया दृष्टिकोण उपस्थित करने का प्रयत्न किया—"घनानन्द को यदि हम वैष्णव भावनाओं से प्रभावित हुआ भी पाते हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे मूलतः रहस्योन्मुखी प्रेम-काव्य के कवि हैं और सूफी तथा निर्गुण-प्रेमी कवियों के अन्तर्गत मीरा की भाँति आते हैं। मीरा जिस प्रकार बाह्य रूप से परम वैष्णव सगुण भावना की दिखलाई देती है किन्तु उसका प्रेम रहस्योन्मुखी अनन्त सत्ता-जिसे वह प्रिय, गिरधर गोपाल, प्रभु आदि आदि शब्दों से सम्बन्धित करती है—कि विरह वेदना की विकलता की साक्षी है,

उसी भांति घनानन्द चाहे कृष्ण के तथा राधा के सगुण रूप का, उनकी कृपा का उनकी लीलाओं का सजीव और प्राणों को प्रसन्न कर देने वाला गुण गान करते हैं, परन्तु प्रधानता उनमें उस विरह भावना की मर्मस्पर्शी विकलता की है जो जायसी, इमामशाह, कबीर, मीरा, दादू, नानक, बाबा लालदास, सरमद आदि प्रेममार्गी सन्तों में पाई जाती है। इसलिए घनानन्द का काव्य रसखान, सूर, तुलसी, वैष्णवधारा के कवियों से उतना मेल नहीं खाता जितना प्रेम रहस्योन्मुखी सन्तों की विरह वाणियों से।"

किन्तु आगे चलकर श्री शम्भुप्रसाद बहुगुना घनानन्द को फिर वैष्णव कवियों के समकक्ष भी देखने लगते हैं। अभी ऊपर रहस्योन्मुख सन्तों की परंपरा में उनका स्थान निर्धारित करने के पश्चात् ही उनकी विचारधारा फिर पलटकर उनकी रचनाओं पर जाती है और वह घनानन्द का स्थान पूर्व निर्धारित परम्परा में न रखकर वैष्णवों की परम्परा में रख देते हैं—"घनानन्द ने सम्भवतः निर्गुण प्रेम भावना के कवियों, सन्तों तथा सगुण रूप रस परम्परा के भक्तों के जीवन के तात्विक भेद को अपने लिये स्वयं दोनों प्रकार का जीवन बिताकर देख समझ लिया था और इसीलिये आगे चलकर सम्भवतः वे रहस्यवादी प्रेम-कवियों, सन्तों की भावना से हटकर सगुण रसवादी वैष्णवों की परंपरा में आ जाते हैं।" इस प्रकार श्री बहुगुनाजी इनको कभी रहस्यवादी प्रेममार्गी सन्तों में देखते हैं तो कभी इस आधार पर कि उन्होंने रहस्योन्मुखी भावना के तत्वों को भी देखा और वैष्णव भक्तों की सगुण भावना को भी किन्तु बाद में उन पर वैष्णव भावना का प्रभाव पड़ा और वह वैष्णव कवियों की परम्परा में आ गये। बहुगुनाजी की इस पहुँच का क्या आधार है? इसका उन्होंने कोई प्रमाण देना भी उचित नहीं समझा। किन्तु बिना आधार के इतने बड़े कवि के विषय में यह कैसे अनुमान लगा सकते हैं कि वह रङ्ग बदलते रहते थे।

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने स्वच्छन्द कवियों के विषय में अपना मत देते हुए केवल इतना संकेत किया—"स्वच्छन्द कवियों में सूफियों के सम्पर्क और प्रभाव के कारण कहीं-कहीं रहस्य की झलक भर मिलती है। अपनी भावना में मेल खाती हुई इन कवियों की वृत्ति कृष्ण-भक्ति-भावना में लीन हुई। बात यह थी कि इन कवियों में से कई अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रेम की एकनिष्ठता के उपासक हुये। प्रिय की ओर से प्रेम की स्वीकृति उचित परिमाण में न पाकर, या उसमें किसी प्रकार की लौकिक बाधा उत्पन्न हो जाने के कारण वे संसार से विरक्त हो गये। ऐसी दशा में उनके लिये दो ही

मार्ग थे। या तो ये निर्गुण सम्प्रदाय का अनुगमन करते या सगुण सम्प्रदाय में दीक्षित होते। निर्गुण में रूप की योजना न होने के कारण उसकी उपासना इनके चित्त के लिये अभिमत नहीं हो सकती थी, अतः इन्होंने सगुण में अपनी स्वच्छन्द वृत्ति लीन की। रसखान और घनानन्द दोनों ने ही प्रेम-मार्ग या भक्तिमार्ग की इस विशेषता का उत्कीर्तन किया है।" मिश्र जी ने इस प्रकार घनानन्द को प्रेमाभक्ति में लीन कवि के रूप में ही ग्रहण किया है। उन्होंने इस मत की पुष्टि के लिये घनानन्द का निम्नलिखित कवित्त उद्धृत किया है—

> ज्ञान हूतैं आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
> रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै।
> जान 'घनआनँद' अनोखो यह प्रेम पन्थ,
> भूले त चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै॥

प्रेम के पन्थ से प्रभावित होकर ही घनानन्द ने कृष्ण भक्ति को स्वीकार किया। मिश्रजी का कथन है—'उन्हें शुद्ध भक्त न मानकर प्रेमोमङ्ग के कवि ही मानने का वास्तविक कारण यही है। रीतिबद्ध बिहारी निम्बार्क (राधा-तत्व प्रधान) सम्प्रदाय में ही दीक्षित थे। अपनी सतसई में राधा से बाधा-हरण करने की प्रार्थना करके उन्होंने अपना सम्प्रदाय व्यक्त कर दिया है पर वे भक्तों की श्रेणी में नहीं बैठाये गये। इसका कारण यही है कि उनकी रचना भक्त कवियों की सी नहीं है। घनआनन्द ने अन्त में भक्ति सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली थी। पर लौकिक प्रेम का सुजान नाम ये न भूल सके।'

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शुक्लजी के मत को ही व्यापकता प्रदान की है। शुक्लजी ने जो यह कहा था कि घनानद निम्बार्कमत में दीक्षित थे इसको भी श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी कहा है और अन्त में उनका कथन यही है कि वह फिर भी भक्त कवियों की कोटि में नहीं आ सकते क्योंकि इनकी रचना भक्तों की सी नहीं।

भक्त कवियों की विशेषता—घन आनन्द भक्त कवि थे अथवा रहस्यो-न्मुख प्रेम कवि थे इस विषय पर विचार करने से पूर्व हमको भक्त कवियों की विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। क्योंकि घनानद की कविता में राधा कृष्ण की लीलाओं अथवा गुणगानों को अधिक महत्व दिया गया है इसलिये ऐसे ही कवि को देखना चाहिए जो कि कृष्ण भक्त कवि मान्य हो। यदि इस दृष्टि से हम कृष्ण भक्त कवियों पर दृष्टिपात करते हैं तो उनमें महाकवि सूरदास एक कवि हैं जिन्हें हम भक्त कवि के रूप में मानते हैं। उनके

ऊपर वैष्णव धर्म का पूर्ण प्रभाव था। उनकी रचनाओं म वैष्णवधर्म के आचार्य बल्लभ के सिद्धांतों को स्थान दिया गया है। सूर ने कृष्ण की लीलाओं को अपने सम्प्रदाय के नियमानुसार ही वर्णित किया है। किन्तु फिर भी कवि और कोरे भक्त में पर्याप्त अन्तर पड़ता है। भक्त को केवल उन दार्शनिक सिद्धांतों को लेकर चलना पड़ता है जो कि उसके सम्प्रदाय के आचार्यों ने आवश्यक बताये हैं। और कवि तो कल्पना के आधार पर ही उन सिद्धांतों को अपने काव्य में स्थान देता है। इसलिए उनके वास्तविक रूप में अन्तर पड़ जाता है। यही बात है कि सूर की रचनाओं म बल्लभ के सम्प्रदाय के नियम व सिद्धान्तों की भी अवहेलना हो गई है।

वैष्णव धर्मावलम्बियों की भक्ति के प्रकार

"नारद भक्ति सूत्र" में ईश्वर भक्ति के जो प्रकार बताये हैं वह निम्नलिखित हैं—

१—गुण महात्म्यासक्ति, २—रूपासक्ति, ३—पूजासक्ति, ४—स्मरणासक्ति, ५—दास्यासक्ति, ६—सख्यासक्ति, ७—कान्तासक्ति, ८—वात्सल्यासक्ति, ९—आत्मनिवेदनासक्ति और १०—परम विरहासक्ति।

उपर्युक्त प्रकारो म ही वैष्णव आचार्यो ने अपनी भक्ति का प्रसार किया। निम्बार्क और मध्वाचार्य ने राधा की भक्ति को महत्व दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि भक्ति के क्षेत्र म माधुर्यभाव को ग्रहण किया गया। किंतु निम्बार्काचार्य एक दर्शन को लेकर चले थे। इस कारण इनके द्वारा बताया हुआ माधुर्य भाव संयत था। बल्लभ ने भी माधुर्य और प्रेम को भक्ति का चरमोत्कर्ष सिद्ध किया। इनके द्वारा प्रेम लक्षणा भक्ति को ही प्रमुख माना तथा गोपियों को जीव या आत्मा का रूपक मानकर उनको परमात्मा के वियोग में व्यथित होकर ही उसके सच्चे प्रेम की अधिकारिणी कहा। बल्लभ की प्रेम लक्षणा भक्ति का प्रचार सूरदास और नन्ददास आदि कवियों ने अपनी प्रेम से सिक्त रचनाओं के द्वारा किया। उन्होंने कृष्ण की उपासना में 'नारद भक्ति सूत्र' में वर्णित सभी प्रकारों को अपनाया। कृष्ण और राधा के रूप सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना के कारण ही भक्ति में शृंगार की प्रचुरता हुई। कृष्ण की लीलाओ के कारण गोपियों और राधा आदि को भी उनके साथ प्रमुख स्थान मिला। आगे सखी सम्प्रदाय में जाकर भक्त प्रेयसी के रूप में ही ईश्वर की आराधना करने लगा। इसी का परिणाम था कि कृष्ण भक्ति म परकीया को अधिक महत्व मिला।

कृष्णभक्ति में दार्शनिक आधार के कारण विरह को प्रधानता मिली। सम्पूर्ण कवियों ने कृष्ण से गोपियों का वियोग कराके उनके हृदय की भावनाओं को व्यक्त कर कृष्ण साहित्य को महान गौरव प्रदान किया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरदास ने अपने धार्मिक सिद्धांतों को बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के आधार पर ही प्रदर्शित किया और कथानक का आधार भागवत को बनाया किंतु जो उन्होंने राधा को इतना महत्व दिया वह उनकी अपनी खोज थी। किंतु उनकी राधा स्वकीया नायिका ही थी। बल्लभ और भागवत दोनों में राधा का कहीं नाम नहीं था। सूरदास की राधा पर निम्बार्क, जयदेव और विद्यापति का प्रभाव है। सूर में जो शृङ्गार का गहरा रंग है वह इस बात को स्पष्ट करता है—

'नीबी ललित गही हरि राई।
जबहि सरोज धरो श्रीफल तब जसुमति आइ गई॥'[1]

चैतन्य की प्रेमाभक्ति भी शृंगार से ही प्रभावित थी। विद्यापति के अनेक पद चैतन्य सम्प्रदाय के अनुकूल थे इसलिए उन पदों का प्रचार बंगाल में ही नहीं ब्रज मे भी हो गया। सूर मे जो शृंगार के नग्न चित्र हैं उनका प्रभाव कृष्णभक्ति शाखा के परवर्त्ती कवियों पर भी पड़ा। अष्टछाप के कवि परमानन्द दास ने भी राधा के विषय में अत्यन्त ही शृंगारिक पद लिखा है—

राधेजू हारावलि टूटी।
उरज कमल दल माल मरगजी, बाम कपोल अलक लट छूटी॥
× × ×
× × ×
आलस बलित नैन अनियारे, अरुन उनींदे रजनी खूटी।
परमानद प्रभु सुरत समय रस मदन नृपति की सेना लूटी॥

उपर्युक्त भक्त कवियों ने जो भाव व्यक्त किये हैं वह विद्यापति के घोर शृंगारी पदों से किसी प्रकार कम नहीं। इन्हीं शृंगारिक पदों के आधार पर कहा जाता है कि सूर आदि कवि केवल अपने सम्प्रदाय विशेष के दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादन मे ही नहीं रहे वरन् उन्होंने अपने स्वतन्त्र विचारों को भी अपने काव्य म रखा। इसी प्रकार यदि घनानन्द के काव्य को भी इस दृष्टि से देखा जाय तो उसमें उन्होंने केवल निम्बार्क मत का ही प्रतिपादन नहीं किया वरन् अनेक सम्प्रदायों के उन तत्वों को अपना लिया जो कि उनकी प्रेममय अभिव्यक्ति म सहायक हो सकते थे।

ऊपर वैष्णव धर्म का पूर्ण प्रभाव था। उनकी रचनाओं में वैष्णवधर्म के आचार्य बल्लभ के सिद्धांतों को स्थान दिया गया है। सूर ने कृष्ण की लीलाओं को अपने सम्प्रदाय के नियमानुसार ही वर्णित किया है। किन्तु फिर भी कवि और कोरे भक्त में पर्याप्त अन्तर पड़ता है। भक्त को केवल उन दार्शनिक सिद्धांतों को लेकर चलना पड़ता है जो कि उसके सम्प्रदाय के आचार्यों ने आवश्यक बताये हैं। और कवि तो कल्पना के आधार पर ही उन सिद्धांतों को अपने काव्य में स्थान देता है। इसलिए उनके वास्तविक रूप में अन्तर पड़ जाता है। यही बात है कि सूर की रचनाओं में बल्लभ के सम्प्रदाय के नियम व सिद्धान्तों की भी अवहेलना हो गई है।

वैष्णव धर्मावलम्बियों की भक्ति के प्रकार

"नारद भक्ति सूत्र" में ईश्वर भक्ति के जो प्रकार बताये हैं वह निम्न-लिखित हैं—

१—गुण महात्म्यासक्ति, २—रूपासक्ति, ३—पूजासक्ति, ४—स्मरणा-सक्ति, ५—दास्यासक्ति, ६—सख्यासक्ति, ७—कान्तासक्ति, ८—वात्सल्या सक्ति, ९—आत्मनिवेदनासक्ति और १०—परम विरहासक्ति।

उपर्युक्त प्रकारों में ही वैष्णव आचार्यों ने अपनी भक्ति का प्रसार किया। निम्बार्क और मध्वाचार्य ने राधा की भक्ति को महत्त्व दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि भक्ति के क्षेत्र में माधुर्यभाव को ग्रहण किया गया। किंतु निम्बार्काचार्य एक दर्शन को लेकर चले थे। इस कारण इनके द्वारा बताया हुआ माधुर्य भाव संयत था। बल्लभ ने भी माधुर्य और प्रेम को भक्ति का चरमोत्कर्ष सिद्ध किया। इनके द्वारा प्रेम लक्षणा भक्ति को ही प्रमुख माना तथा गोपियों को जीव या आत्मा का रूपक मानकर उनको परमात्मा के वियोग में व्यथित होकर ही उसके सच्चे प्रेम की अधिकारिणी कहा। बल्लभ की प्रेम लक्षणा भक्ति का प्रचार सूरदास और नन्ददास आदि कवियों ने अपनी प्रेम से सिक्त रचनाओं के द्वारा किया। उन्होंने कृष्ण की उपासना में 'नारद भक्ति सूत्र' में वर्णित सभी प्रकारों को अपनाया। कृष्ण और राधा के रूप-सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना के कारण ही भक्ति में शृंगार की प्रचुरता हुई। कृष्ण की लीलाओं के कारण गोपियों और राधा आदि को भी उनके साथ प्रमुख स्थान मिला। आगे सखी सम्प्रदाय में जाकर भक्त प्रेयसी के रूप में ही ईश्वर की आराधना करने लगा। इसी का परिणाम था कि कृष्ण भक्ति में परकीया को अधिक महत्त्व मिला।

कृष्णभक्ति में दार्शनिक आधार के कारण विरह को प्रधानता मिली। सम्पूर्ण कवियों ने कृष्ण से गोपियों का वियोग कराके उनके हृदय की भावनाओं को व्यक्त कर कृष्ण साहित्य को महान गौरव प्रदान किया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरदास ने अपने धार्मिक सिद्धांतो को वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के आधार पर ही प्रदर्शित किया और कथानक का आधार भागवत को बनाया किंतु जो उन्होंने राधा को इतना महत्व दिया वह उनकी अपनी खोज थी। किंतु उनकी राधा स्वकीया नायिका ही थी। वल्लभ और भागवत दोनों में राधा का कहीं नाम नहीं था। सूरदास की राधा पर निम्बार्क, जयदेव और विद्यापति का प्रभाव है। सूर म जो शृङ्गार का गहरा रग है वह इस बात को स्पष्ट करता है—

'नीबी ललित गही हरि राई।
जबहि सरोज धरो श्रीफल तब जसुमति आइ गई॥'

चैतन्य की प्रेमाभक्ति भी शृगार से ही प्रभावित थी। विद्यापति के अनेक पद चैतन्य सम्प्रदाय के अनुकूल थे इसलिए उन पदों का प्रचार बगाल में ही नहीं व्रज में भी हो गया। सूर म जो शृगार के नग्न चित्र हैं उनका प्रभाव कृष्णभक्ति शाखा के परवर्ती कवियों पर भी पड़ा। अष्टछाप के कवि परमानन्द दास ने भी राधा क विषय में अत्यन्त ही शृगारिक पद लिखा है—

राधेजू हारावलि टूटी।
उरज कमल दल माल मरगजी, वाम कपोल अलक लट छूटी॥
× × ×
× × ×
आलस बलित नैन अनियारे, अरुन उनींद रजनी लूटी।
परमानद प्रभु सुरत समय रस मदन नृपति की सेना लूटी॥

उपर्युक्त भक्त कवियों ने जो भाव व्यक्त किये हैं वह विद्यापति के घोर शृगारी पदों से किसी प्रकार कम नहीं। इन्हीं शृगारिक पदों के आधार पर कहा जाता है कि सूर आदि कवि केवल अपने सम्प्रदाय विशेष के दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादन में ही नहीं रहे वरन् उन्होंने अपने स्वतन्त्र विचारों को भी अपने काव्य म रखा। इसी प्रकार यदि घनानन्द के काव्य को भी इस दृष्टि से देखा जाय तो उसमें उन्होने केवल निम्बार्क मत का ही प्रतिपादन नहीं किया वरन् अनेक सम्प्रदायों के उन तत्वों का अपना लिया जो कि उनकी प्रेममय अभिव्यक्ति में सहायक हो सकते थे।

घनानन्द पर अन्य प्रभाव

ऊपर हम कह चुके हैं कि विभिन्न विद्वानों ने घनानद के भक्ति सम्प्रदाय के विषय में अपने अपने मतों का प्रदर्शन किया है। शुक्ल जी ने उनको निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित किया किंतु फिर भी भक्त कवि नहीं माना। इसी प्रकार का मत वियोगीहरि का भी है। दीन जी किसी भी निश्चय पर नहीं पहुंच सके। श्री शम्भुप्रसाद बहुगुना ने उनका रहस्योन्मुख प्रेममार्गी सतों में स्थान दिया। लेकिन इन सम्पूर्ण मतों में मान्यता उसी मत को मिल सकती है जो किसी तथ्य के आधार पर हो। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने श्री प० रामचन्द्र शुक्ल के मत को ही माना है। उनके कथन में कुछ सत्य भी है क्योंकि उन्होंने किसी सम्प्रदाय विशेष पर अधिक जोर न देकर इनको प्रेमोमग का कवि कहा है। वास्तव मे घनानद ने भी भक्ति की किसी एक परम्परा को नहीं अपनाया। इनके काव्य में राधा-कृष्ण की अनेकों लीलाओं का वर्णन है—कहीं झूला झूलते, कहीं विहार करते, कहीं विनोद और अन्य किसी क्रीड़ा में रत। घनानद ने यमुना, व्रजभूमि, गोवर्धन आदि अनेक स्थानों को भी अपने काव्य में वर्णित करके अपने व्रजभूमि के प्रति प्रेम को प्रदर्शित किया, है। वशी की महिमा को भी घनानंद ने अनेक स्थानों पर उसी प्रकार वर्णित किया है जिस प्रकार सूरदासजी ने अपने काव्य में स्थान दिया। घनानंद की पदावली को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें उन्होंने अन्य भक्त कवियों का अनुकरण किया है। जिस प्रकार हित-वृन्दावन आदि कवियों ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को अपने काव्य में वर्णित किया है इस प्रकार का कोई भी प्रतिबन्ध घनानद के काव्य पर नही रहा। इनके काव्य की मुख्य धारा प्रेम है और उस प्रेम की पुष्टि के लिए ही इन्होंने अपने से पूर्ववर्ती उन सम्पूर्ण काव्य परम्पराओ को अपनाया जो कि उनकी प्रेम व्यजना मे सहायक हो सकती थीं। घनानद ने अपने भग्न हृदय का सम्बल राधा और कृष्ण को बनाया किन्तु उनके हृदय मे सुजान की मूर्ति सदा रही। कृष्ण को भी उन्होंने अपनी प्रेमिका के नाम से ही विभूषित कर दिया। इसलिए यह कहना सरल नहीं कि घनानद किस प्रकार की भक्ति-पद्धति मे विश्वास करते थे।

घनानंद के काव्य को देखने से स्पष्ट है कि उन पर पूर्ववर्ती परम्पराओ का पूर्ण प्रभाव था। सूफी सन्तों का प्रभाव उनकी रचनाओं मे मिलता है। इसके अतिरिक्त निर्गुण धारा का प्रभाव भी कहीं-कहीं पर है। कृष्णभक्त कवियों ने तो इनको अपने रग में ही रँग लिया' रीतिकालीन शृंगारिक

भावना भी इनके काव्य में कहीं-कहीं पर बड़ी प्रखरता के साथ है। कारण यह था कि इन्होंने अपने प्रेम के चित्र को प्रखरता देने के लिए ही उन सम्पूर्ण तत्वों को अपने काव्य म स्थान दिया।

वैष्णवों में कृष्ण के लोक रंजक रूप को ही अपनाया गया था। राधा की उपासना इन वैष्णव आचार्यों में निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य ने ही अपनाई थी। सम्भवत. घनानद ने जो राधा की उपासना और महत्ता का प्रतिपादन किया है वह निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण ही किया हो। किंतु उनकी अन्य रचनाओं में कृष्ण की लीलाओं को जो प्रमुखता दी है वह सब सूरदास आदि बल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियों की सी ही प्रतीत होती है। इसलिये यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि इनके ऊपर केवल निम्बार्क सम्प्रदाय का ही प्रभाव था।

सूफीमत और घनानन्द—कुछ लोगों का कथन है कि घनानद ने सूफियों के प्रेम की पीर को भी अपने काव्य में स्थान दिया। सूफियों में प्रेम की पीर को अधिक महत्व दिया गया है तथा सूफियों के काव्य म विरह को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। कुतुबन, जायसी और मझन आदि कवियों की रचनाओं में प्रेम की कसक आदि से लेकर अ त तक चलती है। नागमती के विरह वर्णन म जायसी ने जिस प्रेम को व्यजित किया है वह अपनी समानता नहा रखता। सूफियों के मतानुसार सम्पूर्ण सृष्टि उस अनन्त प्रिय के वियोग में रो रही है। घनानद के काव्य में भी इस सूफी पीर की झलक अनेक स्थानों पर है किंतु अन्तर केवल यही है कि जहाँ सूफियों ने उस अज्ञात सत्ता का आवरण डालकर उसे रहस्योन्मुख बनाया है वहाँ घनानद के काव्य में केवल अपने हृदय की वेदनाओं का प्रसार रूप देने के लिये ही उस पद्धति को अपनाया गया है। सूफियों में लौकिक प्रेम के द्वारा ही आध्यात्मिक प्रेम की प्राप्ति मानी है। जायसी की 'पद्मावत' में लौकिक कथा को ही पारलौकिक प्रेम के लिये चुना है। सयोग और वियोग दोनों वर्णनो में कवि उस अनन्त सत्ता की ओर सकेत करता चलता है तथा उस आध्यात्मिक स्वरूप की झलक देखता है। जायसी ने लौकिक प्रेम का वर्णन करते करते उसका [illegible] आध्यात्मिक प्रेम से अनेक स्थलों पर जोड़ा है—

> बिरह के आगि सूर जरि काँपा। रातिहु दिवस जरहि ओहि ताता॥
> अगिन उठी जरि उठी निआना। धुँआ उठा उठि बीच बिलाना।
> पानि उठा उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ भुइं चूआ॥

इसी प्रकार लौकिक सौंदर्य का वर्णन करते करते कवि पारलौकिक [illegible]

को पदमावत में कई स्थानों पर देखता है।

उन्ह बानन अस को जो न मारा। वेधि रहा सगरी ससारा॥
गगन नखत जो जाहि न गनै। वै सब बान ओहिके हनै॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहि सब साखी॥

सृष्टि के पदार्थों का कार्य भी सब उस अनन्त के सौंदर्य के समागम के लिये ही है—

पुहुप सुगन्ध करहि एहि आसा।
मकु हिरकाइ लेइ इन्ह पासा॥

किन्तु घनानन्द ने इस प्रकार प्रेम का व्यापक रूप अपनी रचना में नहीं देखा। वह तो केवल लौकिक प्रेम को कृष्ण के ऊपर न्यौछावर कर चुके थे। इसलिये यह कहना भी न्यायसगत नहीं होगा कि घनानन्द का काव्य पूर्णरूपेण सूफियों की परम्परा में है। बस इतना ही कहा जा सकता है कि उनके ऊपर सूफियों का आंशिक प्रभाव अगर हो तो आश्चर्य नहीं। वह भी केवल इस कारण कि उन्होंने लौकिक प्रेम करते हुये कृष्ण की ओर भी सकेत किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूफियों में परमात्मा को पति और आत्मा को पत्नी माना गया है। इसलिये उनकी उपासना में पति-पत्नी भाव के कारण शृंगार को अधिक महत्व दिया गया। कृष्ण भक्तों में जो इस प्रकार की भावना है सम्भवतः उस पर सूफियों के मादनभाव का प्रभाव नहीं। भारतीय भक्तों में जो माधुर्य भाव आया वह भी सूफियों के मादनभाव से भिन्न है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' नामक पुस्तक में इस भिन्नता को अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखाया है—"भारतीय माधुर्यभाव का आलम्बन व्यक्त भगवान है। उसकी अलौकिक सत्ता हमारा उद्धार करती है और लौकिक हमें बराबर अपनी ओर खींचती रहती है। हम अपने आप को रति का अवतार समझते हैं काम का नहीं। सूफी इस विषय में हमसे प्रतिकूल हैं। उनकी भक्ति का आधार मदन अथवा काम है रति नहीं।... ...काम अमृत है तो रति आनन्द है और दोनों ही ब्रह्म के दो रूप हैं। माधुर्यभाव में रति काम को चाहती है तो मादनभाव में काम रति का पीछा करता है। एक मधुर, कोमल और मन्द है तो दूसरा उन्मत्त, भीषण और उग्र।"

उपर्युक्त उद्धरण से भारतीय प्रेम-पद्धति और सूफी प्रेम-पद्धति का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। भारतीय भक्त आनन्द का इच्छुक है किन्तु सूफी भक्त उस अनन्त के साथ सभोग की लालसा रखता है।

घनानन्द का प्रेम मूलतः भारतीय पद्धति पर ही आधारित था। उनको

प्रियतम के समागम की ललक उतनी नहीं जितनी कि उसके प्रेम को अनुभव करने की है। इसलिये उन्होंने प्रेम के पन्थ को ज्ञान से भी ऊपर माना है—

ज्ञान हू ते आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजावै तामें भोगी भोग जात व्है।
जान घन-आनँद अनोखो यह प्रेम पन्थ,
भूले ते चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै॥

घनानन्द के विरह वर्णन को भी सूफियों के प्रभाव का परिणाम कहा जाता है किन्तु यह भी उचित नहीं। उनका विरह भी शुद्ध भारतीय परम्परा पर ही आधारित है। सूफियों से प्रथम भी भारतीय साहित्य में विरह की प्रधानता थी। वरन् यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि भारतीय काव्य प्रणेताओं ने विरह को जो महत्व दिया वह संयोग को नहीं। उधर धार्मिक क्षेत्र में आत्मा को परमात्मा की विरहिणी मानकर वैष्णव आचार्यों ने जनता को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। कृष्ण भक्तों के अन्दर आकर जो विरह का रूप परिलक्षित हुआ वह वैष्णव आचार्यों का प्रभाव था। सूरदास आदि कवियों ने उस विरह को अपने काव्य में अधिक महत्व दिया। सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य विरहिणी आत्मा (गोपियों) का ही रुदन है। सूर की गोपियाँ अपने प्रिय के वियोग में आँसुओं की धारा बहा चुकी थीं उसका प्रभाव घनानन्द के विरह व्यथित हृदय पर भी पड़ा। इसलिए यह कहना कि सूफियों की विरह वर्णन की पद्धति को अपनाकर ही घनानन्द ने अपने काव्य में विरह को इतना प्रमुख स्थान दिया न्यायोचित नहीं।

सूफियों का प्रभाव पड़ा और वह केवल घनानन्द पर ही नहीं वरन् उनसे पूर्व के कृष्ण भक्त कवियों पर भी पड़ चुका था। किन्तु वह केवल इस कारण कि सूफियों की प्रेम-पद्धति में सामाजिक व्यवधान की कमी थी और वह एक ऐसी तड़पन को लेकर चला था जो उस समय के विलासप्रिय वातावरण के उपयुक्त था। नागरीदास आदि में इसके दर्शन होते हैं। घनानन्द ने भी इसी प्रकार सूफी प्रभाव में आकर कुछ रचनायें कीं। किंतु उनके इतने बड़े काव्य को देखकर यह नगण्य ही है। 'वियोग वेलि' और 'इश्कलता' में यह प्रभाव परिलक्षित होता है—

लिखौं कैसे पियारे प्रेम पाती।
लगै अँसुअन झरी है टूक छाती॥

इसी प्रकार कटाक्षों का बाण हो जाना आदि प्रयोग भी सूफी प्रभाव को दिखाते हैं—

सलोनी स्याम मूरति फिरै आगे ।
कटाछैं बान से उर आन लागे ॥
मुकट की लटक हिय में आय हालै ।
चितवनी बक जियरा बीच सालै ॥

किन्तु यहाँ पर भी शैली का प्रभाव है । फारसी काव्य में हृदय का टुकड़े टुकड़े होना, मॉस का गलजाना आदि बीभत्स दृश्यों को भी वर्णित किया जाता है । जायसी के काव्य म भी इस प्रकार का प्रयोग मिलता है—

'बिरह सारगन्हि भू जै मॉसू'

'इश्कलता' में भी घनानन्द पर कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है—

दीजे इनमू सीख सलोने सॉवरे ।
खून करैं ये नैन हुये लड़बावरे ॥
खूनी कीये जाय करेजें घाव है ।
आनँद जीवन जान न और बचाव है

यदि घनानन्द के काव्य म इस प्रकार के स्थलों को देखा जाय तो वह बहुत कम हैं । वास्तव म घनानन्द एक प्रेमी थे और उनका प्रेम भी कुछ इतना घनीभूत हो गया था कि उसे जिधर ही अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग मिला उधर ही उसकी धारा प्रवाहित हो चली । सूफियों की प्रेम पद्धति के दार्शनिक पक्ष से उनको कोई भी तात्पर्य नहीं था । उनको यदि उनकी शैली कहीं अच्छी लग गई तो उन्होंने उसको अपना लिया । इसलिये इन कतिपय उदहरणों के द्वारा जो लोग उनमें सूफी प्रभाव की व्यापकता को ढूँढ़ने का कष्ट करते हैं वह उनके साथ अन्याय और अपने समय का दुरुपयोग करते हैं । जहाँ तक उनकी प्रेम की पद्धति का प्रश्न है वह शुद्ध भारतीय ही है ।

निर्गुण सन्तो का प्रभाव

कुछ विद्वानों ने घनानन्द की प्रेम पद्धति को निर्गुण सन्तों की रहस्योन्मुख प्रेम पद्धति से मिलाने का प्रयत्न किया है । श्री शम्भुप्रसादजी के मत को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं उनका कथन इसी प्रकार का है । किन्तु घनानद में निर्गुण तत्वों का ढूँढना भी हास्यास्पद प्रतीत होता है । उन्होंने कृष्ण और राधा के साकार रूप का ही वर्णन किया है । किन्तु रहस्योन्मुख कवियों में सगुण का कोई स्थान नहीं । उनके विरह को भी कबीर, दादू आदि सन्तो से प्रभावित बताया है । किन्तु हम ऊपर कह चुके हैं कि कृष्णोपासकों में यह विरह की तीव्रता वैष्णव आचार्यों के प्रभाव से ही आई थी । इसके अतिरिक्त

जयदेव, विद्यापति, चैतन्य और चंडीदास में भी इस विरह को प्रमुख स्थान सूफियों और निर्गुण सन्तों से पूर्व ही दिया जा चुका था। कबीर के ऊपर भी दक्षिण के आचार्यों का प्रभाव था। परमात्मा और आत्मा का विरह उन्होंने वेदान्त के प्रभाव से प्रभावित होकर ही लिया था। तुलसी जैसे सगुणोपासक भी निर्गुण से कुछ न कुछ इसीलिये ही प्रभावित हुए कि उन पर वेदान्त का प्रभाव था—

> ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
> निर्गुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

सूरदास ने भी कहा है कि निर्गुण अरूप है इसीलिये वह अगम्य और अगोचर है इसलिये ही सगुण ईश्वर की उपासना करता हूँ। इससे स्पष्ट है कि इन भक्तों के ऊपर वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म का प्रभाव था। वह उसे उपासना के लिये उपयुक्त न समझकर ही एक ऐसे आलम्बन को लेकर चले जिसको जनता सुगमता से अपना सके। राम और कृष्ण का रूप जनता में प्रचलित था। उनको अवतार के रूप में ग्रहण कर लिया गया। इसी प्रकार यदि घनानन्द के कतिपय पदों में निर्गुण ब्रह्म के विषय में कोई संकेत मिल जाता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम उनको कबीर और दादू की पंक्ति में खड़ा करके देखने लगें। यदि उन्होंने इस प्रकार के कुछ पद लिखे हैं तो वह वेदान्त दर्शन के प्रभाव के कारण जिसमें ब्रह्म को निराकार माना है। घनानन्द के काव्य में इस प्रकार के पदों की न्यूनता ही है। यदि कहीं पर उन्होंने निर्गुण के विषय में कहा है तो इस प्रकार की कुछ उक्तियाँ बिहारी और देव में भी हैं किन्तु उनका सम्बन्ध कभी भी रहस्यवादियों से नहीं लगाया गया। बिहारी ने निराकार ब्रह्म के विषय में कहा है—

> जगतु जनायौ जिहि सकल सो हरि जान्यौ नाहिं।
> ज्यौं आँखिन सब देखियत आँखि न देखी जायँ॥
> बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किए नीति ठहरायँ॥
> सूक्ष्म कटि परब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाय।
> दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल।
> प्रगटति निर्गुन निकट रहि चग रङ्ग भूपाल॥

किंतु उपर्युक्त दोहों के आधार पर ही महाकवि बिहारी को यदि निर्गुणोपासक भक्तों की श्रेणी में रख दिया जाय तो यह उचित नहीं। किसी भी कवि को उस समय तक किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं बताया जा सकता

जब तक उसकी रचना में उस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को प्रचुर रूप में न अपनाया गया हो। बिहारी का अधिकतर काव्य शृंगार के चित्रों को ही प्रस्तुत करता है। इसलिये उनके कुछ पदों के आधार पर उन्हें निर्गुणोपासक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार घनानन्द में यदि हम ध्यान से खोजने पर कुछ पद पा जाते हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह निर्गुणोपासक भक्त थे। कुछ विद्वानों ने घनानन्द के इस पद के द्वारा ही उनको निर्गुण सम्प्रदाय का बना दिया है और उनके प्रेम को रहस्योन्मुख बतलाया जाता है—

आयु जौ वायु तौ धूरि सबै सुखजीवन मूरि सम्हारत क्यों नहीं।
वाहि महागति तोहि कहा गति बैठे बनेगी विचारत क्यों नहीं॥
नेमिनि संग फिरथौ भटक्यौ पल मूँदि सरूप निहारत क्यों नहीं।
स्याम सुजान-कृपा घनआनँद प्रान पपीहनि पारति क्यों नहीं॥

किन्तु केवल इसी सवैये के आधार पर हम उनको यदि निर्गुणोपासक कहने लगें तो हमारी बुद्धि पर अन्य लोगों को आश्चर्य अवश्य होगा। इस सवैये में कवि ने निराकार को उसी प्रकार स्मरण किया है जिस प्रकार सूर तथा बहुत से रीतिकालीन कवियों ने भी किया है। पुराणों के प्रभाव से ब्रह्म का अवतार रूप में प्रकट होना भारतीय भक्तों में ही नहीं वरन् साधारण लोगों में भी मान्य हो चुका था। आज भी रामायण का पाठ करने वाले बहुत से ग्रामीण इस बात को जानते हैं कि ब्रह्म निराकार है किन्तु भक्तों के दुखों को दूर करने को वह अवतार लेकर इस जगत में रहता है। फिर घनानन्द तो एक विद्वान पुरुष थे। अनेक महात्माओं और सन्तों का समागम भी वह करते ही रहते थे। इसलिये यदि उन्होंने निराकार ब्रह्म का नाम लिया तो उसका तात्पर्य यह नहीं कि वे निर्गुण सन्तों की परम्परा में बैठा दिये जायें। वास्तव में सुजान के लौकिक प्रेम की असफलता के कारण ही उन्होंने कृष्ण जैसे अलौकिक आलम्बन के प्रति अपने प्रेम को परिवर्तित करके अपने हृदय की अशान्ति को मिटाया। कृष्ण का रूप सौन्दर्य उनके लिए आनन्द का स्रोत बन गया। और इस प्रकार के रूप और सौंदर्य को पाकर ही वह अपनी प्रेमिका के रूप की झाँकी उसमें देख सके।

वैष्णव प्रभाव—महाकवि घनानन्द की रचनाओं में कृष्ण तथा राधा का वर्णन प्रचुरता से मिलता है और इसी कारण कुछ विद्वानों ने इनको भक्त कवियों की कोटि में रखने का प्रयत्न भी किया है। उनके काव्य में राधा भी प्रमुखता के साथ वर्णित है जिससे कुछ विद्वानों ने इनको निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित कहा है। निम्बार्काचार्य ने राधा की उपासना को अधिक महत्व

दिया था। इनका कथन था कि राधा और कृष्ण का सम्मिलित रूप ही भक्ति का प्रधान रूप है। इस प्रकार राधा और कृष्ण की युगल मूर्ति के साथ शृङ्गार भावना भी भक्ति के क्षेत्र में आगई। राधा का शृंगारिक वर्णन निम्बार्क सम्प्रदाय में भक्ति का रूप माना गया। निम्बार्काचार्य ने राधा के इस रूप को शाक्त प्रभाव से प्रभावित होकर लिया था। यह कहना असत्य होगा कि भागवत के प्रभाव से इन्होंने राधा के रूप को अपनी भक्ति-पद्धति में ग्रहण किया। भागवत में गोपियों के साथ श्री कृष्ण का वर्णन अवश्य हुआ है किन्तु राधा का कहीं नाम नहीं आया। एक ऐसी गोपी की चर्चा अवश्य है जो कि कृष्ण के साथ एकान्त में विहार करती है। उस गोपी के भाग्य की सराहना अन्य गोपियों के द्वारा की जाती है कि यह उसका पूर्व जन्म का फल है जो कृष्ण के प्रेम की अधिकारिणी हुई। लेकिन 'राधा' नाम का उल्लेख श्रीमद्भागवत में कहीं भी नहीं। वास्तव में राधा को शाक्तों ने शक्ति के रूप में अपने सम्प्रदाय में बहुत पहले ग्रहण कर लिया था तथा शिव को कृष्ण के रूप में प्रतिष्ठित करके अपनी भक्ति में स्थान दिया था। प्रथम शताब्दी की रचना गाथा सप्तशती में जो राधा और कृष्ण का रूप मिलता है वह शाक्तों का ही प्रभाव है। (देखिये गीतकार विद्यापति पृ० १८४--५)

वैष्णव आचार्यों में सर्व प्रथम निम्बार्क ने जनता में परम्परा से प्रचलित राधा कृष्ण के शृङ्गारिक रूप को ग्रहण किया। राधा को कृष्ण की शक्ति माना गया। बल्लभ ने राधा के इस रूप को व्यापक बना दिया और इस प्रकार शाक्तों की शृङ्गार-भावना वैष्णव धर्म में आकर समाहित हो गई। जयदेव और विद्यापति ने भी राधा के रूप को शाक्तों से ही अपनाया था। राधा का रूप हिन्दी साहित्य में दो प्रकार से आया। निम्बार्क के द्वारा तो उसे धार्मिक रूप दिया गया तथा विद्यापति आदि कवियों ने उसे कविता के क्षेत्र में लाकर कवियों को एक ऐसी सौन्दर्य की प्रतिमा दी जिसके रूप वर्णन को करते करते वे अभी तक तृप्त नहीं हुये।

घनानन्द में राधा के दोनों रूप हैं। जहाँ पर उन्होंने कृष्ण की शक्ति के रूप में लिया है वहाँ राधा साम्प्रदायिक घेरे में ही हैं किन्तु जहाँ उनको केवल शृंगार भावना को अभिव्यक्त करने का साधन बनाया है वहाँ पर उनका वही रूप है जो शताब्दियों से कवियों के द्वारा जनता की शृंगार भावना को सतुष्ट करने के लिये वर्णित होता आया था। कृष्ण-भक्त कवियों ने उस पर दर्शन का आवरण चढ़ाकर ग्रहण किया इसलिये सूरदास आदि कवियों में राधा का स्थान बहुत ही उच्च एव भक्तों की मुक्ति का स्रोत रहा किन्तु आगे चलकर

रीतिकाल के कवियों में केवल शृंगार की देवी के रूप में ही राधा को ग्रहण किया गया। इस प्रकार भक्तों को अपनी कृपा से मुग्ध करने वाली शक्ति का रूप एक सामान्य नायिका में ही देखा जाने लगा। घनानन्द के काव्य में राधा के दोनों रूप हैं। उनकी लीलाओं को एव उनकी गुण गाथाओं को वैष्णव कवियों के समान भी वर्णित किया है तथा शृंगारी कवि के रूप में राधा को एक सामान्य नायिका बना दिया है। नीचे राधा के दोनों रूपों को दिया जाता है।

'भावना प्रकाश' में घनानन्द ने राधा और कृष्ण के साम्प्रदायिक रूप को प्रदर्शित किया है—

'राधा मोहन जोट अनूप। अमल अनन्द अपूरव रूप॥
उनकी लीला अचरज खानि। कौन सके या मरमहि जान॥

कृष्ण और राधा के प्रेम को भी कवि ने किस उच्चभूमि पर वर्णित किया है—

'प्रेम विवस न गिनत निसि भोर। दोउ दुहुँन के चन्द्र चकोर॥
केलि कला पण्डित रस मण्डित। नित नव नव रुचि रचे अखण्डित

राधा को घनानन्द ने अपनी उपासना का केन्द्र भी कई स्थानों पर बनाया है—

'आछी तानिनि गाय रिझाऊँ। रीझि रीझि राधाहि रझाऊ॥"

व्रज की सम्पूर्ण बनस्पति भी राधा और कृष्ण की शोभा को पाकर नया नया रूप धारण करती है—

बन सपति दपति मई, नई नई नित जोति।
कृष्ण राधिका रूप तें, जगमग जगमग होति॥

यमुना की महत्ता भी इसलिए है कि वह राधा के अङ्गों का स्पर्श करती है·

राधा को रस जमुना जानें। भानु नदनी नातौ मानें।
जमुना हृदय रहत नित राधा। जमुना लखै टरै भ्रम बाधा॥

घनानन्द ने राधा की वन्दना भी अनेक स्थानों पर की है जिससे यह प्रतीत होता है कि वह निम्बार्क मतानुयायी ही होंगे—

ऐसो रूप अगाधे राधे, राधे राधे राधे राधे।
तेरे मिलिवे कों ब्रजमोहन बहुत जतन है साधे॥
उनके निसिदिन लगी रहै अक तू न परत पल आधे।
आनन्द घन पिय जातक चोंपिन हा राधे आराधे॥

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर राधा की वन्दना कवि अत्यन्त भक्तिभाव से करता है—

'राधिका-चरन बन्दन करि बखानौं'

किन्तु केवल कुछ पदों के आधार पर इनको निम्बार्क मतानुयायी नहीं माना जा सकता। इनके अधिकतर कवित्त और सवैये उनकी शृंगारिक भावना के ही प्रतीक हैं।

राधा का रीतिकालीन रूप :—

जिस राधा को कवि ने अपनी आराध्या देवी के रूप म वर्णित किया था उसी को वह एक सामान्य नायिका के समान भी वर्णित करने लगता है। एक भक्त कवि कभी भी अपनी हृदय प्रतिमा पे प्रति इस प्रकार के भाव व्यक्त नही करेगा। सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों में राधा के प्रति शृंगार की भावना कही कही पर आई है किंतु वहाँ पर उन कवियों ने दर्शन का आधार ले लिया है और इस प्रकार उन पर अश्लीलता का दोष नहीं लगा। किंतु घनानद ने अपन काव्य में जो सभोग का वर्णन किया है वह नितात लौकिक है। वह केवल कवि की शृंगारिक भावना को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार की अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। राधा और कृष्ण के सभोग सुख का एक चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। वह ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने रीतिकालीन प्रभाव के परिणाम स्वरूप ही उसे चित्रित किया है—

सोए हैं अङ्गनि अङ्ग समोए सु भोए अनग के रग निरयौं करि।
केलि कला रस आरत आसव पान छकै घन-आनन्द यों करि॥
प्रेम निसा मधि रागत पागत लागत अगनि जागत ज्यों करि।
ऐसे सुजान विलास निधान ही सोए जगे कहि ज्योरिए क्यों करि॥

इस प्रकार के अनेकों वर्णन उनकी काव्य कृति में भरे पड़े हैं। साथ ही कुछ इस प्रकार के वर्णन भी हैं जिनकी शृंगारिक भावना सूरदास, नन्ददास आदि कवियों की कोटि की है।

इन दोनों प्रकारों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि घनानन्द सूरदास क समान कृष्ण और राधा की लीलाओं को लेकर ही अपने काव्य में नहीं चले वरन् कहीं-कहीं पर लौकिक प्रेम को ही उन्होंने स्पष्ट रूप से वर्णित किया है। भक्त कवि कभी अपनी राधिका को इस निम्न स्तर पर नहीं उतार सकता। इससे स्पष्ट है कि घनानन्द पर अपने काल का भी कुछ प्रभाव था जिससे उनका बचना असम्भव था। उनके काव्य में राधा

को खंडिता नायिका भी बना दिया है जो एक भक्त कवि के लिए उचित नहीं था।

इसके अतिरिक्त उनके सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ 'सुजान सागर' में जो उनकी भावना व्यक्त हुई है उसमें लौकिक प्रेम को ही अधिक महत्व दिया है। केवल कृष्ण को उनके द्वारा दिया हुआ सुजान नाम अवश्य कई स्थानों पर आया है। भक्त कवियों के प्रत्येक पद में 'प्रभु' 'भगवान' आदि शब्दों के द्वारा ईश्वर को संबोधित किया गया है। सूरदास के तो प्रत्येक पद में कृष्ण का स्मरण साथ २ होता चलता है किन्तु घनानन्द के काव्य में अधिकतर सुजान के नाम को ही महत्व दिया गया। कहीं पर तो कवि ने चेष्टाओं का ही वर्णन किया है—

मन उनमाद स्वाद मदन के मतवारे,
केलि के अवारि लौं सवारि सुख सोये हैं।
भुजनि उसी सो धारि अन्तर निवारि जानु,
जघन सुधारि तन मन ज्यों समोए हैं।
सुपने सुरति पागें महाचोप अनुरागें,
सोये हू सुजान जागें ऐसें भाव भोए हैं।
छूटे बार टूटे हार आनन अपार शोभा,
भरे रस सार घन आनन्द अहोए हैं।

घनानन्द में भक्ति के तत्वों की न्यूनता थी और शृंगार की भावना का प्राधान्य था। उनके काव्य में केवल पदावली और कुछ अन्य रचनाओं में ही उन्होंने भक्ति का समावेश किया है अन्यथा उनके काव्य का एक बड़ा भाग शृंगार और प्रेम की ही अभिव्यक्ति है।

कृष्ण भक्तों का प्रभाव—घनानंद की भक्ति-पद्धति को विद्वानों ने कृष्ण भक्त कवियों से प्रभावित कहा है इसमें किसी को संदेह नहीं होना चाहिये क्योंकि कृष्ण और राधा को ही घनानन्द ने अपने काव्य में अधिक स्थान दिया किन्तु साथ ही उनकी भक्ति-पद्धति के आधार पर निम्बार्क मत से जोड़ना असगत प्रतीत होता है। ऊपर हम दिखा चुके है कि राधा की उपासना निम्बार्क मत में प्रधान थी और घनानन्द ने भी अपने काव्य मे राधा को अनेक स्थानो पर देखा है लेकिन साथ ही कृष्ण की लीलाओं को भी उन्होंने प्रधानता दी है। वृन्दावन, यमुना-वर्णन, रास विहार, युगल दर्शन, गोकुल वर्णन, वृषभानुपुर सुषमा, दान लीला आदि अनेकों ऐसे विषयो को भी अपने काव्य में स्थान दिया जो बल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टि-मार्गी

मत का प्रभाव है। सूरदास आदि कवियों ने बल्लभाचार्य के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को अपनाकर अनेक मौलिक तत्वों का समावेश भी किया। उसी प्रकार घनानन्द आंशिक रूप से तो निम्बार्क सम्प्रदाय से प्रभावित रहे लेकिन उन्होंने अपनी प्रेम साधना में अन्य मतो और सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को भी अपना लिया। जहाँ उन्होंने लीलाओं को प्रमुखता दी है वहाँ वह कृष्ण भक्त कवियों से प्रभावित हैं। जहाँ प्रेम की पीर का वर्णन है वहाँ उन पर सूफी प्रभाव है। सूर के समान घनानन्द ने भी कृष्ण को अनेकों रूपों में देखा है। बल्लभ ने कृष्ण को बाल रूप के अतिरिक्त युवक रूप में भी देखा। घनानन्द ने राधा को पूर्ण युवती के रूप में चित्रित करके अपनी शृंगार भावना का परिचय दिया है—

सारी सुरंग चहचही निपट पहिरे राधा गोरी।
साँवरे बरन गोल कपोलनि हिल मिलि खिलैं।।
फूलै जोबन उमग रंग बोरी।
नथ के मुकता पानिप भरे भाल पै दिपि लाल बेंदी।
मधुर अधर बीरी खात उघरि करति चितकी चोरी।।
आनन्दघन पिय कौ हिय नीबी कसनि गसनि बस्यौ।
लङ्क लचकि निसंक अङ्क भरति दुति औरी।।

घनानन्द ने कृष्ण के जन्म के विषय में भी लिखा है—

'आजु हमारे काजु है हो जन्यौ जसोमति मोहन स्याम उजियारो।'

वृन्दावन और यमुना का यश भी घनानन्द ने अनेकों पदों में गाया है—

जमुना देखे ही दुख भाजै।
इन्द्रनील मनि इन्दीवर दलहू की उपमा लाजै।।
सब सुख राखि रसामृत-सींवा वृन्दावन मे राजै।
आनन्द घन ब्रजमोहन पीय के अंग संग रँग साजै।।

जिस प्रकार सूरदास ने मुरली को भी कृष्ण के साथ साथ अधिक महत्व दिया है इसी प्रकार घनानन्द ने भी मुरली को लेकर अनेक कवितायें लिखी हैं—

'स्याम सुन्दर की मुरली बाजै, सह सुरभेद सौं स्रवन सुनत
सुधि बुधि बिसरै रह्यौ न परत बिन देखे ऐरी।

वंशी की ध्वनि को सुनकर गोपियों की वही अवस्था होती है जो सूरदास आदि कवियों की गोपियों की भी हो जाती है—

'बाजै बन मधुर बैन सुनि न रह्यौ परै भवन'

कृष्ण और राधा के नृत्य और रास को भी घनानन्द के काव्य में कृष्ण भर्त्ता के समान ही महत्त्व दिया गया है।

मंडल मधि लटकि लटकि नाचत पिय प्यारी।
फैलि फवनि काछनी लग लेत लहर सारी॥
पहुचनि मुरि मञ्जुल कर कंज नरल तारी।
रूप अजिर गरजित लखि चरननि निमिष डारी
सुख मय मुख मधुर हसनि दसन-दुति उज्यारी।
सरद चंदकान्ति छुटनि पाति छेक डारी॥
भृकुटि नचनि ग्रीव लचनि लक लहकि न्यारी।
थेइ-थेइ कह कंठ-किलक पिय तिय जिय-ज्यारी
उरसि मुकत माल हाल हेरत हिय हारी।
कंचुकि गुन-गसनि रसिक लोचन फन्दवारी॥
चोंप चुहल मचि रुचि सुर करि अलाप चारी।
बिरल राग रूप रचत श्रवन मोद कारी॥
ससि-मयूख-रंजित बन रसनिधि-बढ़वारी।
आनन्द घन पलित फलित केलि वेलि बारी॥

वंशी में जो सपत्नी रूप सूर की गोपियों ने देखा था घनानन्द की राधा भी उसी प्रकार वंशी के प्रति अपनी भावना प्रकट करती है—

बँसुरिया सौति तें अधिक दहै।
बन घन लिये फिरति मोहन कौं यह गति कौन कहै।
देखन हू की चोर कानि बस को ये सूल सहै।
परी न रहन देति घरहू में साखनि गनित रहै॥
च्हहति कियौ कहा इतने पै कल पल एक न है।
आनन्द घन पिय बसौ किये प वैठी बैर वहै॥

सूरदास ने वंशी के ऊपर अनेक पदो की रचना की। कहीं उसको अहंकार में चूर कहा कहीं कृष्ण को उसका सेवक बतला कर अपने हृदय की खीज को उसी प्रकार प्रकट किया जिस प्रकार एक सपत्नी पर की जाती है—

'बंशी अति गरब काहू बदति नाहीं आज'

इस प्रकार घनानन्द के काव्य पर हम व्यापक दृष्टि डालकर जब देखते हैं तो उसम हमको किसी एक रूप के दर्शन नहीं होते। उनके काव्य में यदि राधा और कृष्ण को देखा गया है तो साथ ही राम को भी उन्हो ने नहीं छोड़ा। राम के विषय मे भी उनकी पदावली में कई पद मिलते हैं जो उनकी

धार्मिक सहिष्णुता के परिचायक हैं।

'जनमे राम जगत के जीवन। धनि कौसल्या धनि दस स्यंदन।'

इसी प्रकार एक और पद में भी उन्होंने राम नाम को बड़ी भक्ति भाव से वर्णित किया है—

"कौसिल्या की कोखि कुकुम सुभ पूरन रामचन्द्र उदयौ।
रविकुल सकल प्रकासित कीन्हो अद्भुत कला बिलास बयौ॥
दुख-तम दूर गयौ दबि कितहूँ बाढ्यौ मन में मोद नयौ।
सुजन बन्धु कुमुदावलि फूली अरि-समूह दुःख ताप तयौ॥
निरवधि सुख की सिंधु असधि मधि घर घर उमग तरंग छयौ।
मंगल धुनि की गरज सुधा करि सुहृद चकोरनि चैन दयौ॥
दसरथ भाग कहा कहि वरनौं सकल पेखियत सुकृत नयौ।
अमीदृष्टि रस वृष्टि चहं दिसि करुना आनन्द घन उनयौ॥

रोहिणी नन्दन बलदेव की बन्दना भी इनके द्वारा की गई है—

'जय जय जय बलभद्र धीर गंभीर अविलब प्रलयहारी'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि घनानन्द ने कृष्ण और राधा को अपने काव्य में अधिक महत्व अवश्य दिया किन्तु उन रचनाओं के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अमुक सम्प्रदाय से सम्बन्ध था। यदि उनके काव्य में राधा विषयक कवितायें हैं तो साथ ही उन्होंने कृष्ण की अनेक लीलाओं और क्रीड़ाओं को भी सूरदास के समान अपने काव्य में स्थान दिया। विनय के पद भी उनके द्वारा लिखे गये तो साथ ही ससार की असारता को भी उन्होंने देखा—

लड़काई प्रदोष में टौड लग्यौ, हँसि रोय सु औसर खोय दयौ।
बहुरयौ करि पान विषै मदिरा, तरुनाई तमी मधि सोय लयौ॥
तजिकें रस में घनआनँद कौं, जग धूँधरयौ चातिक नेम लयौ।
जड़ जीव न जागत अजहूँ किनि कैसनि और तें मोह भयौ॥

प्रेम की गहराई को तो उनके समान सम्भवतः बहुत ही कम लोग समझते थे। साथ ही रीतिकालीन शारीरिकता का भी उनको पूर्ण अनुभव था। जायसी और कबीर के समान विरह की महत्ता को भी वह समझते थे। इस प्रकार यदि हम यह कहदें कि घनानन्द केवल निम्बार्क सम्प्रदाय के ही सिद्धांत को मानने वाले थे तो यह एक निराधार बात ही होगी। घनानन्द पर अपने पूर्ववर्त्ती निम्बार्क और बल्लभ दोनो सम्प्रदायों का प्रभाव था। उनको भक्त कवि हम किसी दशा में नहीं मान सकते। मूलतः वह कृष्ण के प्रेम में लीन थे

इसलिये उनको प्रेमी कवि के रूप में मानना ही न्यायोचित होगा। कृष्णभक्त कवियों ने जीवन पर्यन्त कृष्ण की उपासना के लिये ही अपने काव्य का सृजन किया। किन्तु घनानन्द के काव्य में उनके लौकिक प्रेम की व्याकुलता के उद्‌गार हैं। जहाँ तक प्रेम के गीत गाने का प्रश्न है वहाँ तक इस कवि ने अपनी हृतन्त्री के तारों से अनेक स्वरों को निकाल कर प्रेम के वातावरण को गुंजित कर दिया। भक्तों की भावना घनानन्द में नहीं वरन् प्रेमियों के से उद्‌गारों का ही प्राधान्य है। व्यावहारिक रूप में वह कृष्ण की भक्ति को महत्व अवश्य देते थे जो उनकी रचनाओं से स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। किन्तु उस भक्ति को भी केवल इसीलिये अपनाया था जिसमें उनको अपने हृदय के प्रेम विषयक उद्‌गारों को व्यक्त करने में सहायता मिली। उनके काव्य का प्रमुख स्वर प्रेम था भक्ति नहीं। इसलिये घनानन्द को एक प्रेम के गायक के रूप में ही मानना अधिक न्यायसगत होगा। जिस सम्प्रदाय में उनको अपने प्रेमतत्व के प्रदर्शन का अवसर मिला उसी की उन बातों को इस महाकवि ने अपनाया। इसलिये हम यही कह सकते हैं कि घनानन्द जिस प्रकार काव्य प्रणाली की एक बँधी लकीर पर नहीं चले थे। उसी प्रकार किसी एक भक्ति-पद्धति और सम्प्रदाय को भी उन्होंने नहीं अपनाया। यहाँ भी उनका दृष्टिकोण स्वच्छन्द ही रहा।

१५—आधुनिक हिन्दी कविता की विभिन्न धारायें

(डा० सुधीन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी०)

यदि प्राचीन और नवीन कविता में विभाजन-रेखा खींचनी हो तो भारतीय इतिहास के उस घटना-बिन्दु से खींचनी होगी, जिसे हम १८५७ का भारतीय विद्रोह कहते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी कविता के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। उन्होंने केवल मानसिक विलासिता से पूर्ण रीतिबद्ध कविता की जड़ीभूत भावधारा और विषय को विलास-मन्दिर से निकाल कर राजपथ पर लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने जीवन से बिछुड़ी हुई हिन्दी कविता को जीवन का पूर्ण स्पर्श दिया और हिन्दी कविता की वह धारा चल पड़ी जो आज मानव जीवन के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को स्पर्श कर रही है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कविता का बहिरंग तो न बदल पाया परन्तु उसके अन्तरंग का उन्होंने पूर्ण कायापलट कर दिया। वे शताब्दियों से चली आती हुई ब्रजवाणी का मोह तो न छोड़ सके, परन्तु उन्होंने राशि-राशि ऐसी रचनाएँ कीं जो जन-जीवन से प्रेरणा पाती थीं—वास्तव में उन्होंने अपनी कविता को जनता का ही कण्ठ-स्वर बनाया उसमें उसके अभाव अभियोग और आशा-आकांक्षा मुखरित हुई। भारतेन्दु के सभी सहयोगी—प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी और अम्बिकादत्त व्यास सभी भारतेन्दु के सच्चे सहयोगी रहे। इनकी कविताओं में भारत की तत्कालीन नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्थिति-परिस्थितियाँ चित्रित हुईं। भारतेन्दु ने सबसे पहले उस कविता का सूत्रपात किया जिसे राष्ट्रीय कविता कहा जाता है। इस राष्ट्रीय कविता में उस समय की राजभक्ति की गोद में पलने वाली देश-भक्ति पूर्णतया मुखरित हुई है। रोम में ब्रिटिश सेना की विजय पर 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती' लिखने वाले कवि भारतेन्दु ने ही—

आवहु सब मिलि के रोवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

के राष्ट्रीय स्वर को अपनी वीणा पर छेड़ा और उनके सहयोगी कवि प्रतापनारायण मिश्र ने—

चाहो जो भारत कल्यान।
जपौ निरन्तर एक जवान॥
हिन्दी - हिन्दू - हिन्दुस्तान।

का मन्त्रोच्चार किया और उनके दूसरे साथी 'प्रेमघन' ने—

आओ आओ अब काल पड़ा है भारी।

का आह्वान। इस काल में इतनी अधिक सामाजिक कविताएँ लिखी गई कि इसे सामाजिक कविता का युग कहा जा सकता है। सब कवि पूर्णतया जनता की भावना के साथ चलते थे। ये उन्हीं के सच्चे कवि थे। उन्हीं के स्तर पर उतर कर कविता लिखते थे और उसमें उन्हीं की जीवन समस्याओं को अङ्कित करते थे। अकाल, भुखमरी, टैक्स, चन्दा, चुंगी और पुलिस का अत्याचार कौन-सा ऐसा विषय था जो उनकी कविता से बच सका? अपनी कुछ मुकरियों में यदि वे व्यंग्य की पिचकारी छोड़ते थे तो होली और कजली में उपहास के फव्वारे। इसी युग के अन्त में हुए पण्डित श्रीधर पाठक जिन्होंने भारत देश की वन्दना देवता के रूप में की। वे भारत के सबसे बड़े गायक हुए। इस प्रकार सामाजिक और देशभक्ति की कविता का युग भारतेन्दु युग है।

इस सामाजिक और राष्ट्रीय कविता का पूर्ण विकास हुआ द्विवेदी युग में जिसे ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में सीमित किया जा सकता है। 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस युग के सूत्रधार थे और उन्होंने वही काम किया जो एक महान युग निर्माता का है। हिन्दी कविता का दूसरा कायापलट आचार्य द्विवेदीजी ने किया। भारतेन्दु ने कविता का अन्तरग बदल पाया था। परन्तु द्विवेदी जी ने उसका बहिरग ही पलट दिया। अभी तक नये भावों की आत्मा ने ब्रजभाषा का चोला नहीं उतारा था। द्विवेदी जी को उसे खड़ी बोली का नया शरीर दिलाने का पूर्ण श्रेय है। उन्होंने इस युग के हिन्दी कवियों पर शासन और अनुशासन किया। 'सरस्वती' के सम्पादक के सिंहासन से राजदण्ड लेकर और उन्हीं के दिशा-निर्देशन में मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय, गिरधर शर्मा, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय जैसे सिद्ध-प्रसिद्ध कवियों ने खड़ी बोली के जन्म और शैशव का पूरा इतिहास निर्माण किया। यही खड़ी बोली हिन्दी कविता की 'गंगोत्री' है जो आगे जाकर महान् नदी का रूप धारण करती है और जिसमें अनेक छोटी-छोटी जल-धाराएँ आकर मिलती हैं। आज जबकि खड़ी बोली की कविता का पूर्ण

वैभव है, यह कहना सरल है कि द्विवेदी युग की कविता 'इतिवृत्तात्मक' कविता थी, परन्तु वस्तुतः इस शब्द से इस युग की कविता की अवगणना नहीं की जा सकती। द्विवेदी युग की कविता में हिन्दी कविता की वर्णनात्मक (इतिवृत्तात्मक), चमत्कारात्मक, उपदेशात्मक और भावात्मक सभी समस्यायें, सभी अवस्थायें निहित हैं और ये वे मंजिलें हैं जिनके बिना न 'छायावाद' की सृष्टि हो सकती थी, न 'रहस्यवाद' की और न 'प्रगतिवाद' की।

आचार्य जी ने सच्चे गुरु की भांति अपने कवि-शिष्यों को इस कठिन पथ पर चलना सिखाया और उन्हें इस योग्य बनाया कि वे समस्त बहिर्जगत को अपनी कविता का विषय बना सकें। इन कवियों की लेखनी ने संसार का कोई विषय न छोड़ा, जो चर्म चक्षुओं से दिखाई देता है। "चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु" "और बिन्दु से सिन्धु, अनन्त आकाश, अनन्त पर्वत" सब कुछ इन कवियों की कविता का विषय हो गया। इस काल की कविता में एक अत्यन्त उदात्त स्वर सुनाई पड़ता है—इस काल के कवियों का एकमात्र उद्देश्य था समाज हित, एकमात्र लक्ष्य था लोक-कल्याण। भक्ति युग को छोड़कर इतनी उदात्त और कल्याणी कविता अभी तक नहीं लिखी गई थी। यदि इस समय की मुख्य कविता धारा को किसी वाद के घेरे में बांधा जाय तो उसे 'राष्ट्रवाद' का नाम दिया जायगा।

इस 'राष्ट्रवाद' की धारा में अतीत का गौरवगान है तो वर्तमान के प्रति क्षोभ भी है, भविष्य की आशा की किरण सी भी है और भारतीय राजनीति की गति के साथ होने वाला स्पन्दन भी है, स्वतन्त्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को चूर्ण करने की प्रेरणा भी है और उसके विजय के स्वर भी हैं। भक्ति के इस गर्जन, उद्वेलन, कल्लोल और कलकल स्वर को इस काल की कविता के विकास में भली भांति सुना जा सकता है। गुप्तजी की 'भारत-भारती' त्रिकाल दर्शनी आरसी है तो सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य-विजय' अतीत का गौरवगान है। 'दीनजी' ने 'वीर पचरत्न' में भारतीय वीरों का चरित्र गायन किया है। 'सनेही', लोचन प्रसाद पांडेय, रूपनारायण पांडेय आदि ने भारतीय वीर वीरांगनाओं को श्रद्धांजलियाँ दी हैं। माधव शुक्ल ने भारत की वन्दना में शतश गीत गाए। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' 'मिलन' और 'स्वप्न' में भारतीय राजनीति में होने वाले गांधीवादी आन्दोलनों के पूर्ण प्रभाव को अंकित किया है। चम्पारन, बारदोली, खेड़ा के अभियानों की पूरी प्रतिध्वनि इस काल की कविता में है। किसान, ग्राम आदि अपेक्षित अङ्गों की ओर इन कवियों ने अपनी दृष्टि ही नहीं फेरी है वरन

उनकी करुण दशा को भी चित्रित किया है। इस प्रकार इस काल की राष्ट्रीय भावना सांगोपांग राष्ट्रवादी है।

द्विवेदी काल की सबसे बड़ी देन है 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' महाकाव्यों की सृष्टि। 'साकेत' की प्रेरणा द्विवेदी जी ने दी और उसका समारंभ तथा अधिकांश सृजन भी उसी काल में हुआ। इन प्रबन्ध-काव्यों में 'हरिऔध' और गुप्तजी ने प्रबन्धकाव्य की टूटी हुई परम्परा को पुनः स्थापित किया और उसे उच्चता तक पहुँचाया भी। 'प्रियप्रवास' में नई दिशा थी, आज तक भी उसका अनुकरण न हो सका। उसमें मानववाद और मानव प्रेम की उदात्त चिन्ता धारा का पूर्ण प्रभाव है। श्रीकृष्ण और राधिका के लोक-संग्रही रूप में और उनके प्रेम के उन्नयन में। 'साकेत' में काव्य कला बहुत ऊँची कोटि में है और यदि उसे इस युग का 'रामचरित मानस' कहें तो अत्युक्ति नहीं है। उर्मिला का विरह-वर्णन तो समीक्षकों की मीमांसा का विषय ही हो गया। इस युग में हिन्दी कविता के भावों में वह उच्चता आ गई थी और उसकी अभिव्यंजना में तथा भाषा में वह शक्ति आ गई थी कि जिससे आगे जाकर 'प्रसाद' और 'निराला' तथा पन्त और महादेवी उस युग का निर्माण कर सके जिसकी कविता भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व साहित्य में ऊँचा सिर कर सकती है। बीसवीं शताब्दी के इन दो दशकों के उपरान्त अगले दो दशकों तक जो हिन्दी कविता की गतिविधि है वह बहुमुखी है। इस काल को 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी और निराला के प्रथमाक्षरों को लेकर 'प्रसुमन काल' ही कहना चाहिए। इसी काल में श्रीगणेश हुआ उस नीति-काव्य का जिसे सच्चे अर्थ में अन्तर्भाव व्यंजक या आत्मगत (Subjcetive) कविता कहते हैं। बहिर्जगत के विषय में सारा इतिहास कहकर अब कवि-कल्पना उस अन्तः प्रदेश की ओर मुड़ी जिसमें असख्य भावनाओं और अनुभूतियों का संसार निहित है। इस युग की कविता पूर्णतया आत्मगत कविता हो गई। अन्तर्जगत की कथा कहने में कवि को प्रकृति से आत्मभाव स्थापित करके उससे अपनी भावनाओं को रंगने के लिए क्रिया-व्यापारों की छाया लेनी पड़ी और इसका दार्शनिक आधार उन्हें सर्व चेतनावाद (Pantheism) में मिल गया। इस प्रकार प्रकृति में चेतना का आभास हुआ और मानवीय व्यापारों का आरोप। इस प्रकृति के चेतनीकरण और मानवीकरण के काव्य को 'छायावाद' की संज्ञा मिली है और यह प्रवृत्ति इतनी प्रमुख है कि इस काल को 'छायावाद' काल भी कहा जाता है। इस काल के पूर्वोक्त चारों स्तम्भ भी प्रमुख छायावादी कवि हैं। इसी 'छाया-

वाद' की पूर्णता है 'कामायनी' जैसे महाकाव्य की सृष्टि।

आत्मगत कविता की दूसरी प्रवृत्ति है हृदयवाद जिसमें हृदय की मार्मिक भावनाओं का चित्रण कवियों ने अपनी मनः स्थिति के अनुरूप किया है। इस मनः स्थिति पर छाया है, वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक बाधा-बन्धनों और तज्जनित कुंठाओं की। इस क्षेत्र में महादेवी सबसे आगे हैं। भारतीय दर्शन की नश्वरता की भावना ने इस कविता में निराशावाद की छाप दी है। महादेवी में यही 'वेदनावाद' या 'दुखवाद' है, यद्यपि उन्होंने इसे अपने जीवन की विपुल सुख की प्रतिक्रिया कहा है। यह 'निराशावाद', पन्त, रामकुमार वर्मा, भगवती चरण वर्मा आदि की चिन्तन प्रधान कविताओं में जैसे 'परिवर्तन' और 'नूरजहाँ की कब्र पर' में भी है।

इस काल में यथार्थवाद एक तीसरी प्रवृत्ति रही है। कवि अपनी वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक पीड़ाओं, व्यथाओं, दुर्बलताओं और अभावों को इस युग में बिना किसी गोपन भाव के व्यक्त करना चाहता है, यही है यथार्थवाद। इस यथार्थवाद में नैतिक क्षेत्र में बन्धनों का परित्याग है, स्वच्छन्द प्रेम की प्रवृत्ति है और है पाप भावना का पूर्ण बहिष्कार। इस यथार्थवाद की धारा ने दो दिशायें ग्रहण कीं। एक दिशा थी यथार्थ जीवन की कठोरता, कुरूपता तथा प्रताड़ना से घबड़ाकर किसी उस पार के लोक में पहुँच जाने की भावना। इस 'उस पारवाद' को 'पलायनवाद' कहा गया। दूसरी दिशा थी यथार्थ जीवन की निराशा, व्यथा और वेदना और पीड़ा को भुलाने के लिए मस्ती (उन्माद) या मद लाने वाली भावना की। इसको 'हालावाद' के नाम से देखा गया। पलायनवाद की प्रवृत्ति 'छायावाद' और रहस्यवाद के सभी कवियों में है तो 'हालावाद' बच्चन की कविता का मुख्य विषय रहा। नरेन्द्र और अंचल और भगवतीचरण यथार्थवाद की मूलधारा के कवि हुए।

अब तक कवियों ने जीवन के 'स्व' और 'पर' पक्ष को लेकर अगणित छन्दों में असंख्य अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ कीं, परन्तु परोक्ष सत्ता के विषय में वह मौन रहा। मैथिलीशरण गुप्त ने, जयशंकरप्रसाद ने इस युग में फिर से परोक्ष सत्ता की ओर देखा। भक्तियुग की सगुण और निर्गुण भक्ति की भावना इस बौद्धिक और वैज्ञानिक युग में नहीं पनप सकती थी। उसका बौद्धीकरण हुआ 'मानववाद' में। इस धारा का प्रवर्तक रवीन्द्रनाथ को ही कहा जाना चाहिए जिन्होंने पुजारी को पूजा पाठ छोड़कर कर्मयोगी बनने का आदेश दिया है। गुप्तजी की 'बार बार तू आया' और 'स्वयमा-

गत' तथा रामनरेश त्रिपाठी की 'अन्वेषण' कविता इसी परम्परा की है परन्तु परोक्ष सत्ता के प्रति भावना का महत्वपूर्ण पर्यवसान हुआ रहस्यवाद की भावना में। भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद से अनुप्राणित कबीर जायसी का मर्मवाद इस नूतन रहस्यवाद के रूप में प्रत्यावर्तित हुआ। रवीन्द्रनाथ इस धारा के भी प्रेरक प्रवर्त्तक माने जायेंगे। हिन्दी में रहस्यवादी भावना का सूत्रपात किया था द्विवेदी युग के मुकुटधर पाण्डेय, रायकृष्णदास आदि कवियों ने परन्तु इनकी प्रतिष्ठा की प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ने। प्रसाद और निराला ने दार्शनिक ढंग का रहस्यवाद दिया है यद्यपि प्रसाद 'आँसू' में सूफी ढंग के रहस्यवादी हो गए हैं, उधर गुप्तजी उपासक रहस्यवाद के कवि हुए और महादेवी प्रेमपरक रहस्यवाद की साधिका हुईं। महादेवी का रहस्यवाद वस्तुतः आज के रहस्यवाद की मूलधारा है। रहस्यवाद की भावना चिन्तन की दृष्टि से चिरन्तन है किन्तु प्रयोग की दृष्टि से अर्वाचीन्।

क्रिया और प्रतिक्रिया के सनातन नियम के अनुसार जब कवि छायावाद और रहस्यवाद के भाव लोकों में आत्मगत और आत्म-केन्द्रित होने की स्थिति से ऊब उठा तो एक बार फिर जन-जीवन ने उसे अपनी ओर आकृष्ट किया। संसार युद्ध के कोलाहल से पूर्ण और समाज हाहाकार, वेदना और व्यथा से पीड़ित था और कवि को अपनी कल्पना से कहना पड़ा—

> व्योम कुंजों की परी अयि कल्पने!
> भूमि को निज स्वर्ग तक ललचा नहीं,
> उड़ न सकते हम तुम्हारी ··· ··· ···
> शक्ति है तो आ बसा अलका यहीं।

इस प्रकार राजनीतिक और आर्थिक जगत की विभीषिकाओं से ग्रस्त हो कर कवि जनतावादी गायन करने के लिए प्रेरित हुआ। समाज में शोषण पीड़न और उत्पीड़न को वह नहीं सह सका और उसे निःशेष करने के लिए खड्गहस्त हुआ। 'पाशववाद' (Fascism) के विरोध में वह जनता का नायक-उन्नायक हुआ। कवि सदैव जन-जीवन की आवश्यकता को अर्पित नहीं कर सकता। वस्तु-जगत की माँग उसे अपना कर्त्तव्य करने के लिए प्रेरणा देती रहती है। कवि को कवि कर्त्तव्य के पालन के लिए प्रगतिशील ही रहना पड़ता है। जीवन के स्पर्श के बिना काव्य निरा विलास ही तो है परन्तु इस युग की प्रगति के लिए नए मूल्य निर्धारित हुए। 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्थापित हुए। मार्क्सवाद की विचारधारा ही उसका एकमात्र आधार रही। उसके कीटाणु परमाणु के बिना किसी भी प्रगतिशील भावधारा को वे प्रगतिवादी

होने का श्रेय नहीं देना चाहते। उस कसौटी पर न तो 'नवीन' प्रगतिवादी हैं और न 'दिनकर'। 'लालरूस' और 'चीन' की जय-पराजय पर हर्ष और रुदन करने वाले किन्तु भारत राष्ट्र की विराट हलचल की ओर से आँख मूँद लेने वाले, आजाद हिन्द फौज के निर्माता सुभाषचन्द्र बोस को विभीषण की उपाधि देने वाले तथा लज्जा को भी लज्जित करने वाले यथार्थवाद (नग्नवाद) का अङ्कन करने वाले प्रगतिवादी ही प्रगतिवादी हैं। इस प्रगतिवाद के शास्त्र के अनुसार 'प्रगतिवादी' होना एक वर्ग विशेष का सदस्य बनना है परन्तु 'प्रगतिशील' बनना किसी मत-विशेष से गठबन्धन नहीं है। वह तो कवि का शाश्वत पद ही है। आज के 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशीलता' का विवेकशील कवियों और समालोचकों का यही विश्लेषण है।

१६—रत्नाकर जी की काव्य-साधना

(प्रो० फूलचन्द्र जैन 'सारङ्ग' एम० ए०)

रत्नाकर जी का व्यक्तित्व उनकी काव्य साधना में स्पष्ट रूप से मुखरित हुआ है। इसीलिए बीसवीं शताब्दी के कवि होकर भी वे प्राचीनता के पोषक रहे। पुराने खेवे के कवि बनकर उन्होंने प्राचीन काव्य परम्परा की भाव सम्पदा को, उसी की भाषा और अभिव्यंजना शैली के माध्यम से वाणी प्रदान की हैं। इस प्रकार रत्नाकर को अपने काव्य की सर्जना के लिए प्राचीन काव्य की अतुल पूंजी धरोहर रूप में प्राप्त हुई है। इसका उपयोग भी उन्होंने भरपूर किया है। रत्नाकर जी की कविता के आदर्श सूर, नन्ददास, तुलसी आदि भक्त कवि रहे हैं। सूर और नन्ददास की भ्रमरगीत परम्परा के वे गौरवपूर्ण स्तम्भ हैं और तुलसी की भाँति उन्होंने पौराणिक कथाओं को काव्य का आवरण दिया है। किन्तु उनकी अभिव्यंजना शैली सूर, नन्ददास और तुलसी का आदर्श लेकर नहीं चली। यहाँ उन्होंने स्पष्ट रूप से रीति कालीन शैली का आधार लिया। वैसी ही अलंकरण शैली, वैसा ही कवित्त सवैया आदि छन्दों का विधान, वैसा ही वैचित्र्य। इस क्षेत्र में देव, बिहारी घनानन्द प्रभृति कवि उनके काव्य की प्रेरणा स्रोत बने। रत्नाकर जी ने स्पष्ट कहा है—

नन्ददास देव घन आनन्द बिहारी सम,
सुकवि बनावन की तुम्हें सुधि ध्याऊँ मैं।

अपनी अनन्य प्रतिभा के बल पर रत्नाकर इन अभिनन्दनीय कवियों की कोटि में पहुँच ही नहीं गए अपितु अनेक दृष्टियों से वे उनसे भी आगे निकल गए हैं। सत्य तो यह है कि काव्य परम्परा की ऐसी लम्बी विरासत अन्य किसी कवि को प्राप्त नहीं हुई। इस विरासत के वे सच्चे अधिकारी भी थे। रत्नाकर की सबसे बड़ी मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने उन विषयों को जिन पर पहले बहुत कुछ कहा और सुना जा चुका था, इस प्रकार हमारे सामने रखा कि ये पुराने होते हुए भी नये जान पड़ते हैं। अपनी मौलिक सूझ बूझ से कवि ने उन पर ऐसी पालिश की है कि उसकी नई चमक में उसका पुरानापन छिप गया है।

प्राचीन हिन्दी काव्य की स्वर्ण राशि पर रीझा हुआ यह कवि आधुनिक प्रवृत्तियों के बीच आँख मूंदकर चला ऐसा नहीं कहा जा सकता। रत्नाकर के युग में देशभक्ति, समाज सुधार आदि विषयों के जो नए स्वर छेड़े जा रहे थे उनकी गूंज रत्नाकर जी के कानों तक भी पहुँची। फलतः नये युग की इन प्रवृत्तियों पर भी रत्नाकर जी ने काव्य रचना की। इन पंक्तियों में अंग्रेजी शासन को खरी खोटी सुनाते हुए उन्होंने गाँधी जी के तेजस्वी व्यक्तित्व को कितनी स्पष्टता के साथ चित्रित किया है :—

जानि बल पौरुष विहीन दल दीन भयौ,
आपने बिगानें हू कटाई जाति काँधी है।
कहै रत्नाकर यों मति गति साधी मची,
जाकी क्रान्ति वेग सो असाति महा आँधी है।
कुटिल कुचारी के निगरिन मुखारी पर,
चक्र चाहि चक्र चरखे की पाल बाँधी है।
ग्रसित गुरड ग्राह आरत अथाह परे,
भारत गयन्द को गुविंद भयो गाँधी है॥

इतना अवश्य है कि रत्नाकर जी राजभक्तों की बड़ी भर्त्सना करते हुए भारतीय नवजागरण के अधिक गीत न गा सके। इसका एक कारण भी था। रत्नाकर भी अयोध्या नरेश के आश्रित थे जिन्हें कि अंग्रेजी राजभक्ति का बाना धारण करना पड़ता था फलतः इस दिशा में रत्नाकर जी की भावनाएं कुंठित ही रहीं। वे अधिक स्पष्ट और अधिक तीव्र न हो सकीं। लेकिन उनके जीवन की परिस्थितियाँ इन भावनाओं को दबा न सकीं। वे दूसरे रूप में प्रस्फुटित हुईं, और वह रूप था भारत के प्राचीन अतीत का गौरवगान। स्वतन्त्रता के ज्योतिर्मय पुंज महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह, रानी लक्ष्मीबाई को लेकर अपने वीराष्टक में उन्होंने जो वीर प्रशस्तियाँ लिखी हैं, वे कवि की राष्ट्रीयता से ओतप्रोत हृदय की ज्वलंत प्रतीक हैं। ऐसी प्रशस्तियाँ थोड़ी हैं पर जो भी हैं बड़ी महत्वपूर्ण हैं। वे हिंदी की वीरकाव्य परंपरा में कवि को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करती हैं।

प्रबन्ध और मुक्तक इन दोनों ही रूपों में कवि की काव्य साधना का आलोक विकीर्ण हुआ है। उनकी हरिश्चन्द्र, गंगावतरण और हिंडोला प्रभृति प्रबन्ध रचनाओं का ब्रजभाषा काव्य में ऐतिहासिक महत्व है। क्योंकि ब्रजभाषा में मुक्तक रचनाओं की तो प्रचुरता रही है पर प्रबन्ध रचना इनी गिनी हैं। अपनी प्रबन्ध रचनाओं द्वारा रत्नाकर जी ने ब्रजभाषा साहित्य

के एक निश्चित अभाव की पूर्ति की है, इसमें सन्देह नहीं।

रत्नाकर जी की प्रबन्ध कृतिया खडकाव्य का रूप लेकर आई हैं। साहित्य दर्पणकार पण्डित विश्वनाथ ने खड काव्य का लक्षण देते हुए लिखा है:—

तत्तु घटना प्राधान्यत् खडकाव्यमिति स्मृतम्

अर्थात् खड काव्य वह है जो किसी घटना विशेष को लेकर चलता है। उसमें किसी महापुरुष के जीवन के एक पहलू अथवा तत्सबधी घटना पर प्रकाश डाला जाता है। इसमें एक ही छन्द का व्यवहार होता है। खण्ड-काव्य की उक्त कसौटी पर रत्नाकर जी की प्रबन्ध कृतियों के मूल्यांकन द्वारा निस्सकोच रूप से उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की जा सकती है।

हिंडोला कवि की प्रथम प्रबन्ध रचना है। इसमें राधा कृष्ण के झूला-झूलने का आकर्षक वर्णन है। फलतः कथा की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य का विशेष महत्व नहीं है। उसका सच्चा महत्व वस्तुतः व्रज की वर्षाकालीन प्राकृतिक सुषमा के चित्रण मे, पुराण ज्ञान और दार्शनिक विचारों के प्रतिपादन में तथा राधाकृष्ण परक सयोग शृङ्गार की रसीली व्यंजना में निहित है। खड काव्य की दृष्टि से कवि की यह प्रौढ़ कृति नहीं है और न इसमें कवि का पूर्ण विकास ही हुआ है।

कवि का दूसरा खण्डकाव्य इतिहास प्रसिद्ध सत्यवादी हरिश्चन्द्र की लोक विश्रुत कथा को लेकर चला है। यह कथा इतनी लोक प्रचलित है कि कथानक की दृष्टि से इसमें किसी प्रकार की मौलिक उद्भावना के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसे खडकाव्यों की सच्ची सफलता वस्तुत काव्यकौशल और भावों की मनोवैज्ञानिक अभि-व्यक्ति पर निर्भर है। इस दृष्टि से रत्नाकर जी का यह खण्डकाव्य निश्चय ही बड़ा उत्कृष्ट बन पड़ा है। इस काव्य की कथा चार सर्गों में पूर्ण हुई है और समस्त रचना में केवल रोला छन्द का ही विधान है। प्रबन्ध रचना होने के कारण यह काव्य यद्यपि वर्णनात्मक है फिर भी उसमें रोचकता सर्वत्र बनी हुई है। कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति ने कथा के मार्मिक स्थलों को खूब परखा है और भाव-विभोर होकर उनका चित्रण किया है। काव्य का जो परम साध्य भाव व्यजना है, अनेक साधनों की सहायता से कवि ने वहाँ तक पहुचने की चेष्टा की है। भावों को अनुभूति गम्य बनाने के लिये कवि ने उनका बड़ा यथार्थ चित्रण किया है।

'गगावतरण' में कवि की यह प्रबन्ध प्रतिभा पूर्ण वैभव को प्राप्त हुई है। प्रबन्ध रचना के क्षेत्र में यह कविता व्रजभाषा का उत्कृष्टतम ग्रन्थ है। भावपक्ष और कलापक्ष का जैसा सुन्दर समन्वय इसमें दृष्टव्य है वैसा

अन्यत्र दुर्लभ है। 'गंगावतरण' विशुद्ध पौराणिक आख्यान है, और इसका कथानक मूलतः बाल्मीकि रामायण पर टिका हुआ है। 'गंगावतरण' के प्राक्कथन में कवि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि महारानी अयोध्या ने उन्हें उपर्युक्त कथानक को काव्यमय रूप प्रदान करने का आदेश दिया था। रत्नाकर जी ने अपने काव्य में पौराणिकता का रङ्ग बनाये रखने के लिये बाल्मीकि रामायण के कथानक को स्थूल रूप में स्वीकार तो किया पर कथा की अभिव्यंजना में उन्होंने अपनी भावुकता से काम लिया है।

गंगावतरण की कथा १३ सर्गों में विभक्त है। इसकी रचना भी कवि ने अपने प्रिय छंद रोला में ही की है। प्राय सभी रसों का इस काव्य में सुन्दर परिपाक है। कथा के नायक राजा भगीरथ धीरोदत्त नायक हैं। वे लोक-विश्रुत, दूरदर्शी तथा कर्मठ हैं। नायक तथा अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण में कवि ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। भाषा, भाव, रस की दृष्टि से यह कृति बड़ी महत्व पूर्ण है।

भ्रमर गीत परम्परा और रत्नाकर—कवि के काव्य गौरव की श्री सम्पन्नता से मण्डित 'उद्धवशतक' की अमर कृति की गणना भी प्रबन्ध रचना के क्षेत्र में की जाती है। यद्यपि इसका प्रत्येक छन्द अपने आप में पूर्ण होने के कारण मुक्तक काव्य की विशेषताओं से युक्त हैं। अपने बाल्यकाल में ही रत्नाकर जी ने भ्रमर गीत के प्रसंग को लेकर कुछ पदों की रचना की थी। रत्नाकर जी जैसे मध्ययुगीन मनोवृत्ति के कवि के भ्रमर-गीत प्रसंग के प्रति ऐसा तीव्र आग्रह होना स्वाभाविक भी है। हिन्दी काव्य साहित्य में श्रीमद्-भागवत के एक छोटे से प्रसंग को लेकर भ्रमरगीत के रूप में विशाल साहित्य का निर्माण किया गया है। भ्रमरगीत काव्य परम्परा के आदि कवि सूर ने इस प्रसंग के माध्यम से गोपियों के वियोगजनित हृदय के जैसे यथार्थ चित्र खींचे, निर्गुणमत पर सगुण साधना के जो प्रहार किये वे अपूर्व थे। सूर के बाद जैसे भ्रमरगीत के प्रसंग को लेकर कुछ शेष रहा ही नहीं। पर परवर्ती कवियों को भ्रमर गीत का यह प्रसंग इतना आकर्षक प्रतीत हुआ कि राधा-कृष्ण के प्रेम को अपने हृदय की वाणी देने वाले सभी कवियों ने भ्रमरगीत को लेकर कुछ न कुछ अवश्य कहा। यहाँ तक कि आधुनिक युग में नए भाव-शिल्प से भ्रमरगीत काव्य की मूर्ति को नये रूप में गढ़ दिया गया। सत्य-नारायण कविरत्न ने उसे राष्ट्रीयता का बाना पहिनाया। हरिऔध और गुप्त जी ने मानवता परक नए दृष्टिकोणों की उसे सामान्य भूमि प्रदान की। पर रत्नाकर जी ने अपने इन समकालीन कवियों की मान्यताओं को अस्वीकार

करते हुए मध्ययुग की मानभूमि में ही सञ्चरण किया। उनका भ्रमरगीत सूरदास और नन्ददास का आदर्श लेकर चला। यद्यपि उसकी अभिव्यंजना शैली पर रीतिकाल का स्पष्ट प्रभाव है। रीतियुग के सर्वाधिक लोकप्रिय छंद घनाक्षरी सवैये में उनके काव्य की समाप्ति हुई है। कवि की अलंकरणमयी रुचि, सूक्तिप्रियता, ऊहात्मकता, सभी पर रीतियुग की छाया है। इस प्रकार उनके भ्रमरगीत की आत्मा तो भक्ति कालीन है, पर उसका शरीर रीतिकालीन है। आधुनिकता की छाप उस पर तनिक भी नहीं है। आधुनिकता के नाम पर इतना ही कहा जा सकता है कि उसकी रचना आधुनिक काल में हुई है।

प्राचीनता की इस अनुकृति में रत्नाकर ने अपने को कुछ रूपों में भिन्न भी रखा है। सूर, नन्ददास आदि कृष्ण भक्त कवियों ने उद्धव के ब्रज जाने से पूर्व कृष्ण की आतुरता का चित्रण नहीं किया। उनमें एकांगी प्रेम का प्रदर्शन है। पर उद्धव शतक में कृष्ण भी गोपियों के विरह से व्याकुल है। रत्नाकर जी के भ्रमर गीत की दूसरी विशेषता यह है कि उद्धव शतक में गोपियाँ उद्धव को मधुप नाम से सम्बोधित तो करती हैं पर उसमें न तो सूर की भांति भ्रमर की प्रधानता ही है और न नन्ददास की भांति भ्रमर का विधिवत प्रवेश ही कराया गया है। अन्य सब बातों में कवि ने प्राचीनता का ही अनुसरण किया है।

रत्नाकर के भ्रमर गीत की आत्मा सूर की अपेक्षा नन्ददास के अधिक निकट है। उसकी गोपियाँ सूर की भांति भोली न होकर बड़ी बुद्धि प्रवीण और तर्क मयी हैं। वे अपने प्रबल तर्कों से उद्धव के ज्ञान की धज्जियां उड़ा देती हैं। उद्धव के ज्ञान का अहंकार गोपियों के तीव्र प्रेम-प्रवाह में बह जाता है। वे भी ब्रज की धूल को अपने अंगों से लगाकर ज्ञानयोगी की अपेक्षा प्रेम योगी का रूप बना मथुरा लौट जाते हैं। हास्य और व्यंग में भी रत्नाकर की गोपियाँ नंद और सूर की गोपियों से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। पर रत्नाकर जी के ये व्यंग कोरे व्यंग नहीं हैं। उनमें गोपियों ने अपने हृदय की समस्त भाव विह्वलता को और कृष्ण भक्ति के सिद्धान्तों को साकार कर दिया है। सूर और नन्द की भांति रत्नाकर की भक्ति भावना भी पुष्टिमार्गीय है। उद्धवशतक के उद्धव अद्वैतवाद के प्रतीक हैं, और गोपियाँ द्वैतवाद की भूमि पर स्थिति हैं। नन्ददास के भ्रमर गीत की भांति बल्कि उससे भी बढ़कर रत्नाकर के भ्रमर गीत में कथा की रोचकता है। कथा का पर्यवसान बड़ी नाटकीय शैली में हुआ है। अभिनयात्मक तथा कथोपकथन प्रधान होने से कथा बड़ी

हृदयग्राही हो गई है। भावों की अभिव्यक्ति बड़े मनोवैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत की गई है। सम्पूर्ण काव्य में वियोग श्रृंगार का हृदय स्पर्शी चित्रण है। वियोग जनित मार्मिक अनुभूतियों का सफल चित्रण कवि ने किया है। पर इसकी अभिव्यजना शैली पर रीतिकालीन मनोवृत्ति की स्पष्ट छाप अङ्कित है। उद्धव शतक का कोई भी छन्द ऐसा नहीं है जिसमें कवि का उक्ति चमत्कार न हो। कहीं कहीं तो कवि की चमत्कार प्रियता ने रस की अवहेलना की है। वस्तुत. कवि की यह कृति रसमय कम, सूक्तिमय अधिक है।

यह तो हुई कवि की प्रबन्ध रचनाओं की बात, मुक्तक के क्षेत्र में कवि ने श्रृंगार लहरी, प्रकीर्ण पद्यावली, गगाविष्णु लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक प्रभृति कृतियों का प्रणयन किया है। मुक्तक रचनाओं म जिन गुणों की अपेक्षा होती है वे सब कवि के इन मुक्तकों में विद्यमान हैं। कवि का रीतिकालीन रूप अपनी इन मुक्तक रचनाओं म खूब निखरा है। रीतिकाल की समस्त विशेषताएँ इनमें प्रतिबिम्बित हैं। जीवन की छोटी-छोटी भगिमाओं को लेकर कवि ने बड़े सवाक चित्र खींचे हैं। इसम सन्देह नहीं कि रत्नाकर जी प्रबन्धकार होने के साथ-साथ सफल मुक्तककार भी हैं।

रस योजना—रत्नाकरजी की रचनाओं से जैसा कि स्पष्ट है, उन्होंने नव रसों का सुन्दर परिपाक किया है। फिर भी श्रृंगार और वीर उनके सर्वाधिक प्रिय रस हैं, इनम भी श्रृंगार म उनकी वृत्ति अधिक रमी है। वैसे तो श्रृंगार रस का चित्रण कवि की प्रत्येक रचना म हुआ है, फिर भी हिंडोला, श्रृंगार लहरी और उद्धव शतक कृतियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। हिंडोला और श्रृंगार लहरी म सयोग श्रृंगार की प्रधानता है, उद्धव शतक विप्रलम्भ श्रृंगार की रसधारा म डूबा हुआ है। श्रृंगाररस की योजना म कवि रीतिकाल से स्पष्टत. प्रभावित है। राधाकृष्ण को लकर उसने उसी लौकिक श्रृंगार को वाणी दी है जिसके चेतनारस म सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य आपादमस्तक निमग्न है। उसके राधाकृष्ण सूर की भाँति अपार्थिव न होकर रीतिकालीन कवियों की भाँति मानवीय हैं। इसीलिए रत्नाकर के काव्य में भक्ति की तल्लीनता न होकर रीतिकालीन कविता की सी रसिकता है। फिर भी इस श्रृंगार के बड़े आकर्षक और कलात्मक चित्र हम कवि ने दिए हैं। इस प्रिय मिलन के औत्सुक्य, उत्कण्ठा, अभिलाषा से लेकर मिलन, दर्शन, स्पर्श, सलाप और सभोग तक के सभी प्रसगों से सयोग श्रृंगार की भावभूमि को व्यापक रूप प्रदान किया है। सयोग श्रृंगार म नायक नायिकाओं के मन की विविध दशाओं, उनके कायिक व्यापारों, रस चेष्टाओं और हाव भावों की बड़ी

रसीली व्यंजना कवि ने की है। आन्तरिक हर्ष से अनुप्राणित, कृत्रिम झुँझलाहट का प्रदर्शन करने वाली नायिका का कितना भावपूर्ण चित्र है—

गूँथन गुपाल बैठे बैनी बनिता की आप,
हरित लतानि कुंज माँहि सुख पाइ के।
कहै रतनाकर सवारि निरवारि बार,
बार बार विवश बिलोकत बिकाइ कै॥
लाइ उर लेते कबौं फेरि गहि छोर लखें,
ऐसे रही ख्यालनि में लालन लुभाइकै।
कान्ह गति जानि के सुजान मन मोद मानि,
करत कहा है कह्यौ मुरि मुरि मुसकाइ कै॥

रीतिकालीन कवियों की भाँति रत्नाकर का रूप चित्रण भी बड़ा कलात्मक है। उसमें सौंदर्य की गरिमा नहीं स्निग्धता अधिक है। उसमें सौन्दर्य का सहज स्वाभाविक उल्लास है, देव की भाँति तीव्रता और गहनता नहीं है। नीचे की पक्तियों से यह बात भली भाँति स्पष्ट है :—

जगर मगर ज्योति जागति जवाहिर की,
पाइ प्रतिबिंब ओप आनन उजारी की।
छबि रतनाकर की तरल तरंगनि पै,
मानों जगा जोति होति स्वच्छ सुधाधारी की॥
संग में सखीगन के जोवन उमग भरी,
निरखति सोभा हाट बाट की तयारी की।
जित जित जाति वृषभानु की दुलारी पग्री,
तित तित जाति दबी दीपति दिवारी की॥

राधा के इस सौन्दर्य को कवि के शब्द सौन्दर्य ने और भी द्विगुणित कर दिया है इसमें सन्देह नहीं।

वियोग-वर्णन

रीतिकालीन साहित्य में घनानन्द को छोड़कर विरह की उत्कृष्ट व्यंजना नहीं मिलती है। इसलिए रत्नाकर ने उद्धवशतक के रूप में भक्तिकालीन कवियों का आदर्श लेकर विरह की मार्मिक व्यंजना की है। उद्धव शतक की गोपियाँ विरह की सजीव मूर्तियाँ हैं। सजीव मूर्तियां हैं यही बात उनके लिए दुखदायी है, क्योंकि यदि जड़ होती तो सम्भवतः उन्हें विरह की ऐसी दारुण व्यथा में नहीं दहना पड़ता। उद्धवशतक की पक्ति पक्ति में विरहिणी गोपियों का कृष्ण के अनन्य प्रेम और उनके विरह में स्नात हृदय झाँक रहा

है। उद्धवशतक के षट् ऋतु वर्णन में विरहिणियों की जिस दारुण दशा का चित्रण है, वह शब्द कौतुक मात्र ही नहीं उसमें विरह की अनन्य गम्भीरता और मार्मिकता है। उद्धवशतक के वियोग वर्णन में एक और विशेषता है। जहाँ अन्य कवियों की नायिका ही विरह से दग्ध रहती है, नायक उससे अछूता रहता है, वहाँ रत्नाकरजी ने नायक कृष्ण को भी वियोग से व्यथित बताया है। इस प्रकार रत्नाकर जी का वियोग वर्णन अन्य कवियों की भाँति एकांगी नहीं है।

उद्धवशतक में ही नहीं अन्य रचनाओं में भी कवि ने वियोग शृंगार के बड़े मर्म स्पर्शी चित्र अङ्कित किए हैं। विरह से व्यथित उन्मादिनी नायिका का कितना सजीव रूप इन पक्तियों में उभर उठा है।

टरें हूँ न हेरें दृग फेरे हूँ न फेरें दृग,
बेकल सी वा गुन उधेरति बुनति है।
कहैं रतनाकर मगन मन ही मन में,
जानै कहा आनि मन गौरि के गुनति है।
होति थिर कबहूँ छनेक फिरि एकाएक,
भाँतिनि अनेक सीस कबहूँ धुनति हैं।
घालि गयो जबतें कन्हैया नेह काननि मैं,
तब तै न नैंकु कछू काहू की सुनति है॥

रत्नाकर जी का विप्रलभ शृङ्गार कहीं-कहीं उनकी चमत्कार प्रियता, अलकारिता और शब्दो की करामात से अपना स्वाभाविक सौन्दर्य खो बैठा है। खण्डिता, मानदूती प्रयोग आदि के चित्रण में उन्होंने रीतिशास्त्र का स्पष्टतः सहारा भी लिया है, और वे परम्परा भुक्त हैं। उनके वियोग वर्णन पर उर्दू फारसी शैली का भी प्रभाव है। सब कुछ मिलाकर उनकी शृङ्गार व्यजना का यह अङ्ग बड़ा कलात्मक और भावपूर्ण है।

वीररस—शृंगार के मधुर गीत गाने वाले इस कवि की वाणी ने वीर रस की ओज भरी हुंकार भी भरी है। वीराष्टक के कवित्तों और गगावतरण के अनेक स्थलों पर यह हुंकार स्पष्टतः प्रतिध्वनित है। इस प्रकार प्रबन्ध और मुक्तक दानों ही क्षेत्रों में उन्होंने वीर रस की अजस्र धारा प्रवाहित की है। वीर रस की इस व्यजना को कवि ने मन के भावों, शारीरिक मुद्राओं, शौर्यपूर्ण क्रिया व्यापारों, और वीररस पूर्ण वातावरण का चित्रण कर सभी प्रकार से पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। राजा धृतराष्ट्र के राजदरबार में श्रीकृष्ण की यह वीर मूर्ति कितनी सजीव है। भाव-प्रेरित मुद्राओं और

कायिक चेष्टाओं की स्पष्ट व्यंजना है :

त्रिकुटी तनेनी छुटी भृकुटी विराजें बक,
तोले सल चक्र कर डोले थरकत हैं।
कहैं रत्नाकर त्यों रोष की तरंग भरे,
रोषित उमंग अंग-अंग फरकत हैं।
कर्न दुरजोधन दुसासन की मान कहा,
प्रान इनके तो पाँसुरी मैं खरकत हैं।
भीषम औ द्रोनहूँ सौं बनत न डारें डीठि
नीठि हूँ निहारे नैन तारे तरकत हैं।

वीर रस के सहायक रौद्र और भयानक रस का भी कवि ने सफलता पूर्वक चित्रण किया है। इसके साथ-साथ वात्सल्य, करुण, शान्त, वीभत्स आदि रसों की उत्कृष्ट व्यंजना रत्नाकर जी की रचनाओं में दृष्टव्य है। प्रबंधकार रत्नाकर जी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे इतने रसों का विधान अपने काव्य में इस कौशल के साथ कर सके।

भाव व्यंजना—रत्नाकर जी भाव लोक के कुशल चितेरे हैं। विभिन्न परिस्थितियों के बीच मानव हृदय में कौन से भाव उत्पन्न होते हैं, रत्नाकर की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से वे छिपे नहीं रहते। वे कुशल चित्रकार की भाँति अपनी काव्य तूलिका से उन भावों का चित्राङ्कन करते हैं। वे परिस्थिति, प्रकृति और हृदय को ऐसी मर्मज्ञता से टटोलते हैं कि उनका सहज स्वाभाविक रूप बड़े मनोवैज्ञानिक और सजीव रूप में मूर्तिमान हो उठता है। उद्धव के व्रज पहुँचने पर जब गोपियों को ज्ञात होता है कि कोई उनके प्रिय कृष्ण का सदेश लेकर आया है, तब नीचे की पंक्तियों में कवि ने सीधे सादे शब्द संकेतों से उनके हृदय को, उनकी अवस्था के चित्र को एक दूर खड़े फोटोग्राफ' को भाँति उतार कर रख दिया है :—

उझकि-उझकि पद-कजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हम को लिख्यो है कहा, हमको लिख्यौ है कहा,
हमका लिख्यो है कहा कहन सबै लगीं॥

मन में जैसे भाव उठते हैं, हमारी भाव मुद्राएँ, हमारी चेष्टाएँ भी वैसी बन जाती हैं। रत्नाकरजी इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं। गंगा आगमन के समय भयभीत सुर-सुन्दरियों की चेष्टाओं का इसीलिए वे सजीव चित्रांकन कर सके हैं—

सुर सुन्दरी ससक बक्र दीरघ दृग कीने।
लगीं मनावन सुकृत हाथ कानन पर दीने।।

रत्नाकर जी की भाव व्यंजना की सबसे बड़ी शक्ति वास्तव में उसका लाक्षणिक सौन्दर्य, उसकी रस भरी सूक्तियाँ, उसकी नवनवोन्मेष शालिनी कल्पनाएँ और चित्रोपमता है। विविध अनुभूतियों के चित्रण में कवि ने बड़ी रमणीय और मौलिक उद्‌भावनाएँ की हैं। लाक्षणिक शक्ति का बल पाकर कवि का यह कल्पना सौन्दर्य और भी निखर उठा है। उद्धव शतक काव्य की प्रत्येक पंक्ति इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है। *निश्चय ही रत्नाकर शब्दों की करामात मे और कला के सूक्ष्म जड़ाव में किसी रीतिकालीन कवि से कम नहीं है।*

अलंकार योजना—रत्नाकर की काव्य प्रतिभा अलंकार योजना में खूब खिली है। भावों को साकार रूप देने में तथा वस्तु के रूप, गुण, क्रिया व्यापारों को मूर्तिमान बनाने में उन्होंने अलंकारों का खूब उपयोग किया है। मध्यकालीन कवियों से प्रभावित कवि के लिए अधिक अलंकार प्रिय होना स्वाभाविक भी है। पर रत्नाकर ने रीतिकालीन कवियों की भाँति अलंकारों को अनावश्यक महत्व नहीं दिया। उन्होंने सर्वत्र अलंकारों की मर्यादा का ध्यान रखा है। उनकी कविता अलंकारों के लिए नहीं वरन् अलंकार कविता के लिये थे। फलतः कवि की कविता कहीं भी अलंकार भाराक्रान्त नहीं हुई। कविता के नैसर्गिक सौन्दर्य का विकास सहज और स्वाभाविक है। अलंकारों के प्रयोग से वह निखर उठा है। कहीं-कहीं तो कवि ने स्वाभाविकता को ही अलंकार के साँचे में ढाल दिया है। जिन अलंकारों को लेकर अन्य कवियों ने बड़े अस्वाभाविक चित्र गढ़े हैं, उन्हीं अलंकारों में अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी कल्पना सौन्दर्य का पुट देकर बड़े रमणीय काव्य की सृष्टि की है।

रत्नाकरजी अपने युग के सबसे अधिक अलंकार प्रिय कवि हैं। उनकी रचना का प्रत्येक छन्द अलंकारों की सुषमा से सम्पन्न है। उनके युग के अन्य किसी कवि ने सम्भवतः उनके बराबर अलंकारों का प्रयोग किया ही नहीं। रत्नाकरजी का अत्यन्त प्रिय अलंकार साग रूपक है। साग रूपक का जितना सफल निरूपण उनके हाथों हुआ है वैसा हिंदी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका। उद्धव शतक का यह साग रूपक कितना सागोपाग है—

राधा मुख मंजुल सुधाकर के ध्यान ही सों,
प्रेम रत्नाकर हिये यों उमगत है।
त्यौं ही बिरहातप प्रचण्ड सों उमड़ि अति,

कायिक चेष्टाओं की स्पष्ट व्यजना है :

त्रिकुटी तनेनी जुटी भृकुटी विराजैं बक्र,
तोले सख चक्र कर डोले थरकत हैं।
कहै रत्नाकर त्यों रोष की तरंग भरे,
रोषित उमग अग-अग फरकत हैं।
कर्न दुरजोधन दुसासन को मान कहा,
प्रान इनके तो पॉसुरी मैं खरकत हैं।
भीषम औ द्रोनहूँ सौ बनत न डारें डीठि
नीठि हूँ निहारे नैन तारे तरकत हैं।

वीर रस के सहायक रौद्र और भयानक रस का भी कवि ने सफलता पूर्वक चित्रण किया है। इसके साथ-साथ वात्सल्य, करुण, शान्त, वीभत्स आदि रसों की उत्कृष्ट व्यजना रत्नाकर जी की रचनाओं में द्रष्टव्य है। प्रबन्धकार रत्नाकर जी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे इतने रसों का विधान अपने काव्य मे इस कौशल के साथ कर सके।

भाव व्यजना—रत्नाकर जी भाव लोक के कुशल चितेरे हैं। विभिन्न परिस्थितियों के बीच मानव हृदय में कौन से भाव उत्पन्न होते हैं, रत्नाकर की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से वे छिपे नहीं रहते। वे कुशल चित्रकार की भॉति अपनी काव्य तूलिका से उन भावों का चित्राङ्कन करते हैं। वे परिस्थिति, प्रकृति और हृदय को ऐसी मर्मज्ञता से टटोलते हैं कि उनका सहज स्वाभाविक रूप बड़े मनोवैज्ञानिक और सजीव रूप में मूर्तिमान हो उठता है। उद्धव के ब्रज पहुँचने पर जब गोपियों को ज्ञात होता है कि कोई उनके प्रिय कृष्ण का सदेश लेकर आया है, तब नीचे की पक्तियों में कवि ने सीधे सादे शब्द संकेतों से उनके हृदय को, उनकी अवस्था के चित्र को एक दूर खड़े फोटोग्राफर की भॉति उतार कर रख दिया है :—

उझकि-उझकि पद-कजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगी।
हम को लिख्यो है कहा, हमको लिख्यौ है कहा,
हमको लिख्यो है कहा कहन सबै लगीं॥

मन में जैसे भाव उठते हैं, हमारी भाव मुद्राएँ, हमारी चेष्टाएँ भी वैसी बन जाती हैं। रत्नाकरजी इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भली-भॉति परिचित हैं। गगा आगमन के समय भयभीत सुर-सुन्दरियों की चेष्टाओं का इसीलिए वे सजीव चित्रॉकन कर सके हैं—

सुर सुन्दरी ससक बक दीरघ दृग कीने।
लगीं मनावन सुकृत हाथ कानन पर दीने ।।

रत्नाकर जी की भाव व्यंजना की सबसे बड़ी शक्ति वास्तव में उसका लाक्षणिक सौन्दर्य, उसकी रस भरी सूक्तियाँ, उसकी नवनवोन्मेष शालिनी कल्पनाएँ और चित्रोपमता है। विविध अनुभूतियों के चित्रण में कवि ने बड़ी रमणीय और मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। लाक्षणिक शक्ति का बल पाकर कवि का यह कल्पना सौन्दर्य और भी निखर उठा है। उद्धव शतक काव्य की प्रत्येक पंक्ति इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है। निश्चय ही रत्नाकर शब्दों की करामात में और कला के सूक्ष्म जड़ाव में किसी रीतिकालीन कवि से कम नहीं है।

अलंकार योजना—रत्नाकर की काव्य प्रतिभा अलंकार योजना में खूब खिली है। भावों को साकार रूप देने में तथा वस्तु के रूप, गुण, क्रिया व्यापारों को मूर्तिमान बनाने में उन्होंने अलंकारों का खूब उपयोग किया है। मध्यकालीन कवियों से प्रभावित कवि के लिए अधिक अलंकार प्रिय होना स्वाभाविक भी है। पर रत्नाकर ने रीतिकालीन कवियों की भाँति अलंकारों को अनावश्यक महत्व नहीं दिया। उन्होंने सर्वत्र अलंकारों की मर्यादा का ध्यान रखा है। उनकी कविता अलंकारों के लिए नहीं वरन् अलंकार कविता के लिये थे। फलतः कवि की कविता कहीं भी अलंकार भाराक्रांत नहीं हुई। कविता के नैसर्गिक सौन्दर्य का विकास सहज और स्वाभाविक है। अलंकारों के प्रयोग से वह निखर उठा है। कहीं कहीं तो कवि ने स्वाभाविकता को ही अलंकार के साँचे में ढाल दिया है। जिन अलंकारों को लेकर अन्य कवियों ने बड़े अस्वाभाविक चित्र गढ़े हैं, उन्हीं अलंकारों में अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी कल्पना सौन्दर्य का पुट देकर बड़े रमणीय काव्य की सृष्टि की है।

रत्नाकरजी अपने युग के सबसे अधिक अलंकार प्रिय कवि हैं। उनकी रचना का प्रत्येक छन्द अलंकारों की सुषमा से सम्पन्न है। उनके युग के अन्य किसी कवि ने सम्भवतः उनके बराबर अलंकारों का प्रयोग किया ही नहीं। रत्नाकरजी का अत्यन्त प्रिय अलंकार सांग रूपक है। सांग रूपक का जितना सफल निरूपण उनके हाथों हुआ है वैसा हिंदी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका। उद्धव शतक का यह सांग रूपक कितना सांगोपांग है—

राधा मुख मंजुल सुधाकर के ध्यान ही सों,
प्रेम रत्नाकर हिये यों उमगत है।
त्यौं ही विरहातप प्रचण्ड सौं उमड़ि अति,

ऊरध उसास की झकोर यों जगत है ॥
केवट विचार को विचारो पचि हारि जात,
होत गुनपाल ततकाल नभ गत है।
करत गम्भीर धीर लगर न काज कछू,
मन को जहाज डगि डूबन लगत है ॥

रत्नाकर जी के काव्य से एक नहीं अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। रूपक अलकार ही नहीं रत्नाकर जी के काव्य में सभी प्रमुख अलकारों की ऐसी भी चमत्कारपूर्ण, पर भावमयी योजना है। यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि शब्दालकारों, उपमा, उत्प्रेक्षा, विभावना, प्रतीप, व्यतिरेक, व्याज स्तुति, स्मरण आदि अर्थालकारों का सौन्दर्य देखना हो तो रत्नाकरजी के काव्य को छोड़कर वह भला कहाँ प्राप्त होगा ?

छन्द—अलकारों की भाँति ही छन्द योजना में रत्नाकरजी सिद्धहस्त हैं। पिंगल शास्त्र के रत्नाकर जी पण्डित थे, और उन्होने अपने इस ज्ञान से इस क्षेत्र में खूब लाभ उठाया है। उनके सभी छंद विषयानुकूल हैं और काव्य का सच्चा आनन्द प्रदान करने वाले हैं। संगीत के माधुर्य से वे अनुप्राणित हैं और उनकी गति निश्चय ही बड़ी मस्तानी है। अपनी शृंगार और वीर रस प्रधान रचनाओं में कवि ने कवित्त छन्द का प्रयोग किया है। प्रबन्ध रचनाओं में रोला उनका प्रिय छन्द रहा है। रोला छन्द के रत्नाकर एक प्रकार से सम्राट् है। इस छन्द के माध्यम से उन्होंने सभी रसों का सुन्दर उद्रेक किया है। इसके अतिरिक्त दोहा, छप्पय, कुण्डलियाँ, उल्लाला और सवैया छंदों में भी कवि ने अपनी रचनाओं का विधान किया है।

प्रकृति चित्रण—रत्नाकरजी के काव्य में प्रकृति के मनोरम चित्रों की कमी नहीं है। उन्होंने प्रकृति का उद्दीपन रूप में ही चित्रण नहीं किया वरन् उसे आलम्बन रूप में भी ग्रहण किया है। उनकी हिंडोला कृति ऋतु सबधी अष्टक और गगावतरण के प्राकृतिक स्थलों का वर्णन इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वर्षा ऋतु का नीचे की पंक्तियों में कैसा सश्लिष्ट चित्रण है—

छाई सुभ सुखमा सुहाई रितु पावस की,
पूरब में पच्छिम में उत्तर उदीची में।
कहै रतनाकर कदम्ब पुलके हैं घन,
लरजैं लवग लता ललित बगीची में ॥
अवनि अकास में अपूरब मची है धूम,

भूमि से रहे हैं रुचि सुरस उलीची में।
हिरकि रही है इत मोर सों मयूरी उत,
थिरक रही है बिज्जु बादर दरीची में ॥

यद्यपि कहीं-कहीं रत्नाकर जी का प्रकृति चित्रण अलंकार प्रधान और कवि की चमत्कार प्रियता का द्योतक मात्र बनकर रह गया है, फिर भी ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। उनका प्रकृति चित्रण अपनी सहज सुषमा को लिए हुए है। इतना अवश्य है कि उन्होंने अपने प्रकृति चित्रण में अपने पूर्ववर्ती सभी कवियों की शैली को अपनाया है। संस्कृत कवियों के समान उसे आलंबन रूप दिया है तथा मध्य युगीन हिंदी कवियों की भाँति उद्दीपन रूप में, अलंकार योजना में सहायक रूप में तथा उपदेशात्मक संकेतों के रूप में भी अपनाया है। हाँ, छायावादी कवियों की भाँति उसे मानवीय रूप अवश्य नहीं प्रदान किया।

भाषा और शैली—खड़ी बोली के युग में ब्रजभाषा को अपनाकर अपनी कविता का स्वरसधान करना रत्नाकर जी जैसे साहसी का काम था। जो भाषा अपनी सम्पूर्ण प्रौढ़ प्रतिभा और देश व्यापी प्रभाव के रहते हुए भी अपनी ही परिचारिका खड़ी बोली को अपना सौभाग्य सौंपकर विवश पड़ी हो, उस मानिनी को सांत्वना देने के लिये किसी अनन्य प्रेमी की ही आवश्यकता होगी। ब्रज की वह सभ्य सुन्दरी जब ग्रामीण और अनुपयोगी कही जा रही हो, तब उसके दोष-दीप्त मुख के अश्रु मुक्ताओं को सँभालने के लिए बहुत बड़ी सहानुभूति अपेक्षित है" (नन्ददुलारे वाजपेयी)। यह सहानुभूति ब्रजभाषा के अनन्य प्रेमी रत्नाकर के रोम-रोम में बिंधी हुई थी। इसीलिए रत्नाकर को पाकर ब्रजभाषा कृतकृत्य हो गई। उसकी टिमटिमाती लौ उसके स्नेह स्पर्श से पुनः निधूम प्रकाश से प्रज्वलित हो उठी।

ब्रजभाषा पर रत्नाकर जी का कितना व्यापक अधिकार था यह उनकी रचनाओं के अनुशीलन से भलीभाँति ज्ञात हो जाता है। ब्रजभाषा के बहुत कम कवि ऐसे हैं जिन्होंने रत्नाकर की भाँति उसकी प्रकृति को वास्तविक रूप में परखा हो। यही कारण है कि रत्नाकर जी संस्कृति की पदावली को इतनी सुघड़ता के साथ ब्रजभाषा में गूँथ सके हैं। उन्होंने अन्य बोलियों के शब्दों को ब्रजभाषा के साँचे में इस प्रकार ढाल दिया है कि 'गमकावतु, अजगुतई, पराना शब्दों का प्रयोग कहीं अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। ब्रजभाषा कहीं भी अपना निजत्व नहीं खोती। सत्य तो यह है कि रत्नाकर जी की

भाषा बड़ी प्रौढ़, शुद्ध और साहित्यिक थी। ब्रजभाषा के सभी गुण उसमें पूर्णता के साथ विद्यमान हैं।

रत्नाकर जी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता कहावतों, मुहावरों का प्रचुर और सफल प्रयोग है। इससे उनकी भाषा में अपूर्व लाक्षणिक सौंदर्य का समावेश हुआ है तथा भाव-व्यंजना को बड़ा प्रवाह मिला है। कहावतों और मुहावरों के प्रयोग ने रत्नाकर जी की भाषा को बड़ा सजीव और आकर्षक बना दिया है। आँखों का पानी गिरना, ज़िन्दगी से हाथ धोना, आँख खुलना, मन लेना, आँखें दिखाना, अन्धे के आगे रोना अपना दीदा खोना, होम करते हाथ जलना, घोड़े बेचकर सो रहना आदि अनेक लोकोक्तियाँ और मुहावरे उनकी रचनाओं में बिखरे पड़े हैं।

ब्रजभाषा का स्वाभाविक माधुर्य उनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। यद्यपि *गङ्गावतरण* की अनेक पंक्तियों में संस्कृत की समासान्त पदावली के कारण भाषा बहुत बोझिल हो गई है, फिर भी उसने अपने माधुर्य को नहीं खोया है। उन्होंने अधिकारपूर्ण कौशल से संस्कृत के तत्सम शब्दों को ब्रजभाषा में ढाल लिया है। रत्नाकरजी की भाषा सर्वत्र भावानुकूल है। शृंगार के चित्रण में जहाँ कोमल है, वहीं वीर रस के भावों में बहती हुई परुष बन गई है।

रत्नाकर की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसका टकसालीपन, व्याकरण के नियमों से उसका अनुशासित और परिष्कृत रूप है। जिस प्रकार द्विवेदीजी ने अपने प्रयत्न से खड़ी बोली को व्याकरण सम्मत एवं साहित्यिक रूप प्रदान किया था उसी प्रकार रत्नाकरजी ने ब्रजभाषा का शुद्ध और परिष्कृत रूप हिंदी जगत के समक्ष प्रस्तुत किया था।

रत्नाकरजी के काव्य विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि वे काव्य के क्षेत्र में अन्यतम प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए थे। भाव, भाषा, छन्द, शैली सभी दृष्टियों से वे रीतिकाल के बड़े से बड़े कवि की टक्कर के कवि हैं। यह सत्य है कि वे अपने युग के नवीन जीवन दर्शन और नूतन संस्कृति का स्पर्श न कर सके, पर इस दृष्टि से उनका महत्त्व किसी भी प्रकार कम नहीं किया जा सकता। अपने समय के सभी कवियों में चाहे वह ब्रजभाषा के हों अथवा खड़ी बोली के, काव्य और कला की दृष्टि से रत्नाकर जी का स्थान सर्वोपरि है। उन जैसी रससिक्त कला की सूक्ष्म पच्चीकारी के समक्ष द्विवेदी युग का इतिवृत्तात्मक खड़ीबोली काव्य तो शिशुवत् जान पड़ता है। यही कारण है कि नये युग के उन्मेष में जब पुरातन के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन की क्रान्ति छिड़ी

तब भी रत्नाकरजी के काव्य ने अपनी महत्ता, अपने आकर्षण को बनाये रखा है। नये युग के कोलाहल में भी उनके पुरातन का संगीत बड़ा प्रबल, बड़ा स्पष्ट और बड़ा मधुर है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि आधुनिक हिंदी का कोई कवि प्राचीन पन्थ पर चलने का साहस कर सफल मनोरथ हो सका है तो वे रत्नाकर जी हैं।

१७—देवनागरी लिपि

(श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०)

देवनागरी लिपि की उत्पत्ति ब्राह्मी लिपि के एक रूप नागरी लिपि से मानी जाती है। इसके रूप प्राचीन शिलालेखों और ताम्रपत्रों के रूप में मिले हैं। अशोक के शाहबाजगढी और मनसेहरा नामक स्थानों के लेख खरोष्ठी लिपि में हैं। खरोष्ठी लिपि में लिखे गए शिलालेखों की सख्या ब्राह्मी लिपि के शिलालेखों की तुलना में बहुत कम है। ब्राह्मी उस समय, एक प्रकार से, राष्ट्रीय लिपि थी। खरोष्ठी शब्द का अर्थ है 'गधे के होठ वाली'। इसका यह नाम कैसे पड़ा, इसका कोई विवेचन नहीं मिलता। यह पश्चिमोत्तर प्रदेश की लिपि थी जिसमें कोई वैज्ञानिकता नहीं थी। यह उर्दू के समान दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा इसे आर्य लिपि न मान कर अनार्य लिपि मानते हैं। सुप्रसिद्ध लिपि विशेषज्ञ पंडित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा इसकी उत्पत्ति ईरान की प्राचीन राजकीय लिपि 'अरमइक्' से मानते हैं। उनका मत है कि जब ईरानी भारत आए तो हिन्दी भाषा के पढे लिखे लोगों ने इसमें कुछ परिवर्तन कर एक कामचलाऊ लिपि बनाली। इसका प्रचार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ईसा की तीसरी या चौथी सदी तक रहा। बाद में यह लुप्त हो गई।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ यूरोपीय विद्वान जिनमें बूलर और वेबर प्रमुख हैं, इसका सम्बन्ध पश्चिमी एशिया की किसी प्राचीन लिपि से जोड़ते हैं। बूलर का कहना है कि ब्राह्मी लिपि के २२ अक्षर उत्तरी सेमेटिक लिपियों से लिये गये और बाकी उन्हीं अक्षरों के आधार पर बना लिए गए थे। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न विद्वान इसकी उत्पत्ति कीलाक्षर, फनींसी, चीनी, सामी आदि लिपियों से मानते हैं। परन्तु उन्होंने अपनी इन मान्यताओं के कोई ठोस प्रमाण नहीं दिये हैं। उपरोक्त सभी लिपियों और ब्राह्मी लिपि में पर्याप्त मौलिक अन्तर है। ओझा जी इसे "भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार" मानते हैं।

ईसा की चौथी शताब्दी तक इस लिपि का प्रचार लगभग समस्त उत्तर भारत में रहा था। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता के कारण इसका कर्ता चाहे ब्रह्मा माना गया हो और इसी कारण इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो, चाहे वह ब्राह्मणों की लिपि होने कारण ब्राह्मी कहलाई हो और ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा के लिये सर्वोत्तम साधन होने के कारण इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो, परन्तु यह निश्चित है कि भारत आने वाले किसी भी विदेशी यात्री ने यह नहीं कहा कि यह विदेशी लिपि है या इसका आधार विदेशी है। इसका उद्‌गम कहीं से हुआ हो परन्तु यह मौर्यकाल में भारत की राष्ट्रीय लिपि थी। इसमें लिखे गये प्राचीनतम लेख ई० पू० पाँचवीं सदी तक के मिले हैं। अशोक के शिलालेखों की लिपि यही थी। ई० पू० ५०० से लेकर ३५० ई० तक के लेखों को सामान्यतः यही नाम दिया गया है। इसके उपरान्त इसके दो भेद हो जाते हैं—उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी शैली का प्रचार प्रायः विन्ध्याचल के उत्तर में और दक्षिणी का उसके दक्षिण में रहा है।

उत्तरी ब्राह्मी के पाँच रूप मिलते हैं—१ गुप्तलिपि, २—कुटिल लिपि ३—नागरी लिपि ४—शारदा लिपि और ५-बंगला लिपि। चौथी सदी के उपरान्त की लिपि का नाम 'गुप्त लिपि है जिसका प्रचलन गुप्तकाल में था। कुटिल लिपि इसी का विकसित रूप है। अक्षरों की कुटिल आकृति के कारण ही यह कुटिल लिपि कहलाई। कुटिल लिपि विकसित होकर नवीं शताब्दी में 'शारदा' बनी। कुटिल लिपि से ही नागरी और काश्मीर की प्राचीन शारदा लिपि का विकास हुआ। शारदा से वर्तमान काश्मीर, टाकरी तथा गुरुमुखी लिपियाँ विकसित हुई हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से, दसवीं सदी के लगभग प्राचीन बंगला लिपि का विकास हुआ। नागरीलिपि का प्रचार उत्तर में तो नवीं सदी के बाद मिलता है, परंतु दक्षिण में आठवीं सदी से सोलहवीं सदी तक पाया गया है। नागरी से वर्तमान कैथी, महाजनी, राजस्थानी, गुजराती आदि लिपियों का विकास हुआ है। प्राचीन बंगला लिपि से वर्तमान नेपाली, वर्तमान बंगला, मैथिली और उड़िया लिपियाँ निकली हैं। इस प्रकार हमने देखा कि उत्तरी भारत की अधिकतर लिपियाँ नागरी लिपि की ही सतानें हैं इसलिये वर्तमान देवनागरी लिपि से इनका निकट का सम्बन्ध और समानता है।

ब्राह्मी की दक्षिणी शैली के अन्तर्गत पश्चिमी, मध्यवर्ती, तेलगू, कन्नड़ी, ग्रन्थम, कलिंग तथा तामिल लिपि का विकास हुआ। इन लिपियों का दक्-

नागरी लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं अतः यहाँ इनका विवेचन अपेक्षित नहीं है।

नागरी लिपि के उदाहरण उत्तरी भारत में दसवीं सदी के भी पाए गये हैं। ग्यारहवीं सदी से इस लिपि की प्रभुता बराबर रही है। दक्षिण की नागरी लिपि 'नन्दि नागरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका दूसरा नाम 'ग्रन्थम् लिपि' है। इस लिपि में वहाँ संस्कृत के ग्रन्थ अब भी लिखे जाते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि दक्षिण की अन्य लिपियाँ संस्कृत उच्चारणों को यथावत् उच्चरित करने में असमर्थ हैं। इसीलिये संस्कृत ग्रन्थों के लिए इस लिपि का प्रयोग किया जाता है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश आदि के दसवीं सदी तक के सभी शिलालेख, पत्रादि इसी लिपि में लिखे गए थे। इसके विषय में ओझा जी का मत द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं कि—"दसवीं शताब्दी की उत्तरी भारत की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की भाँति अ, आ, घ, प, म, य, ष और स के सिर दो अशों में विभक्त मिलते हैं। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में दोनों अश मिल कर एक सिर की लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है। ११ वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती जुलती है और १२ वीं शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है।··· ई० स० की १२ वीं शताब्दी से लगाकर अब तक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप में चली आ रही है।" (ओझा भारतीय प्राचीन लिपिमाला) इस प्रकार वर्तमान देवनागरी लिपि दसवीं सदी की नागरी लिपि का ही विकसित रूप है। पिछले सौ वर्षों से, जब से मुद्रणकला का आविष्कार हुआ है, देवनागरी लिपि के छापे के रूपों में संयुक्त व्यंजनों के ऊपर नीचे के सम्मिलित रूपों (च्च, क्क, आदि को हटा कर (च्च, क्क) आगे पीछे लिखे हुए रूपों को ही अपनाया है।

वर्तमान नागरी लिपि में अक्षर ध्वनियों के क्रम से ही लिखे जाते हैं। केवल 'इ' की मात्रा (ि) और रेफ (˚) अपवाद हैं। उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ नीचे और ए, ऐ, ओ, औ की वर्णों के ऊपर लगाई जाती हैं। जिन व्यंजनों के अन्त में स्पष्ट रूप से खड़ी पाई नहीं है, जैसे (छ, ट, द आदि) उनमें संयुक्त व्यंजनों को अब भी ऊपर नीचे के क्रम से लिखा जाता है, जैसे-ट्ट, द्द, आदि। रकार के तीन रूप मिलते हैं—(्र ˚ ‸)। ख से कभी कभी रव का भ्रम हो जाता है।

देवनागरी लिपि के समान वर्तमान नागरी अङ्कों का विकास भी ब्राह्मी

अङ्कों से हुआ है। अङ्कों का विवेचन करते हुए ओझा जी ने लिखा है कि—"लिपियों की तरह प्राचीन और अर्वाचीन अङ्कों में भी अन्तर है। यह अन्तर केवल उनकी आकृति म ही नहीं किन्तु अङ्कों के लिखने की रीति मे भी है। वर्तमान समय में जैसे १ से ९ तक अङ्क और शून्य है और इन १० चिह्नों से अङ्क विद्या का सम्पूर्ण व्यवहार चलता है वैसा प्राचीन काल में नहीं था। उस समय शून्य का व्यवहार ही नहीं था और दहाइयों, सैकड़ों, हजार आदि के लिए भी अलग चिन्ह थे।" अङ्कों की इन दो प्रकार की शैलियों को विद्वानों ने 'प्राचीन शैली' और 'नवीन' शैली की सज्ञा दी है।

अङ्कों की इस 'प्राचीन शैली' का रूप सर्व प्रथम अशोक के शिलालेखों में मिलता है। बूलर का अनुमान है कि इन अङ्कों को ब्राह्मणों ने बनाया था। कुछ अन्य विद्वान ब्राह्मी लिपि के समान इन अङ्कों को भी विदेशी अङ्कों से प्रभावित मानते हैं। ओझा इन्हें भी भारतीय आर्यों का मौलिक आविष्कार मानते है। पाँचवी सदी के लगभग नवीन शैली के अङ्क जनसाधारण में प्रचलित हो चुके थे यद्यपि शिलालेख आदि में अङ्क प्राचीन शैली में ही लिखे जाते थे। इस शून्यवाली नवीन शैली की उत्पत्ति भी, ओझाजी के मतानुसार, भारत की ही उपज है। यहाँ से यह अरब गई और अरब से यूरोप पहुँची।

हमारी लिपि का नाम नागरी या देवनागरी क्यों पड़ा इसका अभी तक कोई निश्चित प्रमाण या उल्लेख नहीं मिल सका है। 'नागरी' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। विद्वानों का एक पक्ष इसका सम्बन्ध नागर ब्राह्मणों या नागर अपभ्रंश से मानता है अर्थात् नागर ब्राह्मणों में प्रचलित होने के कारण अथवा नागर अपभ्रंश से उत्पन्न होने के कारण यह नागरी कहलाई। डा० बाबूराम सक्सेना इस मत को सदिग्ध मानते हैं। कुछ लोग इसका अर्थ 'नगर' से सम्बन्धित अर्थात् नगर के लोगों की लिपि लगाते हैं। दक्षिण में इसे 'नंदि नागरी' कहते हैं तो इस शब्द से 'नंदिनगर' नामक किसी प्राचीन राजधानी का भास होता है। शाम शास्त्री का मत है कि प्राचीन काल में देवताओं की मूर्तियाँ बनाने के पूर्व उनकी उपासना सकेत चिन्हों द्वारा होती थी जो त्रिकोण या चक्रों आदि में बने हुये मन्त्रों के, जो 'देवनगर' कहलाते थे, मध्य में लिखे जाते थे। अत. देवनगर के आधार पर इसका नाम देवनागरी पड़ा। कह नहीं सकते कि यह कल्पना कहाँ तक ठीक है। तांत्रिक युग में 'नगर लिपि' नाम प्रचलित था।

हिंदी लिपि आज संसार की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि मानी जाती

है। इसमें संसार की लगभग सभी भाषाओं की ध्वनियों का उच्चारण कर सकने की शक्ति है। इस लिपि की विशेषता है कि इसमें जो लिखा जाता है उसका उच्चारण बिलकुल वही किया जाता है। संसार की अब तक ज्ञात अन्य किसी भी लिपि में यह गुण नहीं मिलता। हम अपने दैनिक जीवन में उर्दू और रोमन लिपियों की इस निर्बलता पर व्यंग्यपूर्वक हँसते हैं कि इन लिपियों का कोई निश्चित नियम नहीं है क्योंकि इनमें लिखा कुछ जाता है और उसका उच्चारण कुछ और ही किया जाता है। एक ही अक्षर का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थानों पर करने से उसके उच्चारण में भी अन्तर पड़ जाता है परन्तु देव नागरी लिपि में ऐसा नहीं होता। वहाँ एक निश्चित ध्वनि के लिए एक निश्चित वर्ण का प्रयोग ही उचित माना गया है। इसीलिए इसे सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि माना गया है।

यद्यपि हिंदी प्रदेश में उर्दू, रोमन, कैथी, मुड़िया आदि अनेक लिपियों का व्यवहार किया जाता है परन्तु देवनागरी लिपि का स्थान इनमें सर्वोच्च है। मुद्रण में तो, इस प्रदेश में, एकमात्र इसी लिपि का व्यवहार होता है। इस लिपि में जहाँ स्वर और व्यजन की ध्वनियों के सैद्धान्तिक सकेत विद्यमान हैं वहाँ ध्वनि के आधार पर स्वर और व्यजन का वर्गीकरण भी किया गया है। अतः इसमें स्वरों और व्यजनों की वर्णमाला अलग-अलग है। इतना ही नहीं वरन् उच्चारण, अवयव, आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है उन्हीं के प्रतीक स्वर और व्यञ्जन के वर्ण हैं। जैसे 'अ', 'इ', 'उ', 'आ', 'ओ' आदि के उच्चारण के लिए जैसी मुख की आकृति बनती है उसी से मिलते जुलते हुए ये वर्ण भी बने हैं। 'अ' के उच्चारण में आधा मुख खुलता है और जिह्वा मध्य में रहती है। 'आ' की मात्रा मुख के पूरे खुलने की द्योतक है, 'उ' में मुख बन्द होने का स्वरूप है। 'ओ' और 'ऐ' की 'ो', 'ै' दोहरी मात्राएँ मुँह के जबड़ों के दुहरे चलने की द्योतक है। एक अंग्रेज ने हिन्दी की वैज्ञानिकता को परखने के लिए उन वर्णों के स्वरूप के मिट्टी के खोखले रूप बनाए। उसने जब उनमें फूँक मारी तो उनमें से लगभग उन्हीं वर्णों की सी ध्वनि सुनाई दी। यह घटना इस लिपि की वैज्ञानिकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

हिंदी वर्णमाला के स्वर व्यजनों से भिन्न हैं। इनके उच्चारण में स्थानों से बिना टकराए हुए मुख की आवाज निकल जाती है पर व्यंजनों में हवा उच्चारण स्थानों को छूती हुई या उनसे रगड़ खाती हुई निकलती है। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वर और व्यजन अलग अलग होने चाहिए। देवनागरी

लिपि में यह भेद स्पष्ट है। वहाँ स्वर और व्यंजन अलग-अलग हैं।

व्यंजनों में उच्चारण स्थान के अनुसार पाँच वर्ग हैं—कंठ्य, तालव्य मूर्द्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य। अन्तस्थ और ऊष्म ध्वनियाँ भी अलग हैं। अनुनासिक ध्वनियों का विशेष विवरण है। शब्दों के साथ पड़ जाने से ध्वनियों में अन्तर पड़ जाता है, इसलिए प्रत्येक वर्ग के साथ अपना अपना अनुनासिक है। इसकी समस्त रचना लिपि ध्वनि के सिद्धान्त पर आधारित है। जिस प्रकार की ध्वनि है उसी प्रकार की उसकी लिखावट है। यदि कोई प्रत्येक ध्वनि का ठीक उच्चारण करता या सुनता है तो उसी प्रकार वह उसे लिख भी सकता है। एक ध्वनि के लिए एक ही अक्षर है, अनेक नहीं। उर्दू में जैसे 'ज' ध्वनि के लिए जीम, जुआद, जोय, जे आदि तथा अंग्रेजी में 'सी' (C) और 'के' (K) दोनों ही 'क' के लिए प्रयुक्त होते हैं ऐसा हिंदी में नहीं होता। इसके अतिरिक्त हिंदी में लगभग सभी तरह की ध्वनियाँ हैं। ङ, घ, ठ, ध आदि ध्वनियाँ रोमन लिपि में हैं ही नहीं। हिंदी की महाप्राण ध्वनियों को उर्दू और अंग्रेजी में 'ह' (H) का योग करा के व्यक्त किया जाता है। जैसे 'ख' के लिए 'क' (K) और 'ह' (H) का योग किया जायगा। पर 'कह' और 'के' में सैद्धान्तिक भेद है। उच्चारण की दृष्टि से दोनों दो पृथक व्यंजन हैं। देवनागरी लिपि में महाप्राण ध्वनियों के लिए अलग वर्ण बने हैं।

मात्राओं की दृष्टि से देवनागरी वर्णमाला पूर्ण है। इसमें ह्रस्व और दीर्घ में स्पष्ट भेद है। हिंदी मात्राएँ स्थान अवश्य अधिक घेरती हैं परन्तु इससे उच्चारण में किसी भी प्रकार के भ्रम या आशंका को स्थान नहीं रहता। उर्दू के जेर, जबर, पेश व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होते। अतः वहाँ लिपि की अव्यवस्था के कारण उच्चारण और भाषा दोनों में अन्तर आ जाता है। 'मन्दिर' उर्दू में 'मदर' रह जाता है। रोमन लिपि में मात्राओं का तो कोई नियम ही नहीं है। 'इ' और 'ई' दोनों के लिए एक ही वर्ण प्रयुक्त होता है। 'यू' (U) का 'उ', 'अ', और 'ऊ' की मात्राओं के लिए प्रयोग होता है। 'ए' के लिए भी कोई नियम नहीं है। इन अनियमों के कारण ही हिंदी शब्द जब उर्दू या अङ्गरेजी में लिखे जाते हैं तो बड़े हास्यास्पद लगने लगते हैं। हिंदी का 'कुँवर बहादुर' अंग्रेजी में 'कँवर बहादुर' ही लिखा जायगा। 'रामचन्द्र' और 'पुत्र' तो उर्दू के प्रभाव के कारण पश्चिमी भारत (पंजाबी आदि) में, 'रामचन्दर' और 'पुत्तर' हो गए हैं। प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक कृष्णचन्द्र को उनके साथी 'करशनचन्दर' कह कर पुकारते हैं। देवनागरी

लिपि में यह शक्ति है कि उसमें सभी ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। मात्राओं में अंग्रेजी के 'ई' और 'ओ' आदि के लिए कुछ कठिनाई अवश्य है। अंग्रेजी के 'EGG' और 'MODEL' हिंदी में 'ऐग और 'मौडिल' अथवा 'माडल' रूप में उचित ध्वनि नहीं देते। डिक्शनरियों में इनके लिए पृथक मात्राओं का प्रयोग किया गया है परन्तु जनसाधारण में उनका प्रचार नहीं है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय लिपि बनाने के लिये 'एॅग' और 'मॉडल' के चिन्ह भी बनाए गए हैं परन्तु सामान्य प्रयोग के संकेत अभी नहीं आए हैं। इसी प्रकार दक्षिण की कुछ भाषाओं में 'ए' और 'ओ' के तीन-तीन रूप प्रयुक्त होते हैं जिनका हिंदी में अभाव है। विद्वान उक्त ध्वनियों के उच्चारण में देवनागरी लिपि को असमर्थ मानते हैं।

इस लिपि में वर्णों की संख्या काफी बड़ी है। अंग्रेजी और उर्दू की अपेक्षा इसमें वर्ण अधिक हैं फिर भी चीनी आदि भाषाओं की भांति हजारों नहीं हैं। मात्राओं के अलग-अलग संकेतों (ि, ी, ु, ू, े, ै, ो, ौ) के कारण भी वर्णमाला बड़ी हो गई है। जैसा ऊपर संकेत किया गया है महाप्राण ध्वनियों और अनुनासिक ध्वनियों के विकल्प के कारण भी अन्य लिपियों से इसमें वर्णों की संख्या अधिक हो जाती है। अतः आरम्भ में वर्णमाला सीखने में कुछ कठिनाई होती है और अभ्यास करने में नया सीखने वाला मात्राएँ लगाने में ग़लती करता है।

देवनागरी लिपि की उपर्युक्त कमी के कारण मुद्रण और टायप राइटर के लिए इस लिपि को कुछ विद्वान् उचित नहीं मानते हैं। मुद्रण में तो विशेष कठिनाई नहीं होती। केवल वर्णों की संख्या ही बढ़ जाती है। उससे कम्पोजिंग में कठिनाई होती है परन्तु अब अभ्यास द्वारा उस पर विजय प्राप्त कर ली गई है। इस पुस्तक की छपाई को देखकर पाठकों को इस बात का विश्वास हो जायगा। हिंदी की इसी वर्णमाला के कारण शुद्ध लिपि के लिए बहुत बड़ा टाइपराइटर चाहिए। इसके कारण टायपिस्ट की गति भी नहीं बढ़ने पाती। वर्णों एवं मात्राओं में बहुत कमी कर देने पर ही हिंदी का टायपराइटर बन सका है। फिर भी उससे टायप करने की स्पीड और अंग्रेजी में टायप करने की स्पीड में बहुत अन्तर है जो लगभग आधे का है। हिंदी में प, फ, और भ की छपाई में भूल होने की सम्भावना अधिक रहती है। हिंदी अनुनासिकों की शुद्ध लिपि का प्रयोग कठिन हो गया है। गङ्गा के स्थान पर 'गंगा' होता जा रहा है।

इन्हीं कमियों को लक्ष्य कर देवनागरी लिपि में सुधार करने की आवाज

उठाई जा रही है। सभी का यह मत है कि वर्णों की संख्या कम कर देनी चाहिए। ऋ, ष, ङ, ञ आदि को हटाकर क्रमशः रि, श और ण का प्रयोग यथेष्ट है। कुछ लोगों का मत है कि महाप्राण ध्वनियों को भी हटा देना चाहिए। उसके स्थान पर 'ह' का संयोग करके काम चलाना चाहिए। महाप्राण ध्वनियों में 'ह' का संयोग मात्र ही नहीं वरन् इससे लिपि की वैज्ञानिकता में अन्तर पड़ेगा।

आधुनिक विद्वान देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता स्वीकार करते हुए भी उसके स्वरों और मात्राओं का विरोध करते हैं। वे इसे संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं। काका कालेलकर इनके मुखिया हैं। उन्होंने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा द्वारा अपनी नवीन योजना को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न भी किया है। उनका मत है कि केवल एक 'वर्ण' 'अ' में ही अन्य मात्राएँ लगाई जा सकती हैं जैसे अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै आदि। इस प्रकार वे केवल छः वर्णों, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, की संख्या कम कर लेते हैं। शेष फिर भी वैसे ही रहते हैं। इस परिवर्तन में एक बड़ी हानि यह होगी कि हमारा समस्त प्राचीन वाङ्मय उसी लिपि में लिखा गया है अतः उसमें भी परिवर्तन करना पड़ेगा। भावी पाठक प्राचीन लिपि को समझ नहीं पावेगा। काका कालेलकर की यह नवीन पद्धति 'स्वराखड़ी' कहलाती है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा से प्रकाशित सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य इसी पद्धति से छापा जा रहा है। परन्तु आजकल इस पद्धति का विरोध हो रहा है।

टाइप राइटिंग का केवल व्यापारिक क्षेत्र में परिवर्तन कर देने से कोई विशेष हानि नहीं होगी। सुविधा के लिये चिट्ठी पत्री में वर्ण माला छोटी की जा सकती है। परन्तु मुद्रण के क्षेत्र में परिवर्तन करने में उपर्युक्त हानियों की ही अधिक सम्भावना है, लाभ की कम। उसमें अप्रयुक्त ध्वनियों जैसे ऋ, ष आदि को निकाला जा सकता है। अनुनासिक के लिए बिन्दु (ं) का प्रयोग ही यथेष्ट माना जा सकता है। देवनागरी लिपि में परिवर्तन करने का एक सामूहिक प्रयत्न किया जा रहा है। इसके लिये अनेक समितियों का निर्माण हो चुका है जो समय समय पर अपना निर्णय देती रही हैं। तीन वर्ष पहले (१६५३) के अन्त में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा एक देवनागरी लिपि सुधार सम्मेलन किया गया था।

देवनागरी लिपि में सुधार करने का आन्दोलन मुख्यतः दो कारणों से चला है। प्रथम कारण यह है कि समय, शक्ति और धन का अपव्यय

किये बिना मुद्रण कला के नवीनतम साधनों का पूरा पूरा लाभ उठाया जा सके। दूसरा यह कि भारतीय भाषाओं म विशेषकर अपभ्र श से निकली हुई उत्तर भारत की समस्त भाषाओं में लिपि सम्बन्धी कुछ एकता और एकरूपता अवश्य होनी चाहिए। यह इसलिये आवश्यक है कि एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य की भाषा को सरलता से सीख सके और हिंदी भाषी क्षेत्रों में लोगों के गुजराती, बगला आदि सीखने तथा इनके प्रदेशों के लोगों के हिन्दी सीखने के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो एव भ्रातृत्व भावना जागृत हो।

प्रसिद्ध दक्षिणी विद्वान श्री अनन्त शयनम आयगर ने यह आशा प्रकट की है कि भविष्य म दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ भी देवनागरी लिपि के परिवर्तित एव सशोधित रूप का स्वीकार कर लेंगी। इससे देवनागरी लिपि ही भारत की एकमात्र राष्ट्राय लिपि बन जायगी। हिंदी अब राष्ट्रभाषा बन चुकी है। इसलिए अब वह केवल हिंदी वालों की ही न रहकर सारे राष्ट्र को सम्पत्त बन गई है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि अहिंदी भाषी लोगा की सुविधा असुविधा और आवश्यकतानुसार, लिपि के मूल रूप की रक्षा करते हुए, उसमें आवश्यक और उचित सशोधन कर लेना चाहिए। 'देवनागरा लिपि सुधार सम्मेलन' के विद्वानों और लिपि विशेषज्ञों ने नागरी लिपि म कम से कम परिवर्तन कर और उसके मूल सौन्दर्य की रक्षा करते हुए अनेक बहुमूल्य सुझाव दिये हैं। उन्होंने इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि देवनागरी का रूप न बिगड़ने पावे। उसकी विशेषताए यथापूर्व बनी रहें और उसका जो नया रूप बने वह अहिदी भाषियों के लिए तो सुगम हो ही, हिंदी भाषियों के लिए नए अभ्यास की आवश्यकता न पड़े। इस सम्मेलन में 'इ' की मात्रा, अ का रूप, अङ्क ६ के नये रूप, व्यजनों के नये स्वरूप शिरोरेखा और चिह्न, सयुक्त अक्षर तथा एक नए अक्षर पर विचार किया गया जिसका साराश निम्नलिखित है।

'इ' की मात्रा—सम्मेलन के सदस्यों ने केवल 'इ' की मात्रा मे ही परिवर्तन स्वीकार किया है। अन्य मात्राएँ ज्यों की त्यों स्वीकार कर ली हैं। नवीन सुझाव के अनुसार अब छोटी 'इ' की मात्रा 'ि' होगी तथा बड़ी 'ई' की मात्रा पूर्ववत 'ी' होगी। पाई शिरोरेखा के नीचे पूरी पूरी खींचने पर बड़ी 'ई' का बोध होगा और शिरोरेखा के नीचे जरासी पाई निकाल देने पर छोटी 'इ' का बोध होगा। यह अन्तर इस प्रकार है—छोटी 'इ' और बड़ी 'ई' की मात्राएँ क्रमश: 'ि' 'ी'। अ के अतिरिक्त स्वराक्षरों म कोई परिवर्तन नहा किया गया है।

'अ' का रूप—'अ' के प्रचलित दो रूपों 'अ' और 'अ' में से सुविधा के दृष्टिकोण से केवल एक ही रूप 'अ' को स्वीकार किया है।

६ की नई सूरत—'नरेन्द्र देव समिति' के सुझाव को स्वीकार कर नागरी अङ्कों में बम्बइया टाइप के ६ को मान्यता दी गई जो प्रचलित भी है। '६' के रूप को उड़ा दिया गया।

व्यञ्जनों के नये स्वरूप—अक्षर व्यंजनों में से 'ख', 'छ', 'झ', 'ण', 'ध', 'भ', 'ल', आदि में परिवर्तन किये गये। 'ख' का र व से भ्रम न हो इस लिए र के नीचे वक्र को घुमाकर व के वृत्त के नीचे जोड़ देने का निर्णय हुआ जैसे—'ख'। 'छ' के रूप में इतना अन्तर हुआ कि वह शिरोरेखा के नीचे खड़ी पाई से शुरू न होकर 'छ' की गोलाई से शुरू हो और नीचे की घुण्डी की पूँछ काट दी जाय जैसे—'छ'। झ के भी दो रूप हैं—झ और झ। इनमें से 'झ' को स्वीकार किया गया। 'ण' के भी दो रूप हैं—ण और ण। इनमें 'ण' को स्वीकार किया गया। इसकी सिफारिश नरेन्द्र देव कमेटी ने भी की थी। ध और भ में शिरोरेखा के बाएँ भाग को घुमाकर अक्षर का अंश बना दिया गया जैसे ध और भ। 'ल' का मराठी रूप न माना जाकर प्राचीन रूप 'ल' ही स्वीकार किया गया। त्र, त्र, त्र में से त्र को निकाल दिया गया।

शिरोरेखा और चिह्न—शिरोरेखा को यथापूर्व स्वीकार कर लिया गया। विराम चिह्नों में अँग्रेजी के पूर्ण विराम (फुलस्टोप) को छोड़कर, अंग्रेजी में प्रयुक्त सभी सम्बोधन व विराम चिह्न अपना लिए गये। पूर्ण विराम वही स्वीकार किया गया जो प्रचलित है—(।) 'सरिता' आदि मासिक पत्रों में प्रयुक्त पूर्ण विराम (.) का विरोध किया गया।

संयुक्त अक्षर—संयुक्ताक्षर बनाने के लिए केवल क, फ के आधे अक्षर रखे गए हैं। शेष व्यजनों में हलन्त (्) लगाकर या आखिरी खड़ी पाई हटा कर संयुक्त अक्षर बनाए जायगे। इस तरह द्य, द्व आदि के स्थान पर अब द्‌य या द्‌व लिखा जायगा। अनुस्वार व अनुनासिक चन्द्र बिन्दु दोनों चिह्नों का प्रयोग होगा। विसर्ग रहने के कारण अङ्गरेजी कोलन (:) नहीं रखा जायगा।

नया अक्षर—हिंदी में मराठी भाषा से एक नया अक्षर लिया गया है जिसकी ध्वनि ल और ड़ के बीच की होती है। इसका रूप 'ळ' है। यह ध्वनि वेद में पाई जाती है।

उपर्युक्त परिवर्तनों एवं संशोधनों के अतिरिक्त अभी विदेशी तथा दूसरी

भारतीय भाषाओं में कुछ ऐसी ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण हिंदी वर्णमाला द्वारा नहीं किया जा सकता। 'ए' और 'ओ' ध्वनियों में ह्रस्व व दीर्घ का अन्तर बताने वाली कोई ध्वनि देवनागरी लिपि मे नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक ध्वनियाँ हैं जिनका शुद्ध उच्चारण करने के लिए हमें अपनी लिपि में नए प्रतीक और चिन्ह बनाने पड़ेंगे। विशेषज्ञ इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। इस सम्मेलन में उपस्थित प्राय. सभी विद्वानों ने काका कालेलकर की 'स्वराखड़ी' का घोर विरोध किया। कुछ समय पूर्व 'नरेन्द्रदेव नागरी लिपि सुधार समिति' के सामने मध्य प्रदेश के श्री कामताप्रसाद सागरीय ने एक नई लिपि

देवनागरी लिपि का परिवर्तित रूप

अ इ ई उ ऊ ए ऐ

ा ि ी ु ू े ै

ं ँ ः ो ौ ृ ॄ

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड, ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व

श ष स ह

क्ष ज्ञ ळ ़ क़ फ़ ह्

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

का रूप उपस्थित किया था। उक्त समिति ने इस लिपि को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि यह लिपि वर्तमान नागरी लिपि से इतनी भिन्न है कि उसे पहचानने में बहुत कठिनाई होती है। नरेन्द्रदेव समिति ने 'सागरीय लिपि' के केवल भ और ध को स्वीकार कर लिया था। भ और ध के वही रूप इस सम्मेलन में भी स्वीकार कर लिए गये हैं।

भारत में सबसे अधिक प्रचलित लिपि देवनागरी लिपि ही रही है। इसलिए राष्ट्र भाषा के लिये, युग के अनुरूप सुधार कर, इसे ही इस योग्य बनाना पड़ेगा जिससे कि वह सम्पूर्ण ध्वनियों को व्यक्त कर सके। देवनागरी लिपि का परिवर्तित एवं संशोधित रूप ऊपर के चार्ट में दिया जा रहा है।*

जब से भारत में राष्ट्रीयता का आन्दोलन चला है तभी से भारतीय मनीषी राष्ट्रीय एकता के लिए एक भाषा और एक लिपि की आवश्यकता का अनुभव करते आए हैं। जो लोग समझते हैं कि एक लिपि का नारा अभी हाल की उपज है वे भ्रम में हैं। बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही एक लिपि की माँग उठाई जाती रही है। इस आन्दोलन के आरम्भ से ही बहुमत देवनागरी लिपि की उपयोगिता को स्वीकार कर उसे ही राष्ट्र लिपि बनाने पर जोर देता आया है। इस लिपि के समर्थकों में बगाली, मराठी और मद्रासी विद्वान भी हैं। इसे समझने के लिए लिपि आन्दोलन को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है।

लिपि के विषय में सबसे प्रथम महत्वपूर्ण मत कलकत्ता हाईकोर्ट के माननीय जस्टिस सारदाचरण मित्र का है। उन्होंने कलकत्ता युनिवर्सिटी इन्स्टीटयूट में एक लेख पढ़कर सुनाया था। उस निबन्ध में उन्होंने बड़ी सुन्दर उक्तियों और दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर यह स्पष्ट किया था कि अब भारतवर्ष म एक लिपि की आवश्यकता है। उनके मतानुसार केवल देवनागरी लिपि ही एक ऐसी लिपि है जो समस्त भारत में प्रचलित की जा सकती है। मित्र महोदय तो यहाँ तक इस लिपि से प्रभावित हुये थे कि वे इसका प्रचार ब्रह्मा, चीन, जापान और लका तक में करना चाहते थे। उन्होंने भारत भर की समस्त प्रचलित लिपियों में नागरी को ही सबस सुगम, सुन्दर और विस्तृत माना था। वे इस ससार की समस्त लिपियों में भी सर्वश्रेष्ट मानते थे।

---

* नवीन लिपि क नवीन अक्षरों का टायप प्राप्त न होने के कारण उनके नवीन रूप इस पुस्तक में नहीं छापे जा सके हैं। पाठक इसके लिए क्षमा करें। —प्रकाशक

उन्होंने अपने निबन्ध में यह भी बताया था कि भारत में मुद्रण कला का प्रचार होते ही बम्बई, काशी और कलकत्ता आदि में संस्कृत के अच्छे अच्छे ग्रन्थ देवनागरी लिपि म ही छापे गए थे।

जस्टिस महोदय के उपरोक्त निबन्ध के छपने के उपरान्त कलकत्ते में एक समित की स्थापना की गई जिसका नाम 'एक लिपि विस्तार परिषद्' रखा गया। इस समिति ने 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्रिका निकालनी प्रारम्भ की जिसमें हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती, उर्दू, उड़िया, तामिल इत्यादि अनेक भाषाओं के लेखादि देवनागरी लिपि में छापे जाते थे। इस पत्रिका का उद्देश्य यह प्रमाणित करना था कि देवनागरी अक्षर भारत की प्रत्येक भाषा को शुद्ध रूप से व्यक्त कर देने की क्षमता रखते हैं। इस पत्रिका के लगभग ५० वर्ष उपरान्त दिल्ली से आत्माराम एन्ड सन्स ने 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली है। इसमें भी विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखादि देवनागरी अक्षरों में छापे जाते हैं।

यदि प्रमुख भारतीय भाषाओं की लिपि एक ही रहती तो यहाँ भी यूरोप की तरह भिन्न भिन्न भाषाओं के पढ़ने की सुविधा रहती। हमारी हिंदी और मराठी भाषाओं की लिपि तो देवनागरी है ही, बँगला, गुजराती, गुरुमुखी, उड़िया व आसामी लिपियों का आधार भी देवनागरी लिपि ही है। उनमें केवल रूप का भेद है। वे मूल म एक ही हैं। सब अक्षर वही हैं जो देवनागरी लिपि में हैं, केवल उनकी बनावट में स्थान भेद के कारण कुछ अन्तर पड़ गया है। नागरी लिपि जानने वाला इन लिपियों को सरलता से सीख सकता है। उपरोक्त लिपियों म बंगाली, आसामी और उड़िया म अधिक साम्य है। दक्षिण की भाषाओं के मूलाधार भी नागरी अक्षर ही बताए जाते हैं परन्तु उनके रूप इतने भिन्न हैं कि इन्हें समझ लेना, नागरी लिपि स परिचित व्यक्ति के लिए असम्भव है। कुछ विद्वानों का मत है कि नागरी लिपि को लंका, ब्रह्मा और तिब्बत ने भी कुछ रूप भेद के साथ अपनाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत की भाषाओं में से एक बड़ी संख्या ने नागरी लिपि या उसके किंचित रूप भेद युक्त स्वरूप को स्वीकार कर लिया है। ऐसी दशा में यदि नागरी लिपि को ही सब भाषाओं की लिपि स्वीकार कर लिया जाय तो असंगत न होगा।

यहाँ हमें यह भी देख लेना चाहिए कि अहिंदी प्रान्तों में नागरी लिपि की क्या स्थिति थी और क्या है? महाराष्ट्र में कुछ सीमा तक लिखने में मुड़िया अक्षरों का प्रयोग होता था परन्तु अब उसका प्रचार घट रहा है।

वहाँ छापे में केवल नागरी अक्षरों का ही प्रयोग होता है। पहले महाराष्ट्र की लिपि दूसरी थी परन्तु उन्होंने नागरी की शक्ति और सौन्दर्य से प्रभावित हो कर, बहुत दिन हुए तभी इसे स्वीकार कर लिया था। गुजराती भाषा के लिए गुजराती अक्षरों का प्रयोग होता है। ये अक्षर नागरी से बहुत मिलते जुलते हैं। इनकी उम्र १५० वर्ष से अधिक नहीं है। इनमें मात्रा, चिह्न नागरी से आये हैं। इसीसे वे संस्कृत को नागरी लिपिमें ही लिखते हैं। गुजराती लिपि की पुस्तकों में जब बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक या संस्कृत नाम आते हैं तो उन्हें नागरी अक्षरों में ही छापा जाता है। गुजराती अक्षर भी संस्कृत अक्षरों से मिलते हैं। इससे गुजरातियों को नागरी लिपि अपनाने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

बिहार में यद्यपि लगभग सभी देवनागरी अक्षर जानते हैं परन्तु अपना रोजमर्रा की लिखा-पढ़ी का काम कैथी अक्षरों में करते हैं। आज वहाँ छपाई का सारा काम प्रायः नागरी अक्षरों में ही होता है परन्तु कुछ पुस्तकें कैथी लिपि में भी छपती हैं लेकिन बहुत कम। उत्तर भारत की प्रमुख लिपियों में केवल बँगला लिपि का प्रश्न बड़ा जटिल है। बंगालियों को अपनी लिपि की प्राचीनता का गर्व है। इन दोनों लिपियों में बहुत समानता है। इसलिए बंगाली संस्कृत की पुस्तकें अपनी ही लिपि में छाप लेते हैं। परन्तु वेदादि ग्रंथ अभी तक देवनागरी में ही छपते हैं। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपनी व्याकरण कौमुदी चार भागों में तैयार की थी। इनमें से पहले तीन भाग बंगाली अक्षरों में ही छपे थे और चौथा भाग जिसमें सूत्र थे देवनागरी में छपवाया था और उन सूत्रों की व्याख्या बंगाली में। सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार बंकिमबाबू ने एक लेख लिखकर अपना मत प्रकट किया था कि भारत में केवल एक ही लिपि होनी चाहिए और वह केवल देवनागरी ही हो सकती है। आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व 'माडर्नरिव्यू' के प्रसिद्ध सम्पादक बाबू रामानन्द चटर्जी ने 'चतुर्भाषी' नाम का एक पत्र निकालने का प्रयत्न किया था जिसमें हिंदी, बँगला, मराठी और गुजराती चार भाषाओं के लेख होते और सब देवनागरी अक्षरों में छपते। जस्टिस मित्र, बंकिमबाबू, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एवं रामानन्द चटर्जी जैसे बंगाली विद्वानों ने देवनागरी लिपि बनाने की अभिलाषा उसकी पूर्णता, सम्पन्नता और सौन्दर्य को देखकर ही की थी।

कुछ लोग रोमन या अरबी लिपि को ही भारत की राष्ट्रीय लिपि बनाना चाहते हैं। रोमन लिपि का प्रश्न उठाना तो व्यर्थ की बात है क्योंकि इससे

हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक या धार्मिक जीवन से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। आश्चर्य है कि सुभाष बोस जैसे देश प्रेमी न मालूम किस दृष्टिकोण से इसे अपनाने की सलाह दे रहे थे। अब प्रश्न केवल अरबी लिपि का रह जाता है। अरबी लिपि या उसके आधार पर बनी हुई लिपियों में भारत की केवल तीन भाषाएँ लिखी जाती हैं— सिंधी, पश्तो और उर्दू। सिंध में आज से लगभग सौ वर्ष पहले तक नागरी या मुडी लिपि का प्रयोग होता था। अँग्रेजों के आ जाने पर यह प्रश्न उठा कि सिंधी भाषा किस लिपि में लिखी जाय। सरकारी अफसर आम जनता को मुडी या हिंदी लिपि का प्रयोग करते देखते थे अतः वे नागरी लिपि को रखना चाहते थे। किंतु प्रमुख आमिल लोग नागरी के स्थान पर अरबी या फारसी लिपि को अपनाना चाहते थे। उनके प्रभाव से वहाँ अरबी लिपि स्वीकार कर ली गई। पाकिस्तान बन जाने के उपरान्त उर्दू लिपि का प्रश्न ही नहीं उठता। पश्तो पर तो विचार करना ही व्यर्थ है। आज भारत में और वह भी भारत के मध्य भाग में एक ऐसी भाषा है जिसके बोलने वाले लगभग १६ करोड़ हैं। वह नागरी लिपि में ही लिखी जाती है। अतः जनसंख्या के लिहाज से भी नागरी को ही अपनाना अधिक श्रेयस्कर है।

१८—भारत की राष्ट्रभाषा

(श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०)

भारतीय संविधान द्वारा हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार की गई है। भारत में अनेक देशी विदेशी एवं प्रान्तीय समृद्ध भाषाओं के रहते हुए हिंदी को ही क्यों भारतीय राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया ? साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से अंग्रेजी हिंदी से अधिक समृद्ध है। संस्कृत भाषा का साहित्य संसार की प्राचीन भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। अरबी, फारसी भाषाओं की गणना संसार की समृद्धिशालिनी भाषाओं में की जाती है। दक्षिण भारत की भाषाएँ साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से हिंदी से न्यून नहीं ठहरतीं। उत्तर भारत की प्रान्तीय आर्य भाषाओं में से महाराष्ट्री, गुजराती और बंगाली भाषाएँ साहित्यिक समृद्धि के क्षेत्र में यदि हिंदी से श्रेष्ठ नहीं हैं तो कुछ सीमा तक न्यून भी नहीं हैं। फिर इन सब भाषाओं के रहते हुए हिंदी को ही क्यों राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया ? इस स्वीकृति के मूल में प्राचीन भारतीय राष्ट्रभाषा की वह परम्परा कार्य कर रही है जिसने हिंदी को जन्म देकर यह महत्वपूर्ण पद प्रदान किया है। हिंदी मध्यदेश की भाषा है। भारत का प्राचीन इतिहास बतावा है कि भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा का पद सदैव मध्यदेश की भाषा को ही मिला है। धार्मिक आग्रह के कारण कुछ समय तक अन्य भाषाएँ जैसे पाली आदि भारत की राष्ट्रभाषाएँ बन गई थीं परन्तु उस धार्मिक आग्रह के मूल में काम करने वाले राजकीय प्रभुत्व की समाप्ति के साथ उन भाषाओं का वह गौरव भी नष्ट हो गया। कालान्तर में उनका अस्तित्व एक प्राचीन धार्मिक भाषा अथवा एक प्रांतीय विभाषा के रूप में ही सुरक्षित रहा। ऐसे समय में जब पुनः राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अनुभव की गई तो मध्यदेश की भाषा ने ही आगे बढ़कर उस आवश्यकता की पूर्ति की। ऐसा क्यों हुआ ? इसके लिये हमें राष्ट्रभाषा की प्राचीन परम्परा को देखना पड़ेगा।

भारतवासियों की सभ्यता और संस्कृति सदैव से समन्वय और सामंजस्य पर आधारित रही है। इसी समन्वय और सामंजस्य की भावना ने प्राचीन

भारत की भाषा समस्या को सुलझा लिया था। उन्होंने संस्कृत को सम्पूर्ण भाषाओं की प्रकृति तथा अन्य भाषाओं को उसकी 'विकृति' मान कर एक ओर तो एक को अनेक कर दिया और दूसरी ओर फिर अनेक में से एक को प्रधानता देकर उसे चलित या सर्व साधारण में प्रचलित राष्ट्रभाषा के रूप में अपना लिया। इस प्रक्रिया में विनाश किसी भी भाषा का नहीं हुआ परन्तु विकास सबका हुआ। यदि श्रुतियों के काल को छोड़ भी दिया जाय तब भी वाल्मीकिय रामायण से यह प्रमाणित होता है कि उस समय संस्कृत समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी। दक्षिण के द्रविड़ देशों में भी उसका प्रचार था। प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर रागेय राघव तो यह मानते हैं कि "किसी समय वैदिक संस्कृत भी आमफहम जुबान रही थी। यह जब साहित्यिक बन गई तब भाषा बदली और पहली प्राकृत का बोलबाला हुआ। उस प्राकृत के भौगोलिक भेदों से कई रूप थे। उनमें से मेरठ की बोली बढ़ी और वह सबने स्वीकार करली। वह संस्कृत कहलाती है।" डाक्टर साहब ने संस्कृत को मेरठ की बोली से विकसित साहित्यिक भाषा माना है परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि उनके इस विकास का आधार क्या है। उनका यह मत यदि सही है तो वर्त्तमान हिंदी का राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करना उसका वंशगत दायित्व है। पहले भी मेरठ की बोली ही राष्ट्रभाषा बनी थी और अब भी मेरठ की ही बोली (खड़ी बोली) राष्ट्रभाषा मानी गई है। भाषा के इतिहास की यह परम्परा अभूतपूर्व है।

वाल्मीकिय संस्कृत की भाषा के दो रूप हैं द्विजी और मानुषी। अशोक वाटिका में जब सीता के पास हनुमान पहुंचे तो उनके सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि वे द्विजी वाणी में बात करें या मानुषी में। यदि वे द्विजी में बात करते तो सीता उन्हें मायावी रावण मान लेती क्योंकि रावण विद्वान था। उस समय द्विजी विद्वत्वर्ग की भाषा थी। साधारण जनता उसी के बोलचाल वाले रूप मे बोलती थी। यही सोचकर हनुमान ने 'मानुषी' का प्रयोग किया। हनुमान द्रविड़ थे। मानुषी उनकी अपनी भाषा नहीं थी। परन्तु द्विजी और मानुषी का प्रचार उस समय दक्षिण भारत तक में था। इसीसे हनुमान दोनों भाषाएँ जानते थे। यह उस काल में संस्कृत की व्यापकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। आगे चलकर संस्कृत साहित्य की भाषा के रूप में प्रचलित रही और मानुषी विकसित होकर पहली प्राकृत बन गई। भाषा के इन दोनो रूपों का प्रचार उस समय सम्पूर्ण आर्यावर्त में था।

पाणिनि ने सस्कृत का व्याकरण लिखकर उसे पूर्ण बना दिया। प्राकृत अपने स्वाभाविक रूप में प्रचलित रही। इस प्रकार बहुत समय तक सस्कृत साहित्यिक राष्ट्रभाषा के रूप में चलती रही और प्राकृत सामान्य की राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित होती रही। सम्पूर्ण भारत में प्राचीनकाल में सुदूर स्थित प्रदेशों से निकट सपर्क स्थापित करने के लिए सस्कृत का प्रयोग होता रहा। इसका प्रमाण सुदूरवर्ती भाषाओं पर पड़ा हुआ संस्कृत का प्रभाव है।

गौतम बुद्ध ने या महावीर स्वामी ने किसी नवीन भाषा का निर्माण नहीं किया था। सस्कृत या शिष्ट रूप तो अनुशासित होने के कारण एक रूप हो गया था पर उसका प्राकृत रूप सदैव परिवर्तनशील रहा। इसी परिवर्तनशीलता के कारण एक ही भाषा के देश काल के भेद से अनेक रूप हो गये जो 'प्राकृत' कहलाए। यह भाषा का 'मानुषी' या जन-साधारण का रूप था। गौतमबुद्ध ने अपने सद्धर्म का प्रचार करने के लिए इसी 'मानुषी' रूप को अपनाया। इस धर्म के प्रचार से भाषा के द्विजी रूप 'संस्कृत' का प्रचार कम हो चला। जैनियों ने पहले तो अर्द्धमागधी को अपनाया किंतु कालान्तर में उन्हें भी अपने धर्म को व्यापकता देने के लिये सस्कृत को अपनाना पड़ा और उनकी भाषा 'जैन-सस्कृत' कहलाई। इसका कारण यह था कि अर्द्ध-मागधी एक प्रात विशेष की भाषा थी। सम्पूर्ण देश में उसका समझा जाना असम्भव था। इसीलिए जैनियों को सस्कृत अपनानी पड़ी।

बौद्धों ने मागधी को अपनाया जिसे कहीं कहीं पाली भी कहा गया है। परतु मागधी भाषा पाली से बहुत भिन्न थी। इसी कारण बौद्ध ग्रन्थों मे मागधी को तो मानुषी भाषा कहा गया है और पाली को देवगण तथा बुद्धगण की भाषा। बौद्धों ने प्रचलित भाषा को क्यों अपनाया और उसका रूप क्या था, इस विषय में श्री चन्द्रबली पाडेय का मत द्रष्टव्य है—"जब बौद्धों को एक व्यापक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता हुई तो उनकी दृष्टि उस भाषा पर पड़ी जो न जाने कितने दिनों से शिष्ट तथा चलित रूपों मे देश की राष्ट्रभाषा थी। उसके शिष्ट रूप का ग्रहण तो इसलिए सम्भव न था कि वह द्विजों की भाषा थी और जनता से कुछ दूर थी। मागधी का प्रसार इसलिए असम्भव था कि वह प्रान्तीय तथा अति सामान्य भाषा थी। निदान निश्चित हुआ कि देववाणी के चलित या मानुषी रूप को ग्रहण किया जाय और उसी में 'बुद्धवचन' का संग्रह भी कर दिया जाय।" (भाषा का प्रश्न-पाडेय) परन्तु कालान्तर में धर्म के सूक्ष्म तत्वों के विवेचनार्थ बौद्धों को भी सस्कृत अपनानी

पड़ी। जैनों ने भी इसे इसी कारण अपना लिया था। इस प्रकार संस्कृत पुन: राष्ट्रभाषा बन गई।

बौद्धों ने अपनी भाषा को देवगण की भाषा या देववाणी भी कहा है। देववाणी को 'ब्राह्मी' भी कहा गया है। वह सम्पूर्ण ब्रह्मावर्त (उत्तर भारत) की भाषा थी इसी से उसे ब्राह्मी कहा गया। इस भाषा का दूसरा नाम 'भारती' भी है। इससे सिद्ध होता है कि—"भारत की राष्ट्रभाषा का नाम भी भारती और देववाणी इसीलिए पड़ा कि वह भारत की सतानों यानी भारतियों की भाषा तथा सरस्वती और दृद्वती के मध्य देवनिर्मित देश की वाणी थी।"

प्राकृतों के प्रभुत्व के साथ कुछ समय तक महाराष्ट्री भाषा का बहुत प्रचार हुआ। परन्तु यह जनसाधारण की भाषा न होकर काव्य की प्रमुख भाषा रही। विद्वानों ने महाराष्ट्री को किसी की प्रकृति नहीं कहा है। प्रत्युत पैशाची तथा मागधी की प्रकृति शौरसेनी को ठहराया है और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत को माना है। शौरसेनी संस्कृत का विकास मानुषी भाषा का रूप था।

प्राकृतों के उपरान्त अपभ्रंश का युग आया। विद्वानों ने शौरसेनी प्राकृत को अन्य प्राकृतों की 'प्रकृति' कहा है। अपने समय में वही भारत की जन साधारण की राष्ट्रभाषा थी। इसी शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश का विकास हुआ। आगे चलकर अपनी परम्परागत समृद्धि के कारण शौरसेनी अपभ्रंश भारत की राष्ट्रभाषा बनी। उस समय शूरसेन प्रदेश भारतीय राज्यशक्ति का केन्द्र था। राज्यशक्ति का सहयोग पाकर वह आगे बढ़ी। राज्याश्रय पाकर वह देश देशान्तरों में फैलने लगी। मुसलमानों के आने के समय तक यह भारत की राष्ट्रभाषा थी। यही अपभ्रंश आगे चलकर हिन्दी के रूप में विकसित हुई।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में ब्रज और अवधी प्रधान काव्य भाषाएँ बनी। परन्तु सुदूर प्रदेशों की जनता में पारस्परिक विचार विनिमय के लिए मेरठ प्रदेश की बोली खड़ी बोली का व्यवहार होता रहा जो खड़ी बोली के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है। काव्य भाषाएँ बहुत समय तक बढ़ती रहीं परन्तु साधारण व्यवहार खड़ीबोली में ही होता रहा। राजकार्य का सञ्चालन इस बोली द्वारा सम्पन्न किया जाता रहा। दक्षिण में तो शासक वर्ग में इसी का प्राधान्य था। उन्नीसवीं सदी में जब विशृङ्खलित भारत को पुन एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ तो ऐसे आड़े समय में खड़ीबोली ने ही सामने आकर हमारी सहायता की। तूफान की तेजी से उसका विकास हुआ और बहुत थोड़े समय में ही वह सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की एक मात्र भाषा बन बैठी। उसके

इस अप्रत्याशित विकास में उसकी उस प्राणशक्ति की कहानी छिपी हुई है जिसे वह युग-युगान्तरों से संचित करती आ रही थी। यदि खड़ी बोली में वह परम्परागत शक्ति न होती तो वह कदापि भारत की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती थी। संस्कृत भी मेरठ प्रदेश की भाषा थी और खड़ी बोली भी वहीं की है। इस प्रकार खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के रूप में अपना कर भारतीय जनता ने इतिहास की पुनरावृत्ति की है।

भारतीय-राष्ट्रभाषा की परम्परा का विकास दिखाते हुए हमने यह सिद्ध कर दिया है कि हिंदी भारत की परम्परागत राष्ट्रभाषा की आधुनिक कड़ी है। इसका स्वरूप कैसा होना चाहिए इस विषय में विद्वानों का मत है कि आज भारत की राष्ट्रभाषा का स्वरूप प्रेमचन्द की हिंदुस्तानी का ही हो सकता है। पाकिस्तान बन जाने से उर्दू का प्रश्न कुछ काल के लिये समाप्त सा हो गया था परंतु गत दो एक वर्षों से कुछ प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ (सम्प्रदायवादी) पुनः उर्दू के प्रश्न को साम्प्रदायिक स्तर पर उभार रही हैं। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि भारत में उर्दू का जो विशाल साहित्य रचा गया है, उसका क्या होगा, यदि हम उर्दू का पूर्ण बहिष्कार कर दें तो। उर्दू के बहिष्कार का प्रश्न संकीर्ण सम्प्रदायवाद और हिंदी उर्दू की परंपरा और विकास को ठीक तरह से न समझने का परिणाम है। वस्तुतः हिंदी और उर्दू दो भिन्न भाषाएं नहीं है वरन् एक ही भाषा (हिंदी) की दो शैलियाँ हैं जिन्हें सम्प्रदायवादियों ने धार्मिक रंग देकर एक दूसरे से प्रथक करने का प्रयत्न किया है। इस प्रथकीकरण के मूल में विदेशी अंग्रेजों का बहुत बड़ा हाथ और राजनैतिक उद्देश्य रहा है। १९ वीं सदी से पूर्व हिंदी उर्दू में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। यह भेद की खाई अंग्रेजों ने चौड़ी की। परन्तु जब कि फूट डालने वाले अंग्रेज चले गए हैं तो हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि इन दो सगी बहिनों के मनमुटाव को दूर कर उन्हें पुनः एक कर दें।

उर्दू को अपना लेने से हिंदी को एक समृद्ध साहित्य की निधि मिल जायगी। इसके लिये डाक्टर रांगेय राघव का सुझाव निम्नलिखित है—"उर्दू का पूर्ण इतिहास हिंदी साहित्य में ले लिया जाय। उर्दू की मँजाहट, नफासत, चुभन, हिंदी साहित्य के गौरव का विषय बन जायेगी। उर्दू वालों का कोई नुकसान नहीं होगा। वे नागरी लिपि में एक अधिक कीमती और बड़े साहित्य के वारिस हो जायेंगे। आपस की फूट न रहेगी। और सबसे बड़ी बात होगी कि तब अपने आप नई भाषा का जन्म होगा।" (भाषा का प्रश्न—रांगेयराघव) इस मिलन का परिणाम यह होगा कि भाषा के विकास का रास्ता खुल जायगा।

फिर काका कालेलकर आदि की भाषा के समान एक नवीन भाषा की आवश्यकता नहीं रहेगी। परंतु इस मार्ग की सबसे बड़ी बाधा कांग्रेस सरकार की तुष्टीकरण की नीति है। वह अब भी मुसलमानों को (साम्प्रदायवादी मुसलमानों को) खुश रखने के लिये उर्दू और हिंदी को दो प्रथक भाषाओं के रूप में देखती है। भाषा के प्रश्न को लेकर आज भारतीय जनता के साथ कांग्रेस सरकार ने जो सबसे बड़ा मजाक किया है, वह है मौलाना अबुलकलाम आजाद को भारत का शिक्षामंत्री बनाना। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौलाना साहब एक असाम्प्रदायिक भावना वाले व्यक्ति हैं। परन्तु किसी व्यक्ति की ऐसी भावना ही तो उसे शिक्षा मंत्री के महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन कराने के लिए यथेष्ठ नहीं है। हमारा शिक्षा मंत्री ऐसा हो जिसे देश की प्राचीन परम्परा, इतिहास, संस्कृति के क्रमिक विकास का ज्ञान हो। साथ ही वह देश की प्रधान भाषाएँ भी जानता हो। शिक्षा मंत्री के लिये शिक्षा विज्ञान का भी ज्ञान होना आवश्यक है। हमारे मौलाना अरबी फारसी के विद्वान हैं परन्तु उनमें उपर्युक्त वर्णित ज्ञान का पूर्ण अभाव है। उनका ज्ञान अरबी और फारसी भाषा की परम्परा, इतिहास और संस्कृति तक ही सीमित है। वे राष्ट्रभाषा हिंदी को प्रवाह के साथ नहीं बोल सकते। अंग्रेजी का उनका ज्ञान भी कुछ ऐसा ही है। ऐसी दशा में घूम फिर कर उनका ध्यान अरबी फारसी और उर्दू की तरफ चला जाता है। हिंदी के विषय में उनकी अनभिज्ञता ने उन्हें हिंदी के प्रति उदासीन बना रखा है। हमारा शिक्षा मंत्री ही अगर राष्ट्रभाषा के प्रति उदासीनता दिखाएगा तो उसके पद का महत्व व्यर्थ है। मौलाना साहब की उर्दू पक्षपातिनी नीति से सम्पूर्ण हिंदी संसार क्षुब्ध हो उठा है। उर्दू कलाकारों, उर्दू संस्थाओं आदि को सरकारी सहायता मुक्त हस्त होकर प्रदान की जा रही है और हिंदी वाले ऐसे देखते रह जाते हैं जैसे वे सौतेले पुत्र हों।

हिंदी के प्रति इस उपेक्षापूर्ण नीति के लिये अकेले मौलाना ही जिम्मेदार नहीं है अपितु हमारे नेहरू इत्यादि वे नेता भी हैं जो सोचते अंग्रेजी में हैं और बोलते टूटी फूटी हिन्दी में हैं। जब तक बागडोर इन अंग्रेजीदाँ नेताओं के हाथ में रहेगी तब तक हिंदी को अपना पद पूरी तरह से हासिल करने के लिये संघर्ष करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में हमारा विश्वास केवल हिंदी की अप्रतिम शक्ति को देखकर ही डगमगाता नहीं है। सदियों से भयंकर सम्प्रदायवादी शासक भी हिंदी का विकास रोकने में असमर्थ रहे तो पूंजीवादी व्यवस्था के इन ध्वंसावशेषों में इतनी शक्ति कहाँ कि वे उसकी गति को रोक

सकें। हिंदी के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व हिंदी उर्दू के लेखकों के सम्मिलित प्रयत्न पर निर्भर कर रहा है। यदि ये दोनों मिलकर एक हो जाय तो हमारा धार्मिक मतभेद भी नष्ट हो जायगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम हिंदी उर्दू को दो भिन्न भाषाएँ न मानकर एक ही भाषा मानें। डाक्टर रांगेय राघव के शब्दों में यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है, जब—"समस्त उर्दू साहित्य को, अधिक सरल होने के कारण नागरी लिपि में लेकर, हिंदी साहित्य में जोड़कर हिन्दी साहित्य के इतिहास को फिर से लिखा जाय।" वे इसके लिए राजनीतिक एव सामाजिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं—'भाषा का प्रश्न मुहब्बत का सवाल नहीं है। एक दूसरे की खातिर तवज्जह नहीं है। वह वैज्ञानिक प्रश्न है। जनवाद उनका आधार है। आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक अन्तभुंक्ति जनताओं को समीप लाती है। यह साम्प्रदायिकता, जातीयता, इस समाज की विषमता के कारण हैं। भाषा के प्रश्न को सुलझाना इसीलिये सीधे ही हमारे जनवादी प्रगतिशील आन्दोलन से सम्बन्ध रखता है। शोषणहीन समाज में ही जनताएँ एक दूसरे की सीमा को तोड़कर गले मिलती हैं और पारस्परिक वैमनस्य दूर होता है।" उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि शोषणहीन वर्गयुक्त समाज की स्थापना होने पर यह भाषा भेद स्वतः ही समाप्त हो जायगा।

इस वर्ग सघर्ष का अन्त करने की शक्ति भारतीय भाषाओं में से हिंदी में ही सबसे अधिक है। उसका विकास जनवाद के बल पर हुआ है। उसने सदैव धार्मिक सकीर्णता और पुरोहित वर्ग का घोर विरोध किया है। कबीर, तुलसी का साहित्य इसका प्रमाण है। हिन्दी जनता की भाषा है। उसके पास एक समृद्ध विरासत है। इस कार्य को केवल वही कर सकती है।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से भाषावार प्रान्तों का प्रश्न राजनीतिक उद्देश्य को लेकर आगे आया है। भाषावार प्रान्तों के निर्माण से राष्ट्रभाषा का कोई अहित नहीं हो सकता। प्रान्तीय भाषाएँ फलती फूलती रहेंगी और हिंदी उन्हें एक कड़ी में बाधने का कार्य करती रहेगी। प्रान्तीय भाषाएँ ही नहीं वरन् बोलियों म भी साहित्य का निर्माण होना चाहिये। हिन्दी दूसरे प्रांतों पर लादी नहीं जारही। उसका उद्देश्य हिंदी साम्राज्य वाद की स्थापना का कभी भी नहीं रहा और न है। 'हिन्दी साम्राज्यवाद' के भय का हौवा सकीर्ण प्रान्तीयतावादियों ने उठा रखा है। इसमें कोई तथ्य नहीं। हिंदी सबकी सेवा करना चाहती है। वह दूसरी भाषाओं से विनिमय में भी सकोच नहीं करती। वह एक ऐसी अजस्र प्रवाहिनी स्रोतस्विनी के समान है जिसमें

भाषाओंरूपी नदियों का सयोग अनिवार्य है। जिस दिन वह एक कृत्रिम का रूप धारण कर लेगी उसी दिन उसका राष्ट्रभाषा का गौरवमय पद समाप्त हो जायगा।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा के स्वरूप के साथ ही उसका अपना इलाका है, जिसका भूत और वर्तमान अत्यन्त समृद्ध और उज्ज्वल है। हिंदी भाषी क्षेत्र की इसी समृद्धि से मुग्ध होकर हिंदी के वर्तमान प्रखर आलोचक डाक्टर रामविलास शर्मा ने लिखा है—"हिन्दी भाषी इलाका भारत का सबसे बड़ा इलाका है। सख्या के लिहाज से हिन्दुस्तानी जाति दुनियाँ की तीन चार सबसे बड़ी जातियों में गिनी जायगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। यहीं की नदियों के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अनुष्टुप और चौपाइयाँ गाई हैं। तानसेन और फैयाज खाँ, हाली, मीर, अकबर, गालिब, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल और विश्वनाथ के मन्दिर यहीं के हाथों ने गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ों साल तक यहीं का आकाश गु जाया है। अठारह सौ सत्तावन म यहीं की धरती हिंदुओं और मुसलमानों के खून से सींची गई है। जिस दिन यह विशाल हिंद प्रदेश एक होकर नये जन-जीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसकी सस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी। किसानों और मज़दूरों की एकता जो जनता के सयुक्त मोर्चे की मुख्य शक्ति है, वह दिन निकट लायेगी। हिंदी और उर्दू के लेखकों को इस जनता के हितों को ध्यान में रखकर अपनी जातीय परम्पराओं के अनुसार लोकप्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास म आगे बढ़ना चाहिए।" (प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें—डा० रामविलास शर्मा) उपर्युक्त वक्तव्य म 'जातीय परम्पराओं' से डाक्टर शर्मा का उद्देश्य हिंदू, मुसलमान दो जातियों स न होकर केवल एक भारतीय जाति से ही है।

१९—अरविन्द दर्शन और पन्त

(श्री तारकनाथ बाली, एम० ए०)

मानव की आकाक्षाएँ क्या हैं ? वह पूर्ण ईश्वरत्व, उन्मुक्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अपरिमित आनन्द और अबाध स्वतन्त्रता चाहता है। वह आज भी यही चाहता है, कल भी यही चाहता था, और आगे भी यही चाहेगा।

चेतना और पदार्थ का सामरस्य—आध्यात्मिक क्षेत्र में भी मानव-साधना का लक्ष्य यही कामनाएँ हैं और भौतिक क्षेत्रमें भी। हमें बताया जाता है कि शकराचार्य आदि ज्ञानियों ने भूत-जगत का पूर्ण तिरस्कार करके जीवन की चरम सफलता—ये सभी विभूतियाँ प्राप्त कीं। आज हम देखते हैं कि विज्ञान आत्मजगत का पूर्ण तिरस्कार कर मनुष्य के उच्चतम लक्ष्य की पूर्ति-इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति में—सलग्न है। विज्ञान और आध्यात्म का यह युद्ध आज भी चल रहा है। क्या यह संभव है कि दोनों का उद्देश्य एक होते हुए भी उनमे भयङ्कर शत्रुता हो ?

श्री अरविन्द ने यह सिद्ध किया है कि चेतना और पदार्थ में यह विरोध देखने का कारण है मानव की सकुचित दृष्टि। इस प्रकार की समस्याएँ तभी उठती हैं जब मानव-चेतना मे उलझनें हों, जब वह भीतरी सामरस्य के दर्शन करने में असमर्थ हो। हमें अपने मे जो गलतियाँ दिखाई देती हैं, वे सभी सत्य हैं—भले ही अनिर्दिष्ट रूप में।

वास्तव मे देखा जाए तो पदार्थ और चेतना में कोई विरोध नहीं है। दोनों मे सामरस्य है। उपनिषदों में पदार्थ को भी ब्रह्म कहा गया। यह कहना भ्रम है कि ससार असत्य है (शङ्कर) विज्ञान ने भौतिक आधार पर जो प्रगति की है उसे भ्रम कहकर नहीं ठुकराया जा सकता है। इसके साथ ही साथ ऋषियों मुनियों ने कठोर साधना करके जिन आत्मिक शक्तियो का उपार्जन और गूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन किया है, उन्हें झूठा कह देना भी बुद्धि की विकृति प्रदर्शित करना है।

चेतना और पदार्थ दोनों की उपयोगिता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् उन्हें सत्य मान लेने के पश्चात् हमारे सामने प्रश्न आता है कि उनका

पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? किस प्रकार हम चेतना और पदार्थ मे सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं ? इस समस्या को हल करने के लिए हमें दो बातें स्वीकार करनी हैं—प्रथम हमे एक सर्वव्यापी सत्ता को पहचानना है जो इन दोनों तत्त्वों को उचित महत्व और गरिमा प्रदान करती है। द्वितीय जब हम उस सर्वव्यापी सत्ता और चेतना तथा पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करेंगे तो विकासवाद का सिद्धान्त ही सारी गुत्थियों को सुलझाता है। श्री अरविन्द के दर्शन का मूल है उपनिषद्—ज्ञान और विकासवाद का समन्वय। उपनिषद् का ज्ञान ही विकासवाद को वास्तविक एव पूर्ण सिद्धान्त बनाने में समर्थ है। श्री अरविन्द ने लिखा है कि प्राचीन पूर्वी ज्ञान और आधुनिक पश्चिमी विज्ञान के समन्वय की ओर ही आज का युग बढ़ रहा है।

उपनिषद् ज्ञान और आधुनिक विकासवाद के स्वरूप को समझने के लिए हमें पहले मूल सत्य से चलना पड़ेगा।

मूल सत्य—ससार में हमें परिवर्तन का ज्ञान होता है। स्वानुभूति में हमे एकरसता का ज्ञान होता है। यह मैं जानता हू कि मैं वही हूँ जो परसों था, कल था, आज हूँ या कल हूँगा। सत्य के दो ही रूप हो सकते हैं—एक स्थिर, दूसरा गत्यात्मक। ये दोनों ही सत्य हैं।

"अत. हमारे सामने दो सत्य हैं—एक विशुद्ध सत्ता और द्वितीय विश्व-सत्ता—सत्ता का सत्य और गति का सत्य। किसी एक को अस्वीकार करना आसान है किन्तु सच्ची और फलवती योग्यता तो चेतना के सत्यों को समझने और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के उद्‌घाटन करने में है।"

(डिवाईन लाईफ प्रथम भाग पृ० ११६)

जो स्थिर है वह ही ब्रह्म है और यह विकासशील सत्य है चेतन शक्ति।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या ये दो ही मूल सत्य हैं या इनसे परे भी कुछ है ? हाँ मूल सत्य तो शुद्ध चैतन्य (Absolute) है। वह अवाङ्-मनसगोचर है। स्थिरता और गतिशीलता तो उस शुद्ध चैतन्य पर मानव-मस्तिष्क के आरोप हैं। हम उसे जान नहीं सकते इसलिए हम उपरोक्त दोनों सत्यों को स्वीकार कर लेना चाहिए।

उपरोक्त दो सत्यों—स्थिर सत्ता और चेतन शक्ति—को मान लेने पर यह प्रश्न आता है कि उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ! तन्त्रशास्त्र म जो शिव और शक्ति का अभेद स्वीकार किया गया है उसी प्रकार श्री अरविन्द स्थिर सत्ता और चेतन शक्ति को एक मानते हैं।

"शक्ति सत्ता से सयुक्त है। शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति दो नहीं

हैं जो अलग-अलग किए जा सकें। सत्ता से संपृक्त शक्ति शान्त हो सकती है या गतिवान हो सकती है। किन्तु जब वह शक्ति शान्त है तब भी वह रहती है और न मिटती है, न कम होती है तथा न ही उसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन आता है।"

(वही पृ० १२५)

अब प्रश्न यह होता है कि स्थिर सत्ता से शक्ति का उदय कैसे होता है? क्यों होता है? तो इसके उत्तर में श्री अरविन्द कहते हैं कि यह एक शाश्वत सत्य है। ब्रह्म के अनन्त उल्लास की अभिव्यक्ति शक्ति की इस सजगता और क्रीड़ा में होती है।

"अचल से गति का उदय एक सनातन सत्य है।"

(वही पृ० ११६)

"सम्पूर्ण सृष्टि या परिवर्तन इस आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।"

(वही पृ० १६६)

सृष्टि क्रम (विकासवाद)

मूल सत्यों को स्थिर कर लेने के पश्चात् अब यह देखना है कि सृष्टि का क्रम क्या है? चेतन शक्ति किस प्रकार अपने आप को अभिव्यक्त करती है? किस विकास का क्या रूप है?

भौतिक विकासवादी यह मानते हैं कि पदार्थ से चेतना उत्पन्न होती है। उनके अनुसार विकास की शक्ति सजग नहीं है, चेतन नहीं है, जड़ है। किन्तु श्री अरविन्द शक्ति को चेतन मानते हैं। कारण संसार में सर्वत्र हमें उपयोगिता और उपादेयता लक्षित होती है। प्रकृति का क्षुद्र से क्षुद्र अवयव भी कुछ उपयोगिता रखता है। यदि विकास कामी शक्ति जड़ है, तो यह उपयोगिता कैसे सम्भव हो सकती थी?

सच्चिदानन्द और चेतनशक्ति में अभेद है। जो कुछ हमें दिखाई देता है, सभी सच्चिदानन्द की आनन्द-क्रीड़ा है। संसार रूप में सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति के—सृष्टिक्रम के—दो रूप हैं। एक अवरोहण (Involution) दूसरा आरोहण (evolution)। अवरोहण की क्रिया आरोहण की क्रिया के ठीक विपरीत है। अवरोहण की दशा में सच्चिदानन्द से अतिमन का (Supermind) उदय होता है, अतिमन से मन (mind) का, मन से प्राण (life) का और प्राण से पदार्थ (matter) का। यह सभी सच्चिदानन्द की चेतन शक्ति के रूप में अभिव्यक्ति है। आरोहण की क्रिया में

पदार्थ के भीतर बद्ध यह चेतना शक्ति ही उच्छ्वसित हो उठती है, प्राण को जन्म देती है, प्राण से मन को, मन से अतिमन को और अन्तिम अवस्था में अतिमन सच्चिदानन्द में लय हो जाता है। श्री अरविन्द ने सच्चिदानन्द की सृजनात्मिका शक्ति को माया कहा है। माया के दो रूप हैं नीच माया तो संसार के भेदों को और विषमताओं को जन्म देती है। पदार्थ प्राण, और मन तक की अवस्थाएँ नीच माया के भीतर हैं। अतिमन में उच्चमाया का क्षेत्र है, जहाँ भेद बुद्धि और विषमताओं का नाश हो जाता है। सृष्टि-क्रम को—अवरोहण और आरोहण की क्रिया को हम इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—
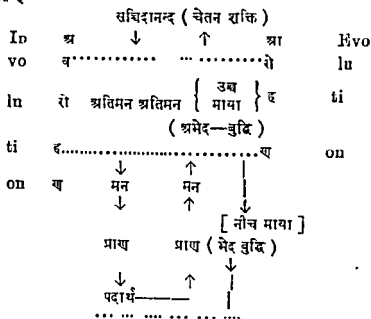
जड़ विकासवाद में विश्वास करने वालों का कहना है कि पदार्थ से चेतना उत्पन्न होती है, यह पदार्थ से महत् नहीं, उससे गौण है। किन्तु उनसे प्रश्न यह किया जाता है कि चेतना अव्यक्त रूप से पदार्थ में वर्तमान नहीं है? उसे पदार्थ में अव्यक्त रूप से वर्तमान मान लेने में दोनों को समान महत्व प्रदान करना पड़ेगा और चेतना को पदार्थ से सर्वथा भिन्न तत्व मानना पड़ेगा किन्तु यह भौतिकवादी स्वीकार नहीं कर सकता। और यदि वह यह कहे कि चेतना अव्यक्त रूप में पदार्थ में वर्तमान नहीं है तो उसे यह मानना पड़ेगा कि चेतना के अभाव से चेतना का आविर्भाव हुआ। किसी अभाव से किसी चीज का भी जन्म होना अवैज्ञानिक है। श्री अरविन्द के विकास सिद्धान्त का

मूल मन्त्र है—"जो कुछ पदार्थ में अव्यक्त रूप से विद्यमान नहीं है, वह उस से उदित नहीं हो सकता।"

पदार्थ में प्राण अव्यक्त रूप से वर्तमान है, प्राण में मन और मन में अतिमन अव्यक्त रूप से वर्तमान है।

निम्न मूल्यों से उच्च मूल्यों के आविर्भाव के मूल में वही चेतन शक्ति है। किन्तु उच्च मूल्यों के उदय होने पर निम्न मूल्यों का तिरस्कार करना मूर्खता है। मन या अतिमन के उदय पर ससार को मिथ्या या विवर्त कह देना ग़लती है। सच तो यह है कि उच्च मूल्यों को निम्न मूल्यों का अपनी उन्नति के साधन के रूप में प्रयोग करना चाहिए और आज ऐसा हो भी रहा है।

मनुष्य का स्थान ससार में महत्त्वपूर्ण है क्योंकि केवल उसे ही मन की—बौद्धिक-चेतना की प्राप्ति हुई है और फिर उसी में ही अतिमन का उदय होगा। किन्तु अभाव-पीड़ा आदि का कारण है मन का सकुचित और अविद्या ग्रस्त होना। नीच माया ही अविद्या है जिसके कारण मनुष्य अपने आपको संसार से बिल्कुल अलग एक इकाई के रूप में देखने लगता है। किन्तु अतिमन के उदय होने पर—जो उच्चमाया या विद्या का क्षेत्र है—इस भेद बुद्धि का नाश हो जाता है और मनुष्य भेद में अभेद और अभेद में भेद देखने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण मानव जाति का विकास अति चेतना की ओर हो रहा है। इस नवचेतना को ही कवि पन्त स्वर्ण-किरण और स्वर्ण धूलि कहता है और उसके समस्त परवर्ती काव्य में इसी नव-चेतना के सौंदर्य सुख और समृद्धि के गीत हैं। श्री अरविन्द ने लिखा है कि अतिमन के उदित हो जाने पर जीवन और ससार बदल जाएगा। अतिमन से विभूषित मानव को श्री अरविन्द ने द्रष्टा (Gnostic Being) कहा है। यही पन्त का नव-मानव है। ईसाई मत के आरम्भिक काल में विद्वानों का एक ऐसा दल भी उठ खड़ा हुआ था जो श्रद्धा नहीं, ज्ञान को मुक्ति का साधन मानता था और जो व्यक्ति का जन्म मूल तत्व के निरन्तर विकास का फल मानता था। इस दल के व्यक्ति को Gnostic कहा जाता था। यह द्रष्टा या नव-मानव सभी प्रकार के बन्धनों और अभावों से मुक्त होगा। किन्तु अतिमन का उदय ही विकास-क्रम का अन्त नहीं है। अभी तो सच्चिदानन्द में लीन होना है। इसका साधन है ज्ञान। मनुष्यत्व ही है ईश्वरत्व की प्राप्ति। श्री अरविन्द के शब्दों में—

"To fulfil God in life is man's manhood"

(same p 59)

उपर्युक्त विवरण स अरविंद दर्शन के मूल सिद्धांत स्पष्ट हो जाते हैं। उत्तरा म अरविंद दर्शन का पूर्णत. ग्रहण कर लिया गया है और आगे इसे दिखाने का प्रयत्न किया जाएगा। यहां एक दूसरी बात पर विचार करना अनुचित न होगा। भवानीसेन ने अरविंद दर्शन का खण्डन किया है। और क्योंकि पंत ने उसे स्वीकार किया है, इसलिए वही आक्षेप पंत के विरुद्ध भी लगाए जा सकते हैं जो भवानीसेन ने अरविंद के विरुद्ध लगाए हैं।

सबसे पहला प्रश्न जो यहां उठता है यह है कि भवानीसेन ने अरविंद का खण्डन किस उद्देश्य से किया है? स्पष्टत. इसका उत्तर यह है कि मार्क्सवाद की स्थापना के लिए। अपने तीसरे निबंध के अन्त में ऍंगल्स के विचारों की सत्यता घोषित करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि जीवन चेतना को नियमित करता है, चेतना जीवन को नियमित नहीं करती। पदार्थ का सनातन विकास ही एकमात्र सत्य है। अरविंद चेतन विकासवाद को स्वीकार करता है, इसलिए वह भ्रामक है। जब किसी व्यक्ति की बुद्धि पूर्वाग्रहों से आक्रांत होती है तो चाहे वह कितनी ही प्रतिभा-सम्पन्न क्यों न हो, उसका विवेचन निष्पक्ष नहीं हो सकता। निष्पक्षता के अभाव में सम्बद्ध विवेचन भी प्रचार के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं रखता। भवानीसेन ने यह देखने का प्रयास ही नहीं किया कि अरविंद के समस्त चिंतन के मूल में कौन सी आकांक्षाएं कार्य कर रही हैं। अरविंद के चिंतन का मूल—जैसा कि ऊपर के विवेचन स स्पष्ट होगा—मनुष्य और समाज से ही हैं। अरविंद की इस आलोचना म एक और भी विचित्र बात दिखाई देती है। आलोचक ने अरविन्द क तर्कों को दूषित प्रामाणित करने के लिए उन्हीं तर्कों का प्रयोग भी किया है। यदि अरविन्द क पक्ष म तर्क असिद्ध हैं तो भवानीसेन के पक्ष में भी तो वे तर्क असिद्ध हैं।

भवानीसेन ने जो पदार्थ, चेतना और शक्ति का खण्डन किया है, उससे यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने अरविन्द की विचार धारा का आधार नहीं समझा। अरविन्द के लिए पदार्थ और चेतन म वैसा विरोध द्वैत नहीं है जैसा भवानीसेन ने मान लिया है। कारण यह है

पदार्थ और मन दोनों ही शक्ति की दो अभिव्यक्तिय
की अरविन्द के विकास वाद के प्रकाश म ही पदार्थ
देखना चाहिए था किन्तु उन्होंने ऐसा न करके

अन्याय किया है।

एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि अरविन्द ने शक्ति को पदार्थ से अलग मान लिया है। उनके इस कथन से ही यह स्पष्ट होता है, कि वे अरविन्द का नहीं किसी अन्य दार्शनिक मत का खण्डन कर रहे हैं। और आगे वे फिर लिखते हैं कि यदि पदार्थ में प्राण और मन अव्यक्त रूप से विद्यमान है तो, हाईड्रोजन के ऐटम में भी प्राण और मन की सत्ता होनी चाहिए और उसे भी खोजने की शक्ति से सम्पन्न होना चाहिए। इतना ही नहीं आगे वे यह भी कहते हैं कि यदि प्राणियों तथा जड़ पदार्थों में कोई भेद नहीं है तो हमें ऐटमबम्ब बनाने वालों से ही क्यों ऐटम से ही शान्ति के लिए अपील करना चाहिए। कैसा हास्यास्पद तर्क है। इस मजाक का कारण यही है कि भवानी सेन ने अरविन्द दर्शन के आधार चेतन विकासवाद के स्वरूप को ही नहीं समझा। यदि कोई भवानीसेन से ही यह प्रश्न करे कि यदि पदार्थ से प्राण तथा चेतना की उत्पत्ति हुई है (जैसा कि ऐंग्ल्स मानता है) तो प्राण और चेतना से पदार्थ की उत्पत्ति क्यों नहीं हो सकती। इस प्रश्न का वे क्या उत्तर देंगे?

एक स्थान पर भवानी सेन ने कहा है कि यदि मन को पदार्थ अव्यक्त रूप से मान लिया जाय—जिस प्रकार आम की गुठली में आम का वृक्ष अव्यक्त रूप से होता है—तो यह कैसे निश्चय किया जा सकता है कि पहले पदार्थ था या पहले चेतना क्योंकि यह कोई नहीं बता सकता कि पहले आम की गुठली थी या उसका वृक्ष। किन्तु ऊपर दिए हुये विकास क्रम के चार्ट को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि अरविन्द के लिए यह प्रश्न उठता ही नहीं क्योंकि पदार्थ, प्राण मन आदि तो शक्ति के आरोहण-अवरोहण का परिणाम है। आगे चलकर भवानी सेन ने तारों के गिरने की बात कही है और वृक्षों पर बच्चों के उगने की बात कही है। यह तर्क भी निराधार है क्योंकि अरविन्द के दर्शन को भली भांति न समझने के कारण ही ऐसा तर्क दिमाग में आता है।

अरविन्द ने कम्यूनिज्म और फासिज्म को समान माना है क्योंकि दोनों में व्यक्ति की सत्ता को निरकुंशता से कुचल दिया जाता है और दोनों का शासन जड़ और यान्त्रिक होता है। अरविन्द ने यह माना है कि कम्यूनिज्म बुद्धि के ह्रास का परिचायक है। साम्यवाद के पुजारियों पर यह गहरी चोट है। ऐसा केवल अरविन्द ही नहीं वे चिन्तक भी कहते हैं जो रूस तथा चीन में वर्षों रहकर आए हैं। भूतपूर्व राजदूत सर्दार पनिक्कर ने भी चीन प्रगति को

प्रशंसा करते हुए भी यही कहा है कि वहाँ व्यक्ति को वह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है जो उसे होनी चाहिए।

अरविन्द ने शंकर के मायावाद का खण्डन किया है। किन्तु भवानी सेन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऐसा करके भी अरविन्द को मायावाद स्वीकार करना ही पड़ा। इसलिए उनकी दृष्टि में अरविन्द सांख्य और वेदान्त के बीच में खेल की चिड़िया के समान नाचता है, और यथार्थवाद (realism) से मायावाद के बीच मेंढक के समान कूदता है। अब यह देखना चाहिए कि अरविन्द के किस कथन के आधार पर उन्होंने यह बात कही है। अरविन्द ने मनुष्य की चेतना को स्थूल चेतना कहा है और संसार को ब्रह्म का अवगुण्ठन कहा है। किन्तु इस कथन के आधार पर यह कहना कि अरविन्द ने ससार को मिथ्या माना है, बिल्कुल ग़लत है। इस कथन को ठीक से समझने के लिये अरविन्द के चेतन विकासवाद का पूर्ण परिचय आवश्यक है। मनुष्य की वर्त्तमान चेतना से आगे का स्तर है ऊर्ध्व चेतना या अतिमन और संसार चेतन शक्ति की अभिव्यक्ति है। अरविन्द के उपर्युक्त कथन का यही अर्थ है। और इस अर्थ में संसार का मिथ्यात्व कहीं भी नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अरविन्द के दर्शन के विरुद्ध जो आक्षेप भवानी सेन ने लगाए हैं, उनका आधार ही ग़लत है।

अब पन्त के चिन्तन के विकास से सम्बन्धित एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है। आलोचकों ने पन्त के व्यक्तित्व के विकास में अन्तर्विरोध दिखाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार युगवाणी की विचारधारा और 'स्वर्णकिरण' तथा परवर्ती विचार धारा में विरोध है। किसी भी कलाकार की रचना में विरोध का होना दोष है। क्या पन्त में यह दोष पाया जाता है? जब 'युगवाणी' और स्वर्णकिरण दोनों ही पंत के बौद्धिक विकास की परिपक्व अवस्था की देन है। पहले तो इस बात पर विचार करना चाहिए कि अन्तर्विरोध क्यों दोष माना जाता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति की प्रतिभा शक्तिमयी तथा अन्तर्भेदिनी होगी वह किसी भी समस्या का सही समाधान ढूँढ़ लेगा। यदि आज कोई कलाकार जीवन की समस्याओं का एक हल ढूँढ़ता है और कल दूसरा तो यही कहा जायगा कि उसमें इतनी बौद्धिक सक्षमता नहीं है कि वह किसी भी समस्या का सही हल ढूँढ़ सके। यदि कल का हल उसे आज असिद्ध प्रतीत होता है तो हो सकता है कि आज का हल उसे [illegible] अ[illegible] [illegible]ीत हो [illegible]ौर वह [illegible]

करे। उसके व्यक्तित्व की यह दुर्बलता उसे विश्वसनीय नहीं बनने देगी। किन्तु एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। यदि दृष्टिकोण के इस परिवर्तन के मूल में कोई समर्थ कारण है तो आलोचक को उस पर सहानुभूति पूर्वक विचार करना होगा। अब देखना यह है कि क्या पन्त में विरोध का दोष है भी या नहीं।

उत्तरा की भूमिका में स्वयं पन्त ने इस बात को उठाया है। उसने लिखा है—

"मेरी इधर की रचनाओं का मुख्य ध्येय केवल उस युग-चेतना को, अपने यत्किंचित प्रयत्नों द्वारा, वाणी देने का रहा है जो हमारे सक्रांतिकाल की देन है और जिसने एक युगजीवी की तरह, मुझे भी अपने क्षेत्र में प्रभावित किया है। इस प्रकार के प्रयत्न मेरी कृतियों में 'ज्योत्स्ना' काल से प्रारम्भ हो गए थे; ज्योत्स्ना की स्वप्न कांत चांदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्णकिरण' में युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णिम हो गई है।

'वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आँगन पर,
तापसी विश्व की बाला, पाने नव जीवन का वर।

चाँदनी को सम्बोधित 'ज्योत्स्ना', 'गु जन' काल की इन पंक्तियों में पाठकों को मेरे उपर्युक्त कथन की प्रतिध्वनि मिलेगी। मुझे विश्वास है कि 'ज्योत्स्ना' के बाद की मेरी रचनाओं को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर पाठक स्वयं भी इसी परिणाम पर पहुँचेंगे। बाहरी दृष्टि से उन्हें 'युगवाणी' तथा 'स्वर्ण किरण' काल की रचनाओं में शायद परस्पर विरोधी विचार-धाराओं का समावेश मिले, पर वास्तव में ऐसा नहीं है।" पृ० १

यहाँ कवि ने स्वयं इस बात की स्पष्ट घोषणा की है कि 'ज्योत्स्ना' के पश्चात् उसका प्रधान उद्देश्य रहा है नवीन चेतना के स्वरूप का स्पष्टीकरण। समाज का इतिहास हमें यह बताता है कि जब जब "जीवनोपाय के साधन बदले", तो नवीन युगों का आगमन होता आया है। आज के युग में उत्पादन का साधन यन्त्र है। नवीन युग का आना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है। सारा विश्व आज के आतंकपूर्ण वातावरण से विरक्त हो उठा है। वह नवीन, शांत और सरस संसार की कल्पना कर रहा है। संसार के सारे देश इस दिशा में अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर प्रयत्नशील हैं। आज का युग सक्रांतिकाल का है। पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त हो रहा है और नवीन युग का आगमन हो रहा है। आज के युग में दोनों प्रकार की शक्तियाँ लक्षित होती हैं। विकास गामी रुचि के व्यक्ति नवीन समाज के निर्माण का प्रयत्न कर रहे हैं। उधर

पूँजीवादी प्रथाओं के समर्थक अपने प्राचीन रीति-रिवाजों को दृढ़ बनाने में प्रयत्नशील हैं। फलस्वरूप आज का वातावरण क्षोभ और संघर्ष से भरा हुआ है। विरोधी शक्तियों के इस संघर्ष में विकास कामी शक्तियों की विजय अवश्यम्भावी है। रूढ़ि ग्रस्त शक्तियों में अब सार नहीं है, वे खोखली हो चुकी हैं। जिस प्रकार सारा संसार नवीन युग के सपने देख रहा है जिसमें मनुष्य प्रेम से रह सकेगा और वर्ग धर्म के विरोध शान्त हो जायँगे। उसी प्रकार पन्त ने भी नवीन युग के सपने देखे हैं। 'ज्योत्स्ना' में पन्त ने एक ऐसे संसार की कल्पना की है जिसमें मानव समाजकी सभी विषमताएँ विलीन हो चुकी हैं और जीवन प्रतिबन्धों से मुक्त हो उठा है। 'ज्योत्स्ना' के पश्चात् की कविता में भी यही बात स्पष्ट है। पन्त ने स्वयं इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

"'ज्योत्स्ना' में मैंने जीवन की जिन बहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपांतरित होने की ओर इङ्गित किया है 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है; किंतु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान रूप से वर्त्तमान हैं और दोनों कालों की रचनाओं से, इस प्रकार के अनेकों उद्धरण दिए जा सकते हैं। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है तो 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं। किन्तु किसी लेखक की कृतियों में विचार साम्य के बदले उसके मानसिक विकास की दिशा को ही अधिक महत्व देना चाहिए, क्योंकि लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न-भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शों तथा संवेदनों से किस प्रकार आंदोलित होता है, उन्हें किस रूप में ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में अधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए।" वही–पृ० २

अन्तिम पंक्ति में कवि ने विकास के सत्य को स्वीकार किया है। कलाकार युग-सचेष्ट होता है और अपने युग की बदलती धाराओं और नवीन चिंतनों से प्रभावित होता भी है तथा उन्हें प्रभावित करता भी है। विकास के इस सत्य की स्वीकृति का यह अभिप्राय कतई नहीं लेना चाहिए कि पंत अपने अन्तर्विरोध को स्वीकार करता है। कवि के मूल विश्वासों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और अभी हम देखेंगे कि युगवाणी और उत्तरा के दर्शन में

कोई विरोध नहीं है। युगवाणी के भीतर अवश्य अन्तर्विरोध की छाया देखी जा सकती है जिसका कारण कवि के चिंतन का असंतुलन है।

उपर्युक्त उद्धरण में कवि ने अन्तर्मुखी, बहिर्मुखी तथा ऊर्ध्वतल और समतल आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इनका अर्थ समझ लेना चाहिए। अन्तर्मुखी से अभिप्राय है अध्यात्म चेतना जिसके प्रसरण का क्षेत्र मन, बुद्धि, आत्मा और परमात्मा है। मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, तत्व दर्शन, धर्म आदि में अन्तर्मुखी चेतना का प्रतिफलन होता है। यही मानव जीवन का ऊर्ध्वतल भी है। बहिर्मुखी चेतना का सबंध मनुष्य की भौतिक, आर्थिक आवश्यकताओं से है। भूत-विज्ञान, रसायन-विज्ञान आदि में बहिर्मुखी चेतना का प्रतिफलन होता है। यही जीवन का समतल भी है। जीवन के समतल रूप में मनुष्य की वे आवश्यकताएँ आती हैं जो जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं किंतु जीवन का ऊर्ध्वतल मनुष्य को सामान्य जीवन से ऊपर उठाकर जीवन के गूढ़ रहस्यों को प्रकाशित करने की प्रेरणा देता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि पन्त जीवन की बहिंतर क्रान्ति का पक्षपाती है। जीवन की भौतिक आर्थिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन की आवश्यकता है और उसके सांस्कृतिक आन्तरिक जीवन में भी क्रान्ति की अपेक्षा है। वर्त्तमानकालीन समाज में न तो उसका बाह्य जीवन सरस है और न ही उसका मानसिक जीवन कमनीय। मनुष्य को नवीन आदर्शों की आवश्यकता है। नवीन युग में मनुष्य का बाह्य जीवन भी रस पूर्ण होगा और आन्तरिक जीवन भी सुखमय होगा। सक्रांति काल ही नवीन युग को जन्म देगा। नवीन संस्कृति के कवि को जीवन के दोनों तलों को स्पर्श करना होगा—समतल को भी और ऊर्ध्वतल को भी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में कवि का ध्यान जीवन की बाह्य क्रान्ति की ओर ही अधिक रहा। इसका विस्तृत उद्घाटन करना प्रस्तुत पुस्तक की सीमा के बाहर है। जीवन की बाह्य क्रान्ति, समाज की सम्पूर्ण क्रान्ति का एक रूप है। अब प्रश्न यह होता है कि पंत ने जीवन की बाह्य क्रांति को किस रूप में देखा तथा प्रदर्शित किया है? समाज के बाह्य रूप की समीक्षा की ओर मार्क्स प्रवृत्त हुआ। उसने समाज के इतिहास के द्वारा जीवन की बाह्य चेतना के विकास और परिवर्तन की रूप रेखा प्रस्तुत की है। फलस्वरूप 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में कवि का चिंतन मार्क्सवाद से विशेष रूप से प्रभावित लक्षित होता है। किन्तु क्या युगवाणी में पंत ने जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को—ऊर्ध्वतल को—अस्वीकार किया है? यदि वह

ऐसा करता तो अवश्य कहा जा सकता था कि स्वर्णकिरण में आकर उसने एक बिल्कुल नई दृष्टि अपनाई है। युगवाणी में भी उसने जीवन के ऊर्ध्वतल की ओर पूरा पूरा ध्यान दिया है। स्थान स्थान पर उसने कहा है कि केवल बाह्य क्रान्ति ही अभीप्सित नहीं है। इसके लिए हृदय की क्रान्ति की भी आवश्यकता है। मानसिक जगत के विकास और जागरण के अभाव में बाह्य साम्य एक बन्धन ही सिद्ध होगा। उत्तरा की भूमिका में स्थान स्थान पर उसने अपने इस विश्वास की घोषणा भी की है—

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए, संसार में एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव चेतना के राजनीतिक-आर्थिक मानसिक तथा आध्यात्मिक—संपूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा; भविष्य में मनुष्य के आध्यात्मिक (इस युग की दृष्टि से बौद्धिक, नैतिक) तथा राजनीतिक संचरण— प्रचलित शब्दों में धर्म, अर्थ, काम अधिक समन्वित हो जायगे और उनके बीच का व्यवधान मिट जायगा—अथवा राजनीतिक आन्दोलन सांस्कृतिक आंदोलन में बदल जायगे, जिसका पूर्वाभास हमें, इस युग की सीमाओं के भीतर, महात्मा जी के व्यक्तित्व में मिलता है।" पृ० ३

मानव-चेतना का राजनीतिक आर्थिक धरातल जीवन का समतल है और उसका मानसिक तथा आध्यात्मिक धरातल जीवन का ऊर्ध्वतल है। पंत ने इन दोनों के समन्वय की बात की है। युगवाणी में कवि की दृष्टि जीवन के समतल धरातल की क्रान्ति की ओर अधिक रहा। किन्तु उसने जीवन के ऊर्ध्वतल पर भी पूरा-पूरा बल दिया। यह सत्य है कि युगवाणी में जीवन के ऊर्ध्वतल की अपेक्षा जीवन के समतल का रूप अधिक सशक्त और निखरा हुआ है। इसीलिए पंत ने यह कहा है कि 'युगवाणी' 'ग्राम्या' में जीवन के ऊर्ध्वमानों का समधरातल पर समन्वय हुआ है। 'चींटी' कविता में कवि जीवन की बाह्य क्रान्ति की बात कहता है किंतु साथ ही यह भी घोषणा करता है—

"मानव को आदर्श चाहिए।
संस्कृति, आत्मोत्कर्ष चाहिए;
बाह्य विधान उसे है बन्धन
यदि न साम्य उसमें अन्तराम—"

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित उद्धरणों से भी उपर्युक्त समन्वय के रूप को देखा जा सकता है। 'युगवाणी' में कहीं पंत ने कहा है—

"बापू तुम से सुन आत्मा का तेज राशि आह्वान,
हंस उठते है रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण।"

अथवा

"अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निस्पृह निष्प्राण,
उसे प्रतिष्ठित करने जग में दिया साम्य ने वस्तु विधान।"
"आओ हे दुर्धर्ष वर्ष ! लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन।"

—१६४० ग्राम्या

यह तो हुआ ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय, स्वर्णकिरण, उत्तरा आदि में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर समन्वय किया है। यहाँ जीवन के ऊर्ध्वतल के उत्कर्ष का प्राधान्य है। वह ऐसी मनुष्यता का स्वप्न देखता है जिसमें सांस्कृतिक उत्कर्ष के साथ-साथ विज्ञान की भी पूर्ण उन्नति होगी। उत्तरा में स्थान-स्थान पर इस समन्वय की अभिव्यक्ति हुई है। 'युग संघर्ष' कविता की ये पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप ली जा सकती है जिसमें कवि ने नवीन मानवता का स्वरूप चित्रित किया है—

"रक्त पूत अब धारा-घात संघर्षण,
धनिक श्रमिक भूतः तर्कवाद निश्चेतन।
सौम्य शिष्ट मानवता अन्तर्लोचन,
सृजन-मौन करती धरती पर विचरण।
उज्वल मस्तक पर मुक्ता-से श्रमकण,
शाँत धीर मन से करती वह चिन्तन।
भूजीवन निर्माण निरत, नव चेतन,
साधारण रे वास वसन, मित भोजन!
विद्युत अणु उसके सन्मुख अब नतफन,
वसुधा पर नव स्वर्ग सृजन के साधन!
आज चेतना का गत वृत्त समापन,
नूतन का अभिवादन करता युगमन!"

पन्त द्वारा प्रयुक्त समतल और ऊर्ध्वतल के समन्वय की महत्ता तभी प्रकट होगी जब इसे वैज्ञानिक रूप में समझा जायगा। आत्मवाद में जीवन के

ऊर्ध्वतल पर बल दिया जाता है और वस्तुवाद में जीवन के समतल पर। "आत्मवाद और वस्तुवाद विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। अध्यात्मवादी आदर्शवादी होता है, व्यक्ति पर विश्वास करता है और अन्तर्जगत पर अधिक बल देता है। वस्तुवादी यथार्थवादी होता है, समाज पर विश्वास रखता है और बहिर्जगत पर अधिक बल देता है। पन्त ने आदर्श और यथार्थ का, व्यक्ति और समाज का, अन्तर्जगत और बहिर्जगत का भी सामंजस्य किया है। अध्यात्मवादी की साधना ज्ञान के रूप में प्रकट होती है, वह मानव जीवन का ऊर्ध्वतल और पूर्व की निजी सम्पत्ति है। वस्तुवादी की साधना विज्ञान के रूप में प्रकट होती है, वह मानव जीवन का समतल है, और पश्चिम की निजी सपत्ति है। पन्त ने ज्ञान और विज्ञान का, ऊर्ध्वतल और समतल का, पूर्व और पश्चिम का समन्वय करने का उपक्रम किया है। पन्त की विशद् सामंजस्य भावना तुलसी से अधिक विराट है। पूर्व और पश्चिम का समन्वय आज के विज्ञान के युग में ही सभव है। तुलसी के युग में तो उसका स्वप्न भी नहीं था।"

(सुमित्रानन्दन पन्त पृ० ८६)

जो लोग पन्त में अन्तर्विरोध दिखाते हैं वे पत के इस कथन से कभी भी सहमत नहीं होंगे कि उसने युगवाणी में ऊर्ध्वमानों का सम धरातल पर समन्वय किया है और स्वर्ण-किरण में सममानों का ऊर्ध्व धरातल पर। उनकी दृष्टि में पन्त म कहीं भी इस प्रकार का समन्वय नहीं मिलता। वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि युगवाणी में ऊर्ध्वमानों (आत्मिक-मानसिकमानों) का पूर्ण अभाव है तथा स्वर्ण किरण मे सममानो (आर्थिक राजनैतिक मानों) की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पत में ऊर्ध्व तथा सममानो के समन्वय के रूप के साथ उसका तथाकथित अन्तर्विरोध का दोष घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। यदि समन्वय स्वीकार किया जाय तो दोष का अभाव मानना पड़ेगा और यदि यह दोष हठपूर्वक दिखाना ही हो, तो समन्वय को अस्वीकार करना होगा। पत में अन्तर्विरोध से अभिप्राय होगा उसके ग्राम्या तक के विश्वासों और अरविन्द के सिद्धांतो में विरोध। अन्तर्विरोध की समस्या को इस रूप में प्रस्तुत करने पर ऊर्ध्व तथा सममानों के उपयुक्त द्विविध समन्वय की बात भी स्पष्ट हो जायगी और अन्तर्विरोध की समस्या भी हल हो जायगी। जो लोग यह कहते हैं कि उत्तरा में आकर पत पूर्णतः अरविन्द वादी हो गया है, इस कथन की भी परीक्षा होगी। अब यह देखेंगे कि पत के पूर्व विश्वासो (ग्राम्या तक) और नवीन जीवन दर्शन या

चेतन विकासवाद में अन्तर है। किंतु एक बात स्पष्ट है। और वह यह कि पंत विकासवाद में विश्वास रखता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की अपेक्षा चेतन विकासवाद पंत के पूर्व विश्वासों के अधिक अनुकूल और निकट है। इसीलिए पंत ने यह कहा है कि डिवाईन लाईफ से उनकी अनेक शंकाओं का निवारण हुआ।

अरविन्द ने अपने विकास-सिद्धांत के भीतर यह सिद्ध किया है कि वर्त्तमान की चेतना जीवन और जगत को विच्छिन्न करके देखती है जिसके फलस्वरूप विरोधी मतों का उदय होता है। किंतु चेतना के विकास में एक अवस्था वह भी आएगी जब मनुष्य की वर्त्तमान चेतना का उन्नयन होगा और उसमें ऊर्ध्वचेतना का प्रसार होगा। यह चेतना जीवन और जगत् को संपृक्त समग्र रूप में देखेगी और एक समरस नवीन मानव संस्कृति का अविर्भाव होगा। पंत के पूर्व विश्वासों में भी नवीन संस्कृति का मोह प्रकट हुआ है। बहुत पहले ही उसने "ज्योतिर्मय जीवन को जग के उर्वर आंगन" में बरसने के लिए कहा था। उस नवीन जीवन में ज्ञान और विज्ञान का समन्वय होगा। यह बात अरविंद ने भी कही है और पंत ने भी। पंत ने १६४० को विनाश के साथ सृजन लाने के लिए भी कहा और 'विंश शताब्दी के महान ज्ञान और विज्ञान को भी लाने के लिए कहा। इस दृष्टि से भी अरविंद और पंत दोनों ही नवीन संस्कृति के दूत के रूप में सामने आते है। पंत 'ज्योत्स्ना' में ही अपनी नवीन संस्कृति के रूप को अभिव्यक्ति दे चुका था। अरविंद ने उसका तार्किक आधार भी स्पष्ट किया।

अरविन्द ने तर्क की एक सीमा मानी है जिसके आगे वह अनुपयोगी हो जाता है। तर्क मनुष्य के लिए उपयोगी अवश्य है, किन्तु जीवन के सभी मानों और मूल्यों को एक तर्क की कसौटी पर ही नहीं कसा जा सकता। अरविन्द ने तर्क का एक उत्कृष्ट रूप स्वीकार किया है जो नवीन मानव का एक सशक्त अस्त्र होगा। पन्त के पूर्व विश्वासों मे यद्यपि यह बात स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं हुई किन्तु फिर भी उसने अपने सिद्धान्तों के निर्णय में सभी तर्कवादों की सीमाएँ दिखलाई हैं और उनके शुभ पक्षों को ग्रहण किया। अरविन्द शिव और शक्ति पर विश्वास रखता है और सच्चिदानन्द को स्वीकार करता है। 'प्रार्थना' आदि आरम्भिक गीतों में कवि भगवान से प्रार्थना करता लक्षित होता है।

आधुनिक युग के चिन्तकों के लिए एक अन्य जटिल समस्या है समाज तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध की। क्या समाज व्यक्ति का निर्माण

करता है ? क्या व्यक्ति समाज का निर्माण करता है ?—इस प्रकार के प्रश्न प्रायः उठाए जाते हैं। मार्क्स यह विश्वास करता था कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण समाज ही करता है और मानव जाति के विकास में समाज की रूप-रेखा तथा विधि-विधान का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता लक्षित होता है। किन्तु आदर्शवादियों का यह विश्वास है कि व्यक्ति का चिन्तन और उसकी मानसिक शक्तियाँ समाज को रूप प्रदान करती हैं। क्या कहीं इन दोनों विश्वासों मे सामरस्य स्थापित हो सकता है ? अरविन्द ने व्यक्ति और समाज के इस विरोध की समस्या पर विचार किया है। उन्होंने The Synthesis of Yoga में लिखा है कि किन्हीं विरोधी दृष्टिकोणों का समझौता कर देना समस्या का सही हल नहीं है। इस प्रकार के समझौते के प्रयत्नों द्वारा तो कठिनाई पर पर्दा पड़ जाता है और अन्त में समस्या और भी जटिल हो जाती है। इसलिए हमें एक ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिए जो इन दोनों के विरोध को उखाड़ फेंकने वाला हो। हमें स्वार्थ भावना के पोषण करने वाले व्यक्तिवाद और केवल समाज के कल्याण को लेकर चलने वाले साम्यवाद, दोनों से ही अधिक उदात्त आदर्श को स्वीकार करना चाहिए जो आवश्यकता और इच्छा की पूर्ति नहीं करता वरन् उन्हें नियंत्रित कर एक ऐसी वाञ्छित व्यवस्था को जन्म देता है जो पाशविक और भौतिक नहीं वरन् मानसिक है तथा जो मनुष्य की बौद्धिक एवं आत्मिक शक्ति को विकसित करने में समर्थ है। पन्त के पूर्व विश्वासों को ध्यान पूर्वक देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो उसने समाज की महत्ता के समक्ष व्यक्ति को अस्वीकार किया है और न ही उन्होंने व्यक्ति की महिमा के जाल में उलझकर समाज की ओर से आँखें बंद की हैं। केवल बाह्य सामाजिक साम्य से ही कुछ न होगा, वरन् मनुष्यों में हृदय का सौन्दर्य होना चाहिए। जब कवि मानसिक उत्कर्ष को स्वीकार करता है, वह स्पष्टतः व्यक्ति की सत्ता को भी स्वीकर कर लेता है। किन्तु युगवाणी आदि में पन्त के सामने व्यक्ति तथा समाज के विरोध की समस्या का कोई निर्दिष्ट हल नहीं था। यह उसे अरविन्द में ही प्राप्त हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त के पूर्व विश्वासों और अरविंद के दर्शन में पर्याप्त समानता है। पन्त द्वारा अरविन्द दर्शन की स्वीकृति उसके चिन्तन के विकास की एक सहज स्वाभाविक घटना है। इस स्वीकृति में पन्त को अपने प्राचीन विश्वासों को त्यागना नहीं पड़ा। हाँ उनमें थोड़ा-बहुत विकास अवश्य करना पड़ा—जैसे विकासवाद के सिद्धान्त में। इसके साथ ही साथ अरविन्द के दर्शन में ही पन्त को अपने विश्वासों का

तार्किक आधार प्राप्त हुआ। जब हम किसी चिन्तन या सिद्धान्त द्वारा किसी दूसरे चिन्तक या कलाकार के प्रभावित होने की बात कहते हैं, तो इसमें प्रायः यह स्वतः सिद्ध सा ही है कि दोनों की चिन्ताओं आकांक्षाओं में अवश्य समानता होती है। किन्तु अधिक गम्भीर चिन्तकों से प्रभावित होने पर, प्रभाव-ग्रहण करने वाले व्यक्ति के विश्वासों में अधिक सन्तुलन एवं परिष्कार आता है। किन्तु, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इस व्यक्ति के चिन्तन में अन्तर्विरोध पाया जाता है। हाँ यह बात अवश्य मान्य है कि जब कोई चिन्तन किसी विरोधी चिन्तक द्वारा प्रभावित होता है, तो उसमें जो परिवर्तन होता है, वह अवश्य उसके चिन्तन के विकास में अन्तर्विरोध कहलाएगा। और फिर यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि अन्तर्विरोध का होना एक बात है, और उसका दोष होना दूसरी बात। विकासशील या निर्माणशील व्यक्तित्व में विरोधी दर्शन की स्वीकृति दोष नहीं होगी। किन्तु जिस व्यक्ति के चिंतन का रूप स्थिर सा हो चुका है, उसमें किसी विरोधी विश्वास का प्रवेश अवश्य दोष कहलाएगा। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि पन्त के चिन्तन के विकास में प्रधानतः समरसता पाई जाती है और उसने युगवाणी आदि में जिस समन्वय का प्रयत्न किया था, वही प्रयत्न उसने स्वर्णकिरण उत्तरा आदि में किया। अन्तर केवल दृष्टि का है। युगवाणी में उसने ऊर्ध्व मानों का जीवन के समतल पर रखकर मूल्यांकन किया है और उत्तरा आदि में उसने जीवन के सम मानों का ऊर्ध्वतल पर मूल्यांकन किया है।

अब एक प्रश्न सामने आता है कि पन्त ने भारत के प्राचीन ज्ञान के गौरवान्वित क्षेत्र को अपने जीवन-दर्शन का आधार क्यों नहीं बनाया? उसने अरविंद को ही क्यों स्वीकार किया? यदि हम कहें कि अरविन्द में जड़ और चेतन का समन्वय किया है, तो यह बात रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में भी पाई जाती है? इस प्रश्न के विवेचन के द्वारा पन्त के दृष्टिकोण को समझने में विशेष सहायता होगी।

इस प्रश्न का प्रथम उत्तर तो यह है कि प्राचीन कालीन भारत और आज के युग में बहुत भेद है। विज्ञान के आविष्कारों ने आज के जगत को एक कुटुम्ब के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी आज के [illegible]ार ने विशेष प्रगति की है। आज के चिंतक के सामने किसी एक राज्य [illegible]श का नहीं, सारे संसार का प्रश्न है। इसलिए आज के युग में प्राचीन [illegible]ध्यात्म दर्शन पूर्ण रूप से उपयोगी नहीं हो सकता। आज एक ऐसे दर्शन

की आवश्यकता है जो मनुष्य के समग्र जीवन को उन्नत तथा परिष्कृत करने में समर्थ हो। आज के युग में विकासवाद को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है। यह विकास चाहे बन्दर जैसे पशुओं से आदिम मनुष्य का विकास न हो, मानव जाति के इतिहास के भीतर का विकास तो है ही। अरविन्द के दर्शन में आज के युग की इन सभी आकांक्षाओं को यथोचित स्थान मिला है यह हम ऊपर देख आए हैं। 'युगवाणी' की भूमिका में पन्त ने स्वयं लिखा है—

"मध्ययुग आत्म-दर्शन या आत्मवाद का सक्रिय सगठित एवं सामूहिक प्रयोग नहीं कर सका। तब भौतिक विज्ञान इतना समुन्नत नहीं था; वाष्प, विद्युत, रश्मि आदि मानव-जीवन के वाहन नहीं बन सके थे। जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ एक सीमा तक विकसित होने के बाद निष्क्रिय और जड़ हो गई थीं। मध्य युगीन विचारकों, सतों एवं साधुओं के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे विश्व सचरण के प्रति निरीह होकर (मायावाद, मिथ्यावाद आदि जिसके दुष्परिणाम हैं) व्यक्ति से सीधे परात्पर की ओर चले जाएँ। उनके नैतिक उन्नयन के प्रयत्न भागीरथ प्रयत्न कहे जा सकते हैं पर वे राम-प्रयत्न या कृष्ण प्रयत्न (जिन्हें राम कृष्ण अवतरण कहना उचित होगा) नहीं थे, जिनके द्वारा विश्व सचरण में भी प्रकारांतर या युगांतर उपस्थित हो सकता और जिनकी विकसित चेतना विश्व जीवन के रूप में सगठित एव प्रतिष्ठित हो सकती। वर्तमान युग, नैतिक उन्नयन से अधिक, इसी प्रकार के बहिरन्तर रूपान्तर की प्रतीक्षा करता है।"

गद्य-पथ—पृ० ८२

वर्तमानयुग के इस नवीन रूप के प्रभाव के फलस्वरूप ही युगवाणी में एक विशेष प्रकार की विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई जो न तो भारत के प्राचीन वैभव की उपेक्षा करती थी और न ही विज्ञान प्रधान वर्तमान युग की आकांक्षाओं का तिरस्कार करती थी। पन्त ने स्वयं ही अपनी युगवाणी की विचारधारा को स्पष्ट किया है जिसे अरविन्द दर्शन (जिससे कवि का परिचय बाद को हुआ) से मिलाकर पढ़ने से कवि के चिंतन के विकास, समन्वय, अन्तर्विरोध आदि से सम्बन्धित समस्याएँ स्पष्ट हो जायँगी।

"युगवाणी में प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, जो मेरी अन्य प्राकृतिक रचनाओं की तुलना में अपनी विशेषताएँ रखती हैं—मुख्यतः पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं—

(१) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना

का पथ-प्रशस्त बन सके।

(२) समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एव नवीन सस्कृति के उपकरणों का सग्रह।

(३) पिछले युग के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढि-रीतियों की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास में बाधक बन रही हैं।

(४) मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणि शास्त्रीय मनोदर्शन का युग पर प्रभाव : जन समाज का पुनः सगठन एव दलित लोक समुदाय का जीर्णोद्वार।

(५) बहिर्जीवन के साथ अन्तर्जीवन के सगठन की आवश्यकताः राग भावना का विकास तथा नारी जागरण।"

गद्य-पथ पृ० ८०

उपर्युक्त उद्धरणों में ही हमें पन्त और प्राचीन भारत के दार्शनिकों के भेद के कारण तथा उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। पन्त को एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता थी जिसमें उपर्युक्त विशेषताओं की तार्किक आधार पर पुष्टि हो। अरविन्द के दर्शन में उसे यह आवश्यकता पूरी होती दिखाई दी। पत ने उसे स्वीकार कर लिया।

पत की दृष्टि व्यक्ति के उद्धार की ओर गई और समाज के उद्धार की ओर भी। कवि के लिए सामाजिक उत्कर्ष ही प्रधान साध्य है। किंतु भारत के प्राचीन दार्शनिक व्यक्ति से सीधे परमात्मा की ओर चले गये। पत को समाज की यह उपेक्षा कभी भी साध्य न थी। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह व्यक्ति की सत्ता पर विश्वास नहीं करता। उसने अति सामाजिकता की भर्त्सना भी की है। जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए पत ने लिखा है—

"जिस प्रकार आज का युग आदर्शों से विमुख है उसी प्रकार वह व्यक्ति के प्रति विरक्त है। वह केवल समाज और सामूहिकता का अनुयायी है। वह व्यक्ति को समाज की भारी भरकम निष्प्राण मशीन का कल पुरजा बना देना चाहता है। अन्तर्जीवी व्यक्ति की जो महान सामाजिकता रूपी बाह्य देन है वह मनुष्य की आत्मा को उसके आधीन रखकर चलाना चाहता है। यह ऐसा ही हुआ जैसे कोई मूल जल स्रोत की धारा को बन्द कर उसे उसी के प्रवाह से एकत्रित हुए तालाब के पानी में डुबा देना चाहे। ऐसी अनेक प्रकार की असगतियाँ आज के युग में मेरे समान अतर्मुखी प्राणी को अधिकाधिक चिंतनशील बनाती जाती है, जिसे मैं युग ऋण समझ कर चुकाने

का प्रयत्न करता हूँ।"

व्यक्ति और समाज की इस पहेली को पंत ने नवीन जीवन दर्शन को प्राप्त करने पर ही नहीं उठाया। आधुनिक कवि की भूमिका में भी उसने कहा था—

"मनुष्य की दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच जितना विशद सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा उसी के अनुरूप, जन समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमायें एक दूसरे में लीन हो जायेंगी, उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जायेगा, व्यक्ति के क्षुद्र देह ज्ञान की (अध्यात्मिक) भावना विकसित हो जायेगी उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वतः कार्य करने लगेगा और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जायेगा।" पृ० २३

तुलसी के 'रामचरित मानस' का दर्शन—अद्वैत या विशिष्टाद्वैत—व्यक्तिवादी है; फिर भी उसने राम राज्य की कल्पना की जिसे आज के युग में ही महात्मा गाँधी ने दुहराया। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि तुलसी के रामराज्य में और पंत के नवीन युग में क्या भेद है? इस प्रश्न के विशद उद्घाटन का यहाँ अवसर नहीं है। हाँ संक्षेप में यह समझ लेना चाहिए कि तुलसी का रामराज्य अपने युग की सीमाओं के भीतर आदर्श था किन्तु आज के युग में उसकी कठोर वर्ण व्यवस्था आदि के लिए स्थान नहीं है। इसी प्रकार कबीर, सूर, जायसी आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों से भी पंत के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना की जा सकती है और उपयोगी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

यह तो रही हिन्दी की प्राचीन कवियों की बात। आधुनिक युग में प्रसाद, निराला, महादेवी आदि की दार्शनिक मान्यताओं से पंत के विचारों की तुलना की जा सकती है। महादेवी का दर्शन पूर्णतः बौद्ध-दर्शन की गोदी म उदित विकसित हुआ है। निराला मे नवीन विचार मिलते हैं किन्तु दार्शनिक चिंतन प्राचीन विचारधारा से ग्रस्त है। प्रसाद म भी प्राचीन दर्शन की ही प्रधानता है। यहाँ संक्षेप में पंत और प्रसाद के दृष्टिकोण के भेद को प्रकट कर पंत में अरविंद दर्शन की स्वीकृति को समझने का प्रयास किया जाएगा। पंत ने 'यदि मैं कामायनी लिखता' में स्वयं ही अपने और प्रसाद के दृष्टिकोण के भेद को स्पष्ट किया है। प्रसाद ने मनु के जीवन को समर्प-

दार्शनिकों की अपेक्षा अरविन्द की ओर अधिक आकृष्ट हुआ।

अरविन्द का दर्शन प्रवृत्ति मार्ग की प्रतिष्ठा करता है उधर गीता भी निष्काम कर्मयोग का उपदेश देती है जो मनुष्य को जीवन का तिरस्कार नहीं उसमें रहकर उससे ऊपर उठने का सदेश देती है। गीता के कर्मयोग और अरविंद के दर्शन में जो प्रधान अतर है वह यह है कि गीता व्यक्ति पर अधिक बल देती है। वह ऐसे युग पर विश्वास करके और उसे ही आधार बना कर नहीं चलती जिसमें समाज के सभी सदस्य कर्म योगी हो जायँगे। गीता की निर्दिष्ट साधना व्यक्तिगत है। साधना के द्वारा कर्मयोगी जिस आनन्द की अवस्था पर पहुचता है वह सारे समाज के उपभोग की चीज नहीं हो सकती। किंतु अरविंद दर्शन में वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर एक ऐसे युग का स्वप्न देखा गया है जिसके सभी मनुष्य समान मानसिक उत्कर्ष से विभूषित होंगे। यही गीता और अरविंद दर्शन का भेद है। इतना होते हुए भी गीता के निष्काम कर्मयोग को अस्वीकार नहीं किया गया वरन इसे नवीन युग की एक विशेषता मान लिया गया है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। क्या ऐसे युग का आगमन सम्भव है जिसमें सभी मनुष्यों का मानसिक स्तर समान होगा? जिसमें सभी ऊर्ध्व चेतना और नवीन सस्कृति से विभूषित होंगे? प्राचीन इतिहास तो यही बताता है कि पहले कभी भी ऐसी अवस्था की कल्पना नहीं की गई और न ही किसी प्राचीन युग में इसका स्वरूप लक्षित होता है। आत्मा की साधना व्यक्तिगत ही रही। यद्यपि यह सत्य है कि उसे समाजगत बनाने के भी प्रयत्न हुए किंतु उसमें व्यक्ति की साधना का ही साम्राज्य रहा। एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल में मानसिक समानता के अभाव के साथ भौतिक समानता का भी अभाव था। वर्त्तमान युग में जब मार्क्स ने भौतिक समानता की आवाज उठाई और मार्क्सवाद की प्रतिष्ठा की तो स्वाभाविक ही था कि सास्कृतिक समन्वय की ओर भी चिन्तकों का ध्यान जाता। जब जीवन की बाह्य अवस्था-व्यवस्थाओं में समानता हो सकती है तो जीवन के अतिरिक्त पक्ष में एकता क्यों नहीं हो सकती? मार्क्स ने इस आतरिक एकता की उपेक्षा की और उसे बाह्य एकता के द्वारा नियत्रित किया। अरविद ने हृदय और बुद्धि की एकता पर बल दिया। ऊपर यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि अरविंद के प्रभाव में आने से पहले ही पत अन्तरतम साम्य के महत्व को प्रतिष्ठित कर चुका था। अत. यह सम्भव प्रतीत होता है कि समाज में सस्कृति की एकता हो किंतु यह एकता स्तर की एकता है, जीवन की अभिव्यक्त की

एकता नहीं है। सभी मनुष्यों का मानसिक स्तर समान होगा, उनकी प्रतिभा एकसी होगी किंतु यह आवश्यक नहीं है कि उनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति भी एक ही बधी दिशा में होगी।

२०—साहित्य का उद्देश्य और प्रेमचन्द

(श्री राम वाशिष्ठ, एम० ए०)

अभी तक जो साहित्य की परिभाषायें दी जा रही थीं वह अपने में पूर्ण नहीं थी, सब एकांगी थीं। किसी में साहित्य का उद्देश्य यश की प्राप्ति, अर्थ की प्राप्ति, स्त्री के सुन्दर उपदेश का लाभ आदि अनेक प्राप्तियाँ थीं तो किसी में साहित्य के सृजन का उद्देश्य मनोरंजन मात्र था। 'कला, कला के लिये' की व्याख्या हमारे साहित्य में शताब्दियों से मान्य थी और उसी का परिणाम रीतिकालीन कविता के रूप में हमारे साहित्याकाश पर धूमकेतु के समान उदय होकर उसे पतनोन्मुख ही नहीं कर रहा था वरन् उसकी आत्मा को ही नष्ट करने में सफल हो चुका था। साहित्य का समाज अथवा मानव-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रेमचन्द ने जीवन से दूर पड़े हुए साहित्य की आलोचना करते हुए उसके उद्देश्य को स्पष्ट किया है—"हमने जिस युग को अभी पार किया है उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फ़िसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने खयाल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुतरस-प्रेम की तृप्ति, साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन ; दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था, प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौंदर्य का आँखों को। + + + शृङ्गारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अङ्गमात्र है और जिस साहित्य का अधिकांश उसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।"

लेकिन प्रेमचन्द ने साहित्य को जीवन की प्रतिच्छाया कहा। जो साहित्य जीवन के सत्यों से विमुख होकर चलता है या उसमें दिमाग़ी कलाबाजियों

से अतिरिक्त अनुभूतियों को स्थान नहीं उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्दजी ने साहित्य का उद्देश्य बड़ा ही व्यापक रखा, उन्होंने जीवन से अलग रहने वाले साहित्य को साहित्य ही नहीं माना। 'साहित्य की बहुत सी परिभाषायें की गई हैं; पर विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।' साहित्य की परिभाषा देते हुए प्रेमचन्दजी कहते हैं—"साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो। जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।" प्रेमचन्द ने साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन और मन-बहलाव मानने वालों की आलोचना की और साहित्य को जीवन के उपयोगी तत्वों से विभूषित करने पर जोर दिया। आज के युग की परिस्थितियों से मुँह मोड़कर साहित्यकार भाग नहीं सकता। आज की परिस्थितियों के अनुसार ही जनता की साहित्यिक रुचि भी परिवर्तित हो रही है। अब केवल कुछ अमीरों और सामन्तों के लिये ही कविता लिखकर कवि जीवित नहीं रह सकता और न उसकी कविता ही एक वर्ग विशेष की रुचि के अनुसार होकर जीवित रह सकती है। प्रेमचन्द ने युग की इस परिवर्तित धारा को ध्यान पूर्वक देखा और उसके अनुसार ही अपने साहित्य का सृजन किया। उन्होंने साहित्य में उपयोगिता की आवश्यकता को समझा—"अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवाय उसका और कुछ भी उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। + + + + किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिसमें समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति प्रदान करता है।' कला की उपयोगिता पर जोर देते हुये प्रेमचन्द जी एक और स्थान पर कहते हैं—"मुझे कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ। निस्सदेह कला का उद्देश्य सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू

२०—साहित्य का उद्देश्य और प्रेमचन्द

(श्री राम वाशिष्ठ, एम० ए०)

अभी तक जो साहित्य की परिभाषायें दी जा रही थीं वह अपने में पूर्ण नहीं थी, सब एकांगी थीं। किसी में साहित्य का उद्देश्य यश की प्राप्ति, अर्थ की प्राप्ति, स्त्री के सुन्दर उपदेश का लाभ आदि अनेक प्राप्तियाँ थीं तो किसी में साहित्य के सृजन का उद्देश्य मनोरंजन मात्र था। 'कला, कला के लिये' की व्याख्या हमारे साहित्य में शताब्दियों से मान्य थी और उसी का परिणाम रीतिकालीन कविता के रूप में हमारे साहित्याकाश पर धूमकेतु के समान उदय होकर उसे पतनोन्मुख ही नहीं कर रहा था वरन् उसकी आत्मा को ही नष्ट करने में सफल हो चुका था। साहित्य का समाज अथवा मानव-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रेमचन्द ने जीवन से दूर पड़े हुए साहित्य की आलोचना करते हुए उसके उद्देश्य को स्पष्ट किया है—"हमने जिस युग को अभी पार किया है उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने खयाल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुतरस प्रेम की तृप्ति, साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन, दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था, प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौंदर्य का आँखों को। + + + शृङ्गारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अङ्गमात्र है और जिस साहित्य का अधिकांश उसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।"

लेकिन प्रेमचन्द ने साहित्य को जीवन की प्रतिच्छाया कहा। जो साहित्य जीवन के सत्यों से विमुख होकर चलता है या उसमें दिमागी कलाबाजियाँ

से अतिरिक्त अनुभूतियों को स्थान नहीं उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्दजी ने साहित्य का उद्देश्य बड़ा ही व्यापक रखा, उन्होंने जीवन से अलग रहने वाले साहित्य को साहित्य ही नहीं माना। 'साहित्य की बहुत सी परिभाषायें की गई हैं; पर विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।' साहित्य की परिभाषा देते हुए प्रेमचन्दजी कहते हैं—"साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो। जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था म उत्पन्न होता है जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।" प्रेमचन्द ने साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन और मन-बहलाव मानने वालों की आलोचना की और साहित्य को जीवन के उपयोगी तत्वों से विभूषित करने पर जोर दिया। आज के युग की परिस्थितियों से मुँह मोड़कर साहित्यकार भाग नहीं सकता। आज की परिस्थितियों के अनुसार ही जनता की साहित्यिक रुचि भी परिवर्तित हो रही है। अब केवल कुछ अमीरों और सामन्तों के लिये ही कविता लिखकर कवि जीवित नहीं रह सकता और न उसकी कविता ही एक वर्ग विशेष की रुचि के अनुसार होकर जीवित रह सकती है। प्रेमचन्द ने युग की इस परिवर्तित धारा को ध्यान पूर्वक देखा और उसके अनुसार ही अपने साहित्य का सृजन किया। उन्होंने साहित्य में उपयोगिता की आवश्यकता को समझा—"अब साहित्य—केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवाय उसका और कुछ भी उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। + + + + किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिसमें समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति प्रदान करता है।' कला की उपयोगिता पर जोर देते हुये प्रेमचन्द जी एक और स्थान पर कहते हैं—"मुझे कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ। निस्सदेह कला का उद्देश्य सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू

न रखता हो।" अब साहित्यकार की सौन्दर्य-वृत्ति केवल स्त्री-पुरुष के रूप चित्रण के सकुचित घेरे में न रहकर समाज में व्यापक सौन्दर्य के दर्शन की खोज में तल्लीन रहती है। प्रेमचन्द का कथन था—"ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौंदर्य बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिये असह्य हो जाता है। × × × × यों कहिये कि वह मानवता दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है। उसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्यायवृत्ति और सौंदर्य वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।" प्रेमचन्द सौन्दर्य के उन मापदण्डों को बदलना चाहते थे जो एक वर्ग विशेष का ध्यान रख कर साहित्य शास्त्रियों ने गढ़े थे, साहित्य अमीरों और धनवानों के आनन्द का ध्यान करके ही सृजन किया जाता था, उसमें गरीबों के झोंपड़ों, उनकी बेबसी और लाचारी का चित्र नहीं था, लेकिन अब सौंदर्य गरीबों की झोंपड़ी को खोलकर भी निकालना होगा। प्रेमचन्द ने कला के इस व्यापक सौन्दर्य के विषय में कहा है—"हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था, और उन्हीं के सुख दुख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वंद्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी कला अन्त:पुर और बंगलों की ओर उठती थी, झोंपड़े और खण्डहर उसके विषय नहीं थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि से बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो उनका मजाक उड़ाने के लिये।" लेकिन अब इन झोंपड़ों और उनके अन्दर रहने वाले करोड़ों कर्मठ व्यक्तियों का निरादर आज का साहित्य नहीं कर सकता। रीतिकालीन साहित्य का उद्देश्य केवल शृङ्गारिक भावना के निम्न स्तर को दिखलाकर एक वर्ग विशेष के लोगों में कामुकता को जाग्रत करना था, यह सौन्दर्य के प्रति साहित्यकार का स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं था वरन् उसकी कुरुचि का परिणाम था। यह उस समाज में कमजोरियों को पैदा करने वाला गन्दा और दूषित भोजन था। लेकिन यह सब

सच्चे सौंदर्य के अभाव में हो रहा था। प्रेमचन्द ने इस दोष को देख कर साहित्यकारों को चेतावनी देते हुये कहा—"जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्मृति है, वहाँ कमजोरियाँ कहाँ रह सकती हैं ? प्रेम ही तो आध्यात्मिक जीवन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हमारे हृदय में सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की शीतलता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार स्वयं सौन्दर्य प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, तो वह हमें यह प्रकाश क्यों कर दे सकता है ?'

प्रेमचन्दजी ने सौंदर्य के वास्तविक रूप को समझाने का सफल प्रयत्न करते हुये कहा था कि जिस प्रकार प्राकृतिक दृश्यों को देखकर और सुनकर हम सौन्दर्य का अनुभव करते हैं और उस सौन्दर्य का कारण प्राकृतिक रंगों और ध्वनियों का सामंजस्य है। मानव शरीर की रचना भी तत्वों के सामंजस्य पर हुई है और इसीलिये मानव की आत्मा भी सर्वदा उसी साम्य और सामंजस्य की खोज में रहती है। फिर कलाकार की कला जो कि उसकी आत्मा के सामंजस्य का व्यक्त रूप है वह कुछ लोगों को अच्छी लगने वाली न रह कर सम्पूर्ण मानव-समाज को सौन्दर्य प्रदान करने वाली क्यों न होगी ?

प्रेमचन्दजी कला के सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं वहाँ दृढ़ता है और जीवन है, जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव—विरोध, प्रकृति विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिन्ह है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे संभव होगा ? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमंडल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता—दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही यह सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है। दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"

प्रेमचन्द ने साहित्य का आधार जीवन ही माना। जिस साहित्य का मानव जीवन से सामंजस्य नहीं वह सच्चा साहित्य होने का कभी दावा नहीं कर सकता। साहित्य में जीवन के चित्रों को अङ्कित करना ही उनकी सुन्दरता का परिचायक है और इसी में साहित्य की सत्यता निहित है। जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है और साहित्य भी उसी आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है—"जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द की खोज में ही लगा रहता है। किसी को वह रत्न, द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे पूरे परिवार में, किसी को लम्बे चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में, लेकिन साहित्य का आनन्द, इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है, उसी आनन्द को दर्शाना, वही आनन्द उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य और भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी रहती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चाताप भी हो सकता है। पर, सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है वह अखण्ड है, अमर है।"

साहित्यकार इस सुन्दरता को सर्वत्र देख सकता है। महलों से भी अधिक सुन्दरता झोंपड़ियों में पाई जाती है क्योंकि वहाँ मानव अपने यथार्थ और अकृत्रिम रूप में है। प्रेमचन्दजी ने साहित्य में जीवन की कृत्रिमता को सुन्दर नहीं माना क्योंकि जहाँ कृत्रिमता होगी वहाँ आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती —"साहित्य तो हर एक रस में सुन्दरता खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोंपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गन्दे नालों के अन्दर, ऊषा की लाली में, सावन भादों की अँधेरी रात में, और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोंपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर दिखलाई देता है, महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किल से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध ?"

इस प्रकार प्रेमचन्दजी साहित्य को जीवन की प्रतिच्छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। उनका सम्पूर्ण साहित्य मानव जीवन के सत्यों का भण्डार है। सामयिक परिस्थितियों एवं वातावरण का पूर्ण ब्यौरा कलाकार ने अपनी सम्पूर्ण रचनाओं में व्यापक रूप से दिया है। राजनैतिक अवस्था का चित्रण ही नहीं किया वरन् उसको सुलझाने के सुझाव भी उपन्यासकार ने दिये हैं। समाज, धर्म और अर्थ व्यवस्था की दशा को उपन्यासकार ने यथार्थ रूप में पाठकों के स[illegible] है [illegible] द्वारा [illegible] सम्पूर्ण

समस्याओं का हल भी ढूँढता है।

प्रेमचन्द ने अपने देशवासियों की दीन अवस्था को देखा, निरीह कृषक और मजदूर वर्ग की पसीने की कमाई पर मोटे पेट वालों को आनन्द करते देखा तो उनकी मानवीयता करुण क्रन्दन करने लगी और इस कलाकार ने उन शोषितों की दशा के बाह्यरूप को चित्रित करके ही सन्तोष नहीं किया वरन उनकी आन्तरिक अवस्था का सांगोपाग चित्रण करके अपने उपन्यासों में सजीव पात्रों का सृजन किया। सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं को यथार्थ रूप में चित्रित करके तथा उनको नीति और आदर्श की तुला पर तोलकर पाठकों के सम्मुख रखा।

प्रेमचन्द में यथार्थ और आदर्श का समन्वय

प्रेमचन्द ने साहित्य का जीवन से अटूट सम्बन्ध माना है। साहित्य की दीवारें जीवन के सत्यों के आधार पर ही दृढ़ता पूर्वक खड़ी होकर स्थायित्व को प्राप्त करने में सफल हो सकती है यह उनका विश्वास था जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। प्रेमचन्द-साहित्य में युग की उन सम्पूर्ण समस्याओं को चित्रित किया गया जो मानव-जीवन से अत्यन्त निकट का सबध रखती थीं। कृषक वर्ग राष्ट्र का सबसे बड़ा वर्ग था। उसकी दशा शोचनीय थी। प्रेमचद ने उस वर्ग की दशा का चित्रण अपने उपन्यासों और कहानियों में अधिक व्यापक रूप में किया। समाज, धर्म, राजनीति और अर्थ व्यवस्था के यथार्थ रूप को प्रेमचन्द ने अपने समस्त साहित्य में चित्रित किया। नारी की समाज में क्या दशा है? अछूतों के साथ सवर्णों का कैसा अमानुषिक व्यवहार है? अफसर वर्ग की अपने ही देश वासियों के प्रति कैसी उपेक्षा और घृणा है? किस प्रकार सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों और अन्धविश्वासों में मानव-समाज भटक रहा है? न जाने इस प्रकार की कितनी समस्याओं को प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में यथार्थ रूप में चित्रित करके उनकी वास्तविक दशा का चित्र पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करके सजीवता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है। उनके उपन्यासों में कृषक, मजदूर, जमींदार, महन्त, महाजन, अफसर धर्माचारी आदि जितने पात्र हैं वह सब ससार के प्राणी हैं। उनके रूप को हम प्रतिदिन जीवन में देखते हैं। यथार्थ चित्रण के महत्त्व पर लेखक ने स्वयं कहा है—"आधुनिक साहित्य में वस्तु स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासभव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही संतोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं, बल्कि हम यह इत्मीनान

चाहते हैं कि वे सचमुच मनुष्य हैं और लेखक ने यथासभव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है ; क्योंकि कल्पना के गढ़े हुये आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते । हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों की ज़बान से वह खुद बोल रहा है।"

इसमें कोई सदेह नहीं कि प्रेमचन्द ने उपन्यासों मे यथार्थ को महत्व दिया लेकिन उनका यथार्थ चित्रण केवल मानव की दुर्बलताओं, विषमताओं और क्रूरताओं को दिखाकर ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह उन विषमताओं का एक हल ढूढता है, मानव की कमजोरियों को सुधारने का प्रयत्न करता है । प्रेमचन्दजी ने यथार्थवाद को अपनाया अवश्य लेकिन उन्होंने उसका हल एक आदर्श प्रस्तुत करके दिखलाया था । उनका बुरे से बुरा और जघन्य पात्र भी सद्भावनाओं और सद्विचारों से किसी दिन प्रभावित हो सकता है और एक सदाचार और चरित्रवान् पात्र किसी विशेष परिस्थिति के चक्कर में पड़कर अपने अच्छे विचारों को छोड़ सकता है । इसलिये यह कहना कि सत् सत् ही रहेगा और असत् असत् ही रहेगा, प्रेमचन्दजी के विचार में एक भ्रामक कथन था । प्रेमचन्द के उपन्यासों में कुत्सित और बुरी प्रवृत्ति के पात्रों को यथार्थरूप में चिचित्र करके एक आदर्श पात्र बनाने की प्रवृत्ति पाई जाती है । प्रेमचन्द जी ने स्वयं कहा है—"यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुचा देता है । लेकिन जहाँ आदर्शवाद मे यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शका है कि हम ऐसे चरित्र को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्तिमात्र हो—जिसमे जीवन न हो । किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता मे प्राण प्रतिष्ठा करना मुश्किल है ।"

प्रेमचन्द जी ने जिन पात्रों को आदर्श के ढाँचे मे ढाला वे देवता का रूप धारण कर अलौकिक नहीं बने । उनके सम्पूर्ण पात्र ससार के ही पात्र रहे और उनका क्रिया-कलाप भी मनुष्यों के लिये अनुकरणीय था । प्रेमचन्द जी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सपूर्ण अवस्थाओं को यथार्थ रूप में प्रदर्शित करते हुये उनके विषय में एक आदर्श मार्ग का अवलबन करने के लिये सर्वदा कुछ न कुछ निर्देश करते चलते हैं । धर्म के नाम पर पाखड ढोंग को अपनाने वाले लोगों के रूप का यथार्थ चित्रण कर अन्त में वह उनकी इस धार्मिकता का भडाफोड़ कर देते हैं और फिर वह मानवीयता, पारस्परिक सहानुभूति को ही सच्चे धर्म का रूप देते हैं । पूँजीपति के जघन्य कार्य-व्यापारों

का विवरण देकर वह उसकी पूँजी को समाज के कल्याण मे व्यय करने का निर्देश अपने प्रत्येक उपन्यास और कहानी में करते हैं। इसी प्रकार नारी की परवशता और लाचारी का चित्रण कर वह उसको आदर्श माँ और आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित करते हैं। युगों से पुरुष की काम वासना का शिकार बनी नारी राष्ट्र, समाज और घर के मामलों में पुरुषों के समान ही अधिकार रखती है।

प्रेमचन्द नारी के साथ पुरुष के उपेक्षापूर्ण व्यवहार की, अनाचार और अत्याचारों की पूर्ण व्याख्या करके, उसको समाज में उचित और आदर पूर्ण स्थान देने का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वेश्याएँ क्यों बनती हैं? धर्म के नाम पर स्त्रियों को पुरुष किस प्रकार ठगता है, इसका यथार्थ रूप प्रस्तुत कर वह इन समस्याओं को हल करके एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार अन्य समस्याओं को भी प्रेमचन्द ने इसी प्रकार एक निश्चित आदर्श की ओर ले जाकर समाप्त किया है।

यथार्थ को आदर्श की ओर उन्मुख करके उपन्यासकार ने अपने व्यापक ज्ञान एवं अनुभव का परिचय दिया है। कोरा यथार्थवाद पाठकों के सन्मुख पात्रों के वास्तविक रूप को प्रस्तुत करके, पाठकों को एक ऐसी अवस्था में छोड़ देता है जहाँ वे संसार मे बुराई और कुत्सित वातावरण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखते। और कभी-कभी तो यथार्थवादी लेखक नैतिकता का तनिक भी ध्यान न करके समाज की बुराइयों को ही नहीं प्रकट करता वरन् कुछ ऐसे नग्न चित्रों को प्रस्तुत करता है जो समाज मे और अधिक अनैतिकता फैलाने में समर्थ होते हैं। प्रेमचन्द इस प्रकार के अति यथार्थवाद के सख्त खिलाफ थे।

उन्होंने कहा था—"इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिये यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलाओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है।"

प्रेमचन्दजी साहित्य को राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक मतों के प्रचार का साधन बनाना हितकर नहीं समझते, लेकिन इस समय देश की परिवर्तित दशा को देखकर कोई भी लेखक उससे तटस्थ नहीं रह सकता। आज मानव-समाज ऐसी भयानक परिस्थितियों का शिकार है जिनमें मनुष्य

मनुष्य को धोखा देना अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की रक्षा के लिये एक नैतिक कार्य समझ बैठा है। प्रेमचन्द ने इसीलिये साहित्य में लाचार होकर कुछ इस प्रकार के सिद्धान्तों और मतों का प्रतिपादन किया जो समाज की बिगड़ी अवस्था में, कुरीतियों के अन्धकार में, मशाल का काम कर सकते थे। कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्दजी को इसीलिए उपदेशक और मत प्रचारक के नाम से पुकारा। लेकिन प्रेमचन्द ने स्वय इस भ्रम का निवारण इस प्रकार किया है—"जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिये की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्रगति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं, कि कदाचित अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े—वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं योरोप के बड़े-बड़े विद्वान भी अपनी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं, अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं।"

प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की—"इसलिये वही उपन्यास उच्च-कोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। इसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिये ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यासों की यही विशेषता है।"

प्रेमचन्द के उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य जन-जागरण है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एव आर्थिक समस्यायें, जो मानव समाज की उन्नति के लिए उस समय बाधक थीं, प्रेमचन्द ने उनके सुधार के लिए एक निश्चित रूप-रेखा अपने साहित्य में अङ्कित की। सम्पूर्ण उपन्यासों में समाज, धर्म एव राजनीति की विकृतावस्था का यथार्थ चित्रण है और साथ ही लेखक पात्रों की आत्मा में प्रवेश करके उन विकृतावस्थाओं को सुधारने का प्रयत्न करता है। पाठक उपन्यास को पढ़कर सम्पूर्ण वस्तु-स्थिति से परिचित हो जाता है। उसे समाज की कुरीतियों एव कुप्रथाओं के वास्तविक रूप का ज्ञान हो जाता है और उसका हृदय विक्षोभ और रोष से भर जाता है। ऐसी दशा में उसकी अपनी एक धारणा बन जाती है कि किसी प्रकार इन समाज विरोधी तत्वों

को दूर कर उनके स्थान पर कुछ ऐसे नियम और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाये जो समाज के उत्कर्ष में सहायक हों, मानव समाज के कल्याण में वृद्धि करने वाले हों। उसी समय प्रेमचन्द कुछ ऐसे सुधार और आदर्श प्रस्तुत करते हैं जो पाठक की इच्छा के अनुरूप होत हैं। उसे उपन्यास के पढ़ने में रस का सन्चार होने लगता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में यथार्थ और आदर्श का यह समन्वय इतनी व्यापकता के साथ किया गया है कि सम्पूर्ण समाज एव राष्ट्र का प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार प्रभावित अवश्य होगा।

२१—अजातशत्रु मे अतीत चिंतन और वर्त्तमान चेतना

(श्री तारक नाथ बाली, एम० ए०)

जयशङ्कर प्रसाद की प्रत्येक कृति में दर्शन की छाप दिखाई देती है। अजातशत्रु में भारतवर्ष का लोकनायक और पौराणिकों का अशावतार, महात्माबुद्ध ससार के कल्याण में रत दिखाई देता है। दर्शन पर विश्वास करते हुए भी, परलोक पर दृढ़ आस्था रखते हुये भी प्रसाद का समाज प्रगति की ओर से अपनी आँखें बन्द नहीं करता। अजातशत्र के चिन्तन को समझने के लिये यह आवश्यक है कि सक्षेप में महात्मा बुद्ध के युग और उनके चिन्तन का विवरण प्रस्तुत कर दिया जाए।

जिस समय बुद्ध का जन्म हुआ, सारा देश विभिन्न देवी देवताओं की पूजा में व्यस्त रह कर भी पीड़ित था। वेदों की प्रेरणा भुला दी गई थी। उनके आदर्शों का स्वार्थ पूर्ति के लिये उपयोग हो रहा था। एक वर्ग विशेष ब्राह्मण सारी जनता को वेदों की दुहाई देकर लूट रहा था। अन्धविश्वास के बादल घिरे थे। हिंसापूर्ण यज्ञों के प्रति क्षोभ का तूफान उठ खड़ा हुआ। तत्व के सकीर्ण विवेचन में नैतिक मर्यादा भुला दी गई थी। दर्शन ने सदाचार की उपेक्षा ही नहीं की, स्वार्थ परक कर्मों को बढावा भी दिया। ऐसे युग में बुद्ध का जन्म हुआ। उन्होंने सोचा कि ईश्वर की सत्ता के विषय में विवेचन करने की अपेक्षा यह कहीं अधिक आवश्यक है कि नैतिक मूल्यों का दृढ़ स्थापन किया जाए, क्योंकि जनता सकीर्ण दार्शनिक उलझनों से ऊब उठी थी और किसी सुखद और सुरम्य सत्य को स्वीकार करने के लिये लालायित थी। महात्मा बुद्ध ने उनको इश्वर या आत्मा के अस्तित्व अनस्तित्व की उलझन म न डालकर उन्हें करुणा और विश्वमैत्री का सदेश दिया। शाश्वत प्रश्न का शाश्वत हल खोजा और उस जनता पर लादा नहीं वरन् उसे स्वय उसकी उपयोगिता परखने के लिए प्ररित किया। इसी के फलस्वरूप अजातशत्रु नाटक म करुणा और विश्वमैत्री के दिव्य सिद्धान्तों की घोषणा दिखाइ देती है।

दो प्रधान चरित्र हमें करुणा और विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्तों के प्रभाव म

लेकर गिरे हुये चरित्रों का उद्धार करते दिखाई देते हैं। एक हैं महात्मा बुद्ध और दूसरी है साक्षात् करुणा की मूर्त्ति मल्लिका।

महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श मुख्यतः एक है—करुणा या विश्व-मैत्री। सामान्य दृष्टि से देखने पर इन दोनों में भेद है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि दोनों वस्तुतः एक ही आदर्श के दो रूप हैं। बिना करुणा के विश्वमैत्री सम्भव नहीं है और बिना विश्वमैत्री के करुणा का परिपाक नहीं हो सकता है। दोनों में जो भेद प्रतीत होता है उसका कारण यह है कि एक ही पूर्ण मनुष्यता का आदर्श जब व्यक्ति-पक्ष में देखा जाता है वह करुणा कहलाता है और जब उसे ही समष्टि-पक्ष में देखते हैं, वह विश्व-मैत्री या वसुधैव-कुटुम्बकुम् के आदर्श का रूप ग्रहण करता है। करुणा की अभिव्यक्ति विश्वमैत्री के रूप में होती है। एक स्थान पर मल्लिका कहती है कि 'जिसके हृदय में विश्वमैत्री द्वारा करुणा का उद्रेक हुआ है, उसे अपकार का स्मरण क्या कभी अपने कर्त्तव्य से विचलित कर सकता है?' इस कथन का प्रथम अंश समझने की आवश्यकता है। ऊपर यह कहा गया है कि करुणा की अभिव्यक्ति ही विश्वमैत्री में होती है किंतु करुणा की साधना कैसे करनी होगी? किस साधना द्वारा मनुष्य इस आदर्श को प्राप्त कर सकता है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि ज्यों ज्यों मनुष्य संसार के अन्य प्राणियों के प्रति उदार एवं सहिष्णु होता जाएगा, उसे करुणा की प्राप्ति होने लगेगी। व्यवहार में विश्वमैत्री की साधना ही व्यक्तित्व को करुणा-प्राप्ति है।

अब प्रश्न यह किया जाता है कि विश्वमैत्री द्वारा करुणा की साधना जीवन के संघर्ष से विमुख करती है, सामान्य मनुष्य के लिये इसकी साधना असम्भव है। इसी शङ्का को कारायण प्रकट करता है—

"आप देवी हैं। सौर मंडल से भिन्न जो केवल कल्पना के आधार पर स्थिर है, उस जगत की बातें आप सोच सकती हैं। किंतु, हम इस संघर्षपूर्ण जगत के जीव हैं, जिसमें कि शून्य भी प्रतिध्वनि देता है। जहाँ किसी को वेग से ककड़ी मारने पर वह—ककड़ी मारने वाले की ओर—लौटने की चेष्टा करती है।" पृ० ६१

इस आक्षेप का उत्तर प्रसाद ने भाषा द्वारा नहीं, मल्लिका के प्रत्यक्ष व्यवहार द्वारा दिया है। अपने पति की हत्या करने वाले प्रसेनजित और विरुद्धक को क्षमा करती है।

यहीं से इसका आक्षेप जन्म लेता है। क्या अपराधियों को क्षमा करने पर क्या अपराध का पोषण नहीं होगा? यदि पाप को दण्ड नहीं दिया जाएगा

तो क्या यह उसका अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन नहीं हो जाएगा ? गौतम बुद्ध स्वयं इसका निराकरण करते हैं—

"राजन् ! शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है। केवल साक्षी-रूप से वह सब दृश्य देखती है। तब भी, इन सांसारिक झगड़ों में उसका उद्देश्य होता है कि न्याय का पक्ष विजयी हो—यही न्याय का समर्थन है। तटस्थ की यही शुभेच्छा सत्य से प्रेरित होकर समस्त सदाचारों की नींव विश्व में स्थापित करती है। यदि वह ऐसा न करे तो अप्रत्यक्ष रूप से अन्याय का समर्थन हो जाता है—हम विरक्तों को भी इसीलिए राजदर्शन की आवश्यकता हो जाती है।"

पृ० ३०

यहीं पर इस आक्षेप का भी खण्डन किया गया है कि आध्यात्मिक विरक्ति अपने मूल में पलायन को पालती है। चाहे विरक्तों की बुद्धि निर्लिप्त है किंतु वह न्याय का समर्थन करती है। साक्षी रूप से रहते हुए भी वह अपने स्वभाव की प्रेरणा से ही सत्य को पुष्ट किया करती है। शुद्ध बुद्धि निसर्गतः उन प्रयत्नों मे लीन रहती है जो सदाचार को सुदृढ़ करते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातों पर भी प्रकाश डाला गया है। विश्व-मैत्री की प्राप्ति के लिए सबसे पहला साधन है वाणी के सयम का—"वाक्-सयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है" (गौतम)। वाक् सयम की जितनी आवश्यकता उस प्राचीन युग में थी, उतनी ही आज भी है। इससे कोई भी इकार नहीं कर सकता। एक स्थान पर गौतम ने यह भी कहा है कि दूसरे व्यक्तियों के पाप कर्मों का ध्यान करने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है। आज के नर-नारी दूसरों की निन्दा म कितना रस लेते हैं। उनके लिए यह एक आदेश है।

अब एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है—क्या अजातशत्रु में प्रसाद ने वर्तमान चेतना की पूर्ण उपेक्षा की है ? इस प्रश्न पर जितना गहन विचार होना चाहिए था वह नहीं हुआ।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमे अतीत और वर्तमान के मूल सम्बन्ध के प्रश्न पर विचार करना चाहिए। क्या अतीत का वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या बुद्धकालीन मानव-समाज की जो समस्याएँ थीं वे आज के समाज म क्या बिल्कुल नहीं हैं ? क्या मानव-समाज की कुछ समस्याएँ ऐसी नहीं हैं जो किसी न किसी रूप म प्रत्येक युग म प्रकट होती ही रहती हैं। एक दो नहीं अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें अजातशत्रु में हल करने का प्रयत्न किया गया है और जो वर्तमान समाज की समस्याओं का हल प्रस्तुत करती

हैं। 'अजातशत्रु' के युग की बुराइयाँ आज के युग की भी बुराइयाँ हैं। नारी-समस्या, युद्धों की समस्या, ऊँच-नीच की समस्या, बुरे सन्यासियों की समस्या आदि अनेक समस्याएँ हैं जो जितनी 'अजातशत्रु' के युग की हैं उतनी ही आज के युग की भी हैं।

१—नारी समस्या

प्रसाद ने नारी समस्या के विभिन्न पहलुओं को लिया है। नारी का एक रूप है सपत्नी और विमाता का रूप जो वर्त्तमान भारत में आज भी दिखाई देता है। प्रसाद ने यह दिखाया है कि किस प्रकार सौतिया-डाह कुलों में विद्रोह की आग लगा देता है और अनर्थ करा देता है। उदाहरण के लिए वासवी, छलना और पद्मावती, मागधी का सौतिया डाह। दोनों के ही कारण विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। छलना एक क्षुद्र सौत की प्रतिनिधि है, जिसके जहर को काटने के लिए वासवी जैसे उदार और क्षमाशील हृदय की आवश्यकता है। छलना का जैसा व्यवहार पद्मावती के साथ है, ठीक विपरीत व्यवहार वासवी का अजात के साथ है। सामाजिक वासवी के साथ ही होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं लगाना चाहिए कि प्रसाद ने बहु विवाह का समर्थन किया है। अजातशत्रु में तो इसके समर्थन और खण्डन का अवसर ही नहीं आ सकता। प्रसाद ने तो केवल यह दिखाया है कि इस समस्या के प्रस्तुत होने पर उसकी ज्वाला से कैसे बचा जाए। वैसे मागन्धी और छलना के कुटिल व्यवहार से यह सीधी ध्वनि तो निकलती ही है कि बहु विवाह में अनेक बुराइयाँ हैं।

पति पत्नी के सम्बन्धों पर भी यथेष्ठ प्रकाश पड़ता है। जहाँ तक पति से व्यवहार का सम्बन्ध है छलना एक वर्ग की प्रतिनिधि है और वासवी दूसरे वर्ग की। वासवी का पति प्रेम उसका सर्वस्व है और उसके पति का भी बहुत कुछ। शक्तिमती और दीर्घकारायण के वार्तालाप (तीसरा अङ्क, चौथा दृश्य पृ० १२३) में तो लेखक पति-पत्नी की समस्या से आगे बढ़कर स्त्री और पुरुष के व्यापक संघर्ष को दिखाकर उसके समाधान में तल्लीन दिखाई देता है। कला की दृष्टि से इस वार्तालाप का विधान अनुपयुक्त जान पड़ता है। किन्तु इसमें प्रसाद की युग-सचेष्टता स्पष्टतः मुखरित है। आज भी स्त्री पुरुष के समान अधिकार प्राप्त करना चाहती है और इसी आकांक्षा के फल-स्वरूप स्त्रियों और पुरुषों के बीच संघर्ष बढ़ता चला जा रहा है। अब तो सरकार भी हिंदू कोड बिल बनाकर स्त्रियों की आजादी के लिए कानून बना रही है। शक्तिमती एक ऐसी ही उग्र नारी है जो अपने पति के विद्रोह में ही

पुरुषमात्र का विद्रोह करने पर उतारू हो जाती है। वह पुरुषों के प्रति नारी के क्षोभ की व्यंजना इन शब्दों में करती है—

"यदि पुरुष इन कामों को कर सकता है, तो स्त्रियाँ क्यों न करें ? क्या उन्हें अन्तःकरण नहीं हैं ? क्या स्त्रियाँ अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखतीं ? क्या उनका जन्म-सिद्ध कोई अधिकार नहीं है ? क्या स्त्रियों का सब कुछ, पुरुषों की कृपा से मिली हुई भिक्षामात्र है ? मुझे इस तरह पदच्युत करने का किसी को क्या अधिकार था ?"

\+ \+ \+

"क्या हम पुरुषों के समान नहीं हो सकतीं ? क्या चेष्टा करके हमारी स्वतन्त्रता नहीं पद दलित की गई ?" पृ० १२४

दीर्घकारायण ने इसके उत्तर में दो बातें कहीं। प्रथम तो यह कि सभी पुरुष स्वार्थी नहीं होते एवं समाज में क्षुद्र स्त्रियों की भी कमी नहीं होती। द्वितीय—

"विश्वभर में सब कर्म सबके लिए नहीं हैं, इसमें कुछ विभाग हैं अवश्य। सूर्य अपना काम जलता-बलता हुआ करता है और चन्द्रमा उसी आलोक को शीतलता से फैलाता है। क्या उन दोनों में परिवर्तन हो सकता है ? मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है। और वह स्नेह, सेवा करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय-वरद् हस्त का आश्रम, मानव जीवन की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति स्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट करके इस दौड़ धूप में क्यों पड़ती हो देवि ! तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है–पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है–स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है—रमणी का रूप। संगठन और आधार भी वैसे ही हैं। उन्हें दुरुपयोग में न ले आओ। क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा। फिर कैसी स्थिति होगी ? यह कौन कह सकता है ?" पृ० १२५

आगे चलकर मल्लिका भी उसे यही संदेश देती है कि स्त्रियों का कर्तव्य

है कठोर पुरुषों में दया और करुणा का सचार करता। उन्हें व्यर्थ स्वतन्त्रता और समानता का अहंकार कर अपने इस अधिकार से वंचित नहीं होना चाहिए। स्पष्टतः प्रसाद के मत में स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। स्त्री पुरुष की गुरु हैं। महात्मा गांधी स्त्री पुरुष दोनों को एक दूसरे का गुरु मानते हैं।

प्रसाद ने स्त्री जीवन की एक सबसे दर्दनाक समस्या वैधव्य समस्या को भी मल्लिका के चरित्र में दिखाया है। पति की मृत्यु का समाचार पाकर मल्लिका की यह दशा है—"हृदय थरथरा रहा है, कंठ भरा आता है— एक निर्दय चेतना सब इन्द्रियों को अचेतन और शिथिल बनाए दे रही है।" नारी जीवन का यह 'कठोर अभिशाप' आज भी भारतीय नारी समाज के लिये भीषण शाप है। स्त्री कैसे इससे मुक्ति पाये ? यह मल्लिका के चरित्र में ही दिखाया गया है। विधवा के पुनर्विवाह की ओर प्रसाद ने इस नाटक में रुचि नहीं दिखाई। किंतु पति के सोहाग से वंचित हो जाने पर अपने जीवन को परोपकार में लगाना चाहिये। समाजसेवा ही उनका लक्ष्य होना चाहिये। यह सत्य है कि वैधव्य जीवन का यह एक उत्तर है। मल्लिका आदर्श रमणी है। उसका अपने मन पर पूर्ण अधिकार है। यदि कोई विधवा स्वाभाविक वासनाओं को न जीत पाए तो वह क्या करे, ऐसी स्थिति इस नाटक में आती ही नहीं है। नारी-जीवन का समग्र चरित्र प्रसाद ने 'ध्रुव स्वामिनी' में उतारा है।

नारी-जीवन की एक अन्य भीषण समस्या—वेश्या-जीवन का भी चित्रण अजातशत्रु में किया गया है। राजरानी मागन्धी ही काशी की श्यामा वेश्या बन जाती है। श्यामा के जीवन में वेश्या बनने का कारण था रूप पर गर्व। अजातशत्रु में उन वेश्याओं की समस्या उठाने का प्रश्न ही नहीं था जो समाज के अत्याचारों से विवश होकर अपनी लाज का व्यापार करने लगती हैं। किन्तु श्यामा का जीवन भी नारी जीवन की एक ऐसी दुर्बलता की ओर संकेत करता है जिसके परिणाम हमेशा ही भयंकर होते हैं। श्यामा श्यामा पक्षी के समान स्वतन्त्र रहने में ही प्रसन्नता का अनुभव करती है। किन्तु उसके जीवन में एक अवसर ऐसा भी आता है जब उसे अतृप्ति की आग में ही प्रेम की शीतलता का अनुभव होता है। प्रसाद की सामाजिक चेतना के मूल्यांकन में यह अवसर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में वेश्या का जीवन केवल पाप की लम्बी कहानी होती है। वह कभी यह सोचने का प्रयत्न ही नहीं करता कि उसके भी हृदय है और उसमें स्त्री-

सुलभ संवेदना के कुछ निशान बाकी रह जाते हैं। जब श्यामा विरुद्धक से प्रेम की भीख माँगती है तो वह सामान्य व्यक्ति के इसी विचार को प्रकट करता है—

"तुमसे मिलने में मैं इसलिए डरता था कि तुम रमणी हो और वह भी वारविलासिनी; मेरा विश्वास है कि ऐसी रमणियाँ डाकुओं से भी भयानक होती हैं।"

इस पर श्यामा उत्तर देती है—

'तो क्या अभी तक तुम्हें मेरा विश्वास नहीं ? क्या तुम मनुष्य नहीं हो, आन्तरिक प्रेम की शीतलता ने तुम्हें कभी स्पर्श नहीं किया ? क्या मेरी प्रणय भिक्षा असफल होगी ? जीवन की कृत्रिमता में दिन-रात प्रेम का बनिज करते करते क्या प्राकृतिक स्नेह का स्रोत एक बार ही सूख जाता है ? क्या वार-विलासिनी प्रेम करना नहीं जानतीं ?" पृ० ७२

प्रसाद ने वेश्या जीवन के अन्तस्तल के संघर्ष को सहानुभूति के साथ देखा है और प्रदर्शित किया है। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रसाद साहित्य में समुचित अध्ययन नहीं किया गया।

प्रसाद ने प्रेम का महत्त्व भी प्रदर्शित किया है। इस बात में वह अपने युग की प्रेम विरोधी प्रवृत्ति का विरोध करते दिखाई देते हैं। द्विवेदी युग में जो रीतिकालीन शृङ्गार भावना के प्रति विद्रोह हुआ उसने साहित्य से प्रेम को हमेशा के लिये निकाल देना चाहा। प्रेम साहित्य का रस ही नहीं जीवन की भी शक्ति है। जब वाजिरा अजातशत्रु के प्रति आकर्षित होती है तो वह कहती है—

"अहा ! जीवन धन्य हो गया है। अन्तःकरण में एक नवीन स्फूर्ति आ गई है। एक नवीन संसार इसमें बन गया है। यही यदि प्रेम है तो अवश्य स्पृहणीय है, जीवन की सार्थकता है, कितनी सहानुभूति, कितनी कोमलता का आनन्द मिलने लगा है।" और अजात भी उसके प्रेम की अनुभूति कर कहता है—

"सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है। आज विश्वास भी हो गया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर लिया है।" पृ० ११५

२—युद्धों की समस्या

सारा संसार युद्धों से आतंकित है। युद्ध की भीषणता से समाज पर दुख और पीड़ा के पहाड़ टूट पड़ते हैं। यदि युद्ध न हों तो मानव जीवन कितना

सुखी और शान्त हो। जब अजातशत्रु पहली बार युद्ध से लौटकर आता है और उसकी माँ छलना उसे फिर से युद्ध में प्रेरित करती है तो वह उत्तर देता है—

"माँ! क्षमा हो। युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्वमय चित्र न जाने किस षड्यन्त्रकारी मस्तिष्क की भयानक कल्पना है। सभ्यता से मानव की जो पाशव-वृत्ति दबी हुई रहती है, उसी को इसमें उत्तेजना मिलती है। युद्धस्थल का दृश्य बड़ा भीषण होता है।" पृ० १०६

वाजिरा भी कहती है—

"क्या विप्लव हो रहा है!...... अन्धी जनता अंधेरे में दौड़ रही है। मनुष्य मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्रकला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते हैं। बर्बर रक्त में और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं।"

इस कथन में जहाँ युद्धों की निन्दा की गई है, वहाँ उन कवियों पर भी व्यंग कसा गया है जो राजाओं को युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं। साहित्यकार का उद्देश्य विद्रोह की आग जगाना नहीं है वरन् समाज में मंगल की स्थापना है।

३—बुरे सन्यासी

देवदत्त और समुद्रदत्त के चरित्र में आज के झूठे सन्यासियों की भी जघन्यता का दृश्य दिखाई दे ही जाता है। सच्चे महात्मा का विरोध करना, राजशक्ति और सम्मान के लिए जाल फैलाना, पाखण्डपूर्ण आचरण करते हुए भी सच्चा सन्यासी कहलाना आदि दुर्गुण देवदत्त में दिखाई देते हैं। उसका शिष्य तो और भी आगे बढ़ा हुआ है और श्यामा के रूप के मोह में पड़कर बलि का बकरा बन जाता है।

४—पूर्ण मनुष्यत्व का आदर्श

लेखक का आदर्श है पूर्ण मनुष्यत्व। वह जनता को जीवन से विमुख नहीं करना चाहता, व्यक्ति को किसी काल्पनिक लोक या शक्ति को आदर्श बनाने के लिए नहीं कहता। वह तो चाहता है कि सभी पूर्ण मनुष्य बनने का प्रयत्न करें। श्यामा मल्लिका के विषय में कहती है—'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है।" जब अजात मल्लिका के क्षमाशील

कर्त्तव्य को देव कर्त्तव्य कहता है, तो वह उत्तर देती है—

"नहीं राजकुमार, यह देवता का नहीं—मनुष्य का कर्त्तव्य है। उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता मानव-हृदय के लिए ही बने हैं।"

पृ० ६५

क्या आज के युग में मनुष्यता का अभाव नहीं है। क्या मनुष्यत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने पर भी संसार में क्षोभ की आग और विद्रोह की जलन रह सकती है? क्या आज के जीवन में मनुष्यता के स्थान पर धन शक्ति आदि ऐसे लक्ष्य निर्धारित नहीं किए जा रहे हैं जो उसे पतन की गर्त्त में गिरा रहे हैं? पश्चिम की विचारधारा है—"To err is human' गलती करना मनुष्य का स्वभाव है। यदि ऐसा है तो विवेक शक्ति का क्या उपयोग है! मनुष्य की मनुष्यता ही यही है कि विवेक द्वारा दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया करता है।

इसके अतिरिक्त सभी राष्ट्र वसुधैव कुटुम्बकम् की ओर बढ रहे हैं।

५—न्याय व्यवस्था

न्याय-व्यवस्था का उद्देश्य है समाज को विशृङ्खल होने से बचाना। उसका पहले भी यही लक्ष्य था और आज भी यही है। किन्तु उसके उद्देश्य की पूर्ति में स्वार्थी और विलासी अधिकारी हमेशा विकट बाधाएँ उपस्थित करते हैं। जब न्याय के अधिकारी ही दुर्बल व्यक्तित्व वाले हों तो न्याय भी दुर्बल हो ही जाएगा। काशी का दण्डनायक आज के अनेक रिश्वत-खोर तथा दुराचारी अफसरों से भिन्न नहीं है। एक वेश्या के जरा से कहने पर वह शैलेन्द्र के स्थान पर बेचारे समुद्रदत्त को फाँसी पर लटका देता है। आज भी न्याय और कानून के आलम्बरदारों में ऐसे लोगों की कमी नहीं है।

६—पिता और पुत्र का संघर्ष

अजातशत्रु की कथा के मूल में है पिता और पुत्रों का संघर्ष। पिता अपने अधिकार पुत्र को देना नहीं चाहता और पुत्र बलपूर्वक उससे अधिकार छीन लेना चाहता है। आज के युग में भी पिता और पुत्र का यह संघर्ष घर-घर की फसादों की जड़ है। इस समस्या का व्यापक विस्तार अजातशत्रु में मिलता है। अजातशत्रु बिंबसार के विरुद्ध और विरुद्धक प्रसेनजित के विरुद्ध विद्रोह करता है। आज के युग में भी पुत्रों की यह उग्र भावना परिवारों की शान्ति को भंग कर देती है। इसका समाधान एक ही है। और वह यह कि पिता न्याय करे और पुत्र उस पर विश्वास करे। जब मल्लिका विरुद्धक को

प्रसेनजित के पास क्षमा कराने को ले जाती है और जब प्रसेनजित यह कहता है कि विरुद्धक दण्डनीय विद्रोही है तो वह कहती है—

"राजन, विद्रोही बनाने के कारण भी आप ही हैं। बनाने पर विरुद्धक राष्ट्र का एक सच्चा शुभचिंतक हो सकता था।" पृ० १३० और पुत्र (अजात) के मुख से प्रसाद ने कहलाया है कि पिता के चरण ही उसका सच्चे सिंहासन हैं।

७—राष्ट्रीय आन्दोलन—बुद्ध और गांधी

महात्मा गांधी ने राष्ट्र के स्वतन्त्रता आन्दोलन की नीति सत्य और अहिंसा पर आधारित की। महात्मा बुद्ध में भी हमें इन्हीं दोनों सिद्धांतों का चरमोत्कर्ष मिलता है। महात्मा गांधी का सिद्धान्त था हिंसा का उत्तर अहिंसा से दो, यदि कोई तुम पर क्रोध करे, उसे प्रेम से जीतने का प्रयत्न करो। महात्मा बुद्ध भी कहते हैं—

"शीतल वाणी—मधुर व्यवहार—से क्या वन्य पशु भी वश में नहीं हो जाते ? राजन संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग है हृदय में जितना वह घुसता है उतनी कटार नहीं। वाक्संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है।" पृ० ३१

गांधी इस सिद्धांत पर विश्वास करता था कि शत्रु से भी मित्रतापूर्ण बर्ताव करना चाहिए। मल्लिका प्रसेनजित और विरुद्धक दोनों को क्षमा कर देती है—क्षमा ही नहीं करती उनके प्राणों की रक्षा भी करती है। और इसका फल यह होता है कि बिछुड़े हुए मिल जाते हैं, दुराचारी सदाचारी बन जाते हैं और अशान्ति की आग में जलते हुए राजपरिवार खिले हुए उपवन बन जाते हैं। इस नाटक को पढ़ने के पश्चात् गांधी की नीति पर अधिक विश्वास हो जाता है।

० २२—पन्त का प्रकृति-चित्रण

(श्री तारकनाथ वाली, एम० ए०)

प्रकृति एक विषद् चिरतन काव्य है। पत के लिए इस प्रकृति-काव्य का रूप भी सौन्दर्य है और प्राण भी। प्रकृति का स्थूल सौन्दर्य कवि के हृदय की सुषमा से मिल एक प्राण हो जाता है। और तब यह जानना कठिन हो जाता है कि हृदय ने प्रकृति से क्या लिया और क्या दिया ?

प्रकृति के साथ पत का घनिष्ठ सम्बन्ध बचपन से ही रहा। उसके सौंदर्य ने सरस बालक—बाद मे कवि—को मुग्ध किया, उसकी विषदता ने उसके हृदय पर गहरी छवि अङ्कित करदी, उसके व्यापारों ने कवि को अपने में लीन करने के लिए उकसाया। पत की चेतना घटों तक प्रकृति की सुषमा—जाली म उलझी रहती थी। उसके रूप ने चेतना पर एक अमिट प्रभाव छोड़ा जो कवि की रचनाओं म सौन्दर्य की रजत-राशि के रूप में बिखर गया।

प्रकृति के रूपों से भी अधिक कवि प्रभावित हुआ उसके व्यापारों से जिन्होंने उसके हृदय को प्रकृति की सजीवता का मूक सन्देश दिया। कवि प्रकृति को अपने से अलग विशिष्ट सत्ता में साकार एक नारी के रूप में देखने लगा। प्रकृति से तादात्म्यानुभूति की सरल कामना भी कई पक्तियों में प्रतिबिंबित हुई है। वहाँ कवि अपने को भी नारी के रूप में देखता है। 'वीणा' म यह प्रकृति बहुत स्पष्ट है जहाँ सर्वत्र कवि ने अपने को एक अबोध बालिका के रूप में चित्रित किया है। कवि को यह मानने में कोई संकोच नहीं कि प्रकृति प्रेम ने जहाँ कवि के हृदय मे सहृदयता की ज्योति बिखेरी, वहाँ उसे जन जीवन से पराङ्मुख भी कर दिया।

प्रकृति का चित्रण तीन रूपों में किया जाता है—आलम्बन रूप मे, उद्दीपन रूप म और अलकार रूप मे।

(१) आलम्बन रूप—इधर कुछ विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप से किया ही नहीं जा सकता। क्या यह सच है ? इसका उत्तर प्राप्त करने के लिए हमे काव्य क्षेत्र के दूसरे पहलू जीवन क्षेत्र के अनुभव को परखना होगा। जीवन और काव्य एक चेतना

के दो पहलू हैं। दोनों में ही चेतना का उतार-चढ़ाव प्रकाशित होता है। जीवन के नित्य अनुभव में हम किसी हँसते हुए फूल को देखकर लहलहा उठते हैं, झाड़-झखाड़ों को देखकर बुद्धि में भी अस्पष्ट उलझनें पड़ जाती हैं मेघ-गर्जन से भय या उत्साह का उद्रेक होता है। यहाँ क्या प्रकृति के विविध रूप ही हमारे भावों को जगाने वाले कारण नहीं हैं? यदि हैं, तो काव्यक्षेत्र में भी प्रकृति का आलम्बन रूप में ग्रहण योग्य है, इतना ही नहीं स्पृहणीय भी है। जो तथ्य जीवन में सत्य है, वह काव्य कल्पना में भी सत्य है।

अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या पन्त ने प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण किया है? 'आधुनिक कवि' नामक संग्रह की प्रथम कविता 'मोह' में कवि स्पष्टतः प्रकृति-प्रेम को नारी के मोह से श्रेष्ठ बतलाता है और उसी में लीन होने की कामना करता है। किंतु अन्य रचनाओं में ऐसा नहीं है। "पर्वत प्रदेश में पावस" में पावस ऋतु का वर्णन आलम्बन स्वरूप कहा जा सकता है। "आँसू से भी" झिरदद्-तों से उठ ऊपर—आदि छन्द भी प्रकृति के आलम्बनत्व को स्वीकार करते दिखाई देते हैं। किन्तु हम इन वर्णनों को शुद्ध आलम्बन स्वरूप चित्रण नहीं मान सकते। "पर्वत प्रदेश के पावस" का अन्तिम छद और "आँसू" के कई छन्द प्रकृति की गौणता का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों कविताओं में प्रकृति प्रेम म वियोगी का प्रेम उसी प्रकार घुलामिला हुआ है जिस प्रकार कण्ठ स्वरों में वीणा की मधुर झंकार। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं। किंतु साथ ही साथ कवि की मनोवृत्ति का भी पूर्ण परिचय देते हैं। कवि को प्रकृति से अगाध प्रेम है, किन्तु वह अपने वियोगी हृदय को कहाँ छिपादे? वह भी बीच-बीच में कूक उठता है। अतः यह सिद्ध है कि कवि को प्रकृति से अनन्य प्रेम है, उसने उसकी विशदता का सूक्ष्म पर्यालोचन किया है, किन्तु वह उसके मृदुल ऐश्वर्य में हृदय के वियोग को पूर्णतः भुला नहीं पाया।

"झंझा में नीम", 'चाँदनी' आदि रचनाओं का विवेचन आगे किया जाएगा।

(२) **उद्दीपन रूप**—यह जीवन का एक शाश्वत सत्य है कि दुख में सारा संसार दुखी और सुख में सुखी दिखाई देता है। अपने भावों की यह विश्वजनीन अभिव्यक्ति की इच्छा काव्य-प्रेरणा का एक प्रधान तत्व है। जब मनुष्य दुखी होता है तो पुष्पों का हास उच्छ्वास में बदल जाता है, तारों की ज्योति म्लानता में परिवर्तित हो जाती है, और वर्षा दुख के आँसुओं का रूप धारण कर लेती है। प्रश्न यह होता है कि मनुष्य क्यों अपने भाव की

सार्वभौम अभिव्यक्ति की कामना करता है। इसका उत्तर स्पष्ट है। और वह है चराचर की गूढ़ एकता। एक ही तार चराचर के हृदयो में बिंधे हुए हैं, उन्हें एकता में बाँधे हुए हैं। एक हृदय की झंकार समस्त ब्रह्माड की वीणा में लहरें उत्पन्न कर देती है। अभेद का पर्दा तिरोहित हो जाता है।

उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण कई प्रकार से हो सकता है।

प्रकृति के मधुर मिलन व्यापार वियोगी की व्यथा को और भी उद्दीप्त कर देते हैं। वह मानव और प्रकृति का वैषम्य हुआ।

कवि कहता है—

"देखता हूँ, जब उपवन,
पियालो में फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को······
तो—अकेली आकुलता सी प्राण!
कहीं करती तब मृदु आघात·······।"

('आँसू' से)

(ख) २—वियोग-दाह के कारण प्रकृति के रम्य रूप भी उग्र एव पीड़क दिखाई देते हैं—यथा

धधकती हैं जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल,
आज सोने का सन्ध्याकाल,
जल रहा जतुगृह सा विकराल,"

यह है अपने भाव की अनन्त अभिव्यक्ति। यह आरोपित साधर्म्य है।

(ग) ३—प्रकृति के साथ तादात्म्य करते हुए अपने दुख की अभिव्यक्ति यथा—'मेरा पावस ऋतु-सा जीवन' आदि ("आँसू"—से) यह मानव हृदय और प्रकृति-व्यापार का साधर्म्य हुआ।

(३) अलङ्कार रूप—प्रस्तुत की विशद एव गम्भीर अभिव्यक्ति के लिए कवि अप्रस्तुत विधान करते आए है। 'मेरा पावस ऋतु सा जीवन" वाला चित्र प्रकृति का अलंकार रूप में सुन्दर प्रयोग है। किन्तु प्रकृति से अप्रस्तुत-चयन केवल प्रेम विषयक कविताओं में ही नहीं अन्य विषय वाली कविताओं में भी किया जाता है। प्रसाद का "मधुमय बसन्त यौवन वन के" वाला विशद सूक्ष्म चित्र एक ऐसा ही चित्र है।

(४) पृष्ठ भूमि के रूप में—पृष्ठ भूमि के रूप मे प्रकृति चित्रण 'एक

तारा' 'नौका विहार' आदि कविताओं के पूर्व मिलता है। इस प्रकार का सजीव वर्णन कविता की शक्ति को ऊर्जस्वित करने में सुतरा सहायक होता है। 'एकतारा' का आरम्भिक प्रकृति-चित्रण, कविता के प्रतिपाद्य-विषय की गम्भीरता को कला के आवरण में प्रस्तुत करके, पाठक के हृदय को एक सहज गति दे देता है; जो दार्शनिक तथ्यों को आत्मसात कर लेती है।

'ग्राम चित्र' एक ही कविता में हमें दो प्रकार का प्रकृति चित्रण मिलता है। *"यहाँ डोलती वायु म्लान""* आदि के द्वारा कवि गाँव की करुण दशा के चित्रण को अधिक सशक्त कर देता है। और बाद में 'यह रवि शशि का लोक; जहाँ हँसते समूह में उडगण' आदि पंक्तियों में विषम चित्र प्रस्तुत कर पाठक को मर्माहत कर देता है।

(५) रहस्य संकेत—शुक्लजी के अनुसार चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। किन्तु एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। अद्वैतवाद का एक ही रूप हो सकता है, क्रम उसके लक्ष्य—मुक्ति-में नहीं है। किन्तु रहस्यवाद के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। व्यक्त अखण्ड सत्ता का धूमिल भाव भी रहस्यवाद है, और आत्मा-परमात्मा का मिलन परिरम्भण भी रहस्यवाद। पन्त में हमें प्रथम स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। (देखिए मौन-निमंत्रण)। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों से कवि को एक अव्यक्त संकेत मिलता है। किन्तु वह उसे समझ नहीं पाता।

छायावाद-रहस्यवाद के विरुद्ध मार्क्सवादी आलोचकों ने एकाँगी नारा उठाया। उनके अनुसार ऐसा काव्य पलायन-प्रवृत्ति का प्रकाशन है- कायरता और भीरुता का परिचायक। इस समस्या को सुलझाने के लिये हमें एक बार फिर जीवन क्षेत्र में उतरना पड़ेगा। क्या प्रकृति के अनन्त सौंदर्य को देख हमें उसमें किसी अव्यक्त सत्ता का लास-उल्लास दिखाई नहीं देता ? क्या हम उसीसे सतुष्ट रहते हैं जो हमारी इन्द्रियों की पकड़ में आता है ? यदि हम ईमानदारी से सोचें तो हमें एक नहीं अनेक ऐसे क्षण मिलेंगे जिनमें हमारा मन दृश्य से उचाट हो जाता है ! और इस अनासक्ति का कारण होता है दृश्य से असतोष। हम केवल रोटी-कपड़ा ही नहीं चाहते। इससे अधिक भी कुछ चाहते हैं। यह 'अधिक कुछ' ही ऊर्ध्वतल की सीमा है जिसका अन्तिम छोर भाव या बुद्धि की चरम साधना से एकरस है।

6. (६) दार्शनिक सत्यों की उद्भावना—जब मानव मन इस स्थूल दृश्य जगत से असतुष्ट होता है, जब वह अपने अन्तरग की ओर झाँकता है तो उसे एक नई अनुभूति का आभास होता है, जो स्थूल नहीं सूक्ष्म है, जो वह

नहीं आत्मिक है। आत्मा की सत्ता पर अविश्वास करने वालों से पूछिए कि चरित्र निर्माण से वे क्या समझते हैं? क्या चरित्र का एकमात्र सबन्ध स्थूल-भौतिक पदार्थों से ही है। चरित्र-चेतन का वह अश है जो जड़ की यथार्थ सीमा का निर्धारण करता है।

अपने देश में अनेकानेक दार्शनिक मत रहे। कवियों ने किसी न किसी दार्शनिक मत को काव्य में ग्रहण कर स्वीकृति दी। दर्शन और काव्य का घनिष्ट संबन्ध है। काव्य जीवन की भावात्मक व्याख्या है, दर्शन जीवन की विचारात्मक व्याख्या है। काव्य और दर्शन को परस्पर बाँधने वाला जीवन ही है।

विविध दार्शनिक ग्रन्थों में भी उपनिषद् का सूक्ष्म-गहन चिंतन अधिकाँश मनीषियों को आकर्षित करता रहा। कवि पन्त भी उपनिषदों से प्रभावित रहा है। "एक तारा" और "नौका विहार" में इसका स्पष्ट सकेत है। "एक तारा" की अन्तिम दो पक्तियाँ हैं—

"जगमग-जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द कलियों से घन,
यह आत्म और यह जग दर्शन।"

इनमें "एकोऽहं बहुस्याम" का स्पष्ट प्रभाव है। यह पक्तियाँ सम्पूर्ण कविता को एक अन्योक्ति का रूप दे देती हैं।

इसी प्रकार नौका विहार के अन्त में, यह ससार क्रम भी नौका-विहार सदृश वर्णित है।

प्रकृति के दृश्यों से सनातन सत्य को इस प्रकार सकेतित करना कल्पना की व्युत्पन्नता एव चिन्तन की विशदता का परिचायक है। पाठक उन्हें पढ़कर चमत्कृत हो उठता है। यह एक अत्यन्त परिष्कृत एव भावात्मक पद्धति है।

(७) मानवीकरण—यह ऊपर कहा जा चुका है कि कवि ने प्रकृति को अपने से अलग सजीव सत्ता वाली एक नारी के रूप में देखा है। इस दृष्टिकोण का कारण है प्रकृति के व्यापारों का मानवीय क्रिया कलापो से साम्य। मानवीय रूपों और व्यापारों की पृष्ठभूमि पर प्रकृति के रूपों और व्यापारों का साक्षात्कार करना कराना ही प्रकृति का मानवीकरण कहलाता है। उदाहरण के लिये 'चाँदनी' या 'लहरों का गीत' आदि कविताएँ दी जा सकती हैं। कवि चाँदनी को 'नभ के शतदल' पर बैठी हुई नायिका के रूप में देखता है।

यह सत्य है कि आधुनिक काव्य में मानवीकरण की यह प्रवृत्ति प्रधानतः पश्चिम के प्रभाव से आई है। किन्तु हमारे साहित्य शास्त्रीयों ने मानवीकरण से

मिलते जुलते एक अलकार का उल्लेख किया है जिसका नाम है समासोक्ति। अब हमें देखना यह है कि समासोक्ति और मानवीकरण में क्या भेद है और क्या समानता है। साहित्यदर्पणकार ने समासोक्ति की यह परिभाषा दी है—

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥

(जहा प्रस्तुत मे समान व्यापार और लिङ्ग वाले विशेषणों द्वारा अप्रस्तुत वस्तु का आरोप किया जाता है, वहा समासोक्ति अलकार होता है।) चादनी कविता में भी हमें प्रस्तुत चाँदनी में अप्रस्तुत नायिका का आरोप दिखाई देता है। इस दृष्टि से देखने पर समासोक्ति और मानवीकरण में कोई भेद नहीं दिखाई देता।

पत मे ही नहीं अन्य आधुनिक कवियों में भी ऐसे वर्णन मिलते हैं जहाँ मानवीकृत प्रकृति वर्णन मे प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत-मानवीय रूप व्यापार-ही अधिक मुखर हो उठे हैं। प्रस्तुत उनमें दब जाता है। ऐसे स्थलों में समासोक्ति का उपरोक्त लक्षण पूर्णतः घटित नहीं होता। किन्तु यह आधुनिक कवियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का ही परिणाम है जिसकी ओर पीछे (सॉंग रूपक के विवेचन में भी) सकेत किया गया है।

उदाहरण के लिए 'चाँदनी' कविता के प्रथम दो छन्द लीजिए—

'नीले नभ के शतदल पर,
वह बैठी शारद - हासिनि,
मृदु करतल पर शशि-मुख धर
नीरव, अनिमिष एकाकिनि!
वह स्वप्न-जड़ित नत चितवन
छू लेती अग - जग का मन,
श्यामल, कोमल चल चितवन
जो लहराती जग - जीवन।''

इस वर्णन म प्रस्तुत पक्ष—चाँदनी का वर्णन— गौण पड़ गया है और अप्रस्तुत पक्ष—नायिका के स्वरूप—ने उसे दबा लिया है। प्रथम छन्द के पढ़ते समय पाठक के नेत्रों के सामने चादनी का चित्र नहीं, नायिका का ही चित्र आता है। उस चित्र की कल्पना किए बिना वह चादनी तक पहुच ही नहीं सकता। और दूसरे छन्द में तो प्रस्तुत और भी अधिक धूमिल हो गया है। 'चितवन' का कोई स्वरूप हमें चादनी मे नहा मिलता। केवल उसके प्रसार भर को ही चितवन मान लेना पड़ता है। स्पष्टतः यहां कवि की।

नायिका में उलझी हुई है। ऐसे स्थलों पर चित्र की धूमिलता के साथ-साथ प्रभाव-हीनता एवं दुरूहता आ जाती है। 'लहरों के गीत' का पाठक पहली बार तो भौचक्का रह जाता है क्योंकि वहाँ कवि लहरों का नहीं मुग्धा नायिका के रूप-व्यापार पाठक के सामने रख रहा है। यदि कवि को मानवीय व्यापार का वर्णन करना ही अभीष्ट है तो उसे इस प्रकार प्रकृति की खाल में न रखना ही उचित है।

यह तो हुई मानवीकरण की बात। इसके अतिरिक्त प्रकृति को मानवीय रूप में वर्णन करने के लिए उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का भी सहारा लिया जाता है। 'बादल' कविता में 'फिर परियों के बच्चों-से हम' में उपमा, और 'दुहरा विद्युद्दाम चढ़ाकर' में साग रूपक के द्वारा बादलों को 'वासव-सेना-से' दिखलाया है।

प्रकृति के मानवीकरण से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रकाशन होता है। वह है मानव सौन्दर्य और प्रकृति के सौंदर्य के घनिष्ट सम्बन्ध का रहस्य। यह ठीक है कि आलम्बन भिन्न-भिन्न हैं किन्तु दोनों ही—प्रकृति और नर-नारी—एक ही भावना सौन्दर्य आदि को जगाते हैं। जिस प्रकार एक मानव मानव के समस्त भावों का आलम्बन हो सकता है उसी प्रकार प्रकृति भी। यदि यह बात असत्य होती, यदि प्रकृति और मानवीय-प्रकृति में भेद या विरोध होता तो दोनों का सश्लिष्ट वर्णन कभी भी एकरस प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता है यह निर्विवाद है कि मानव प्रकृति के बिना अधूरा है, और प्रकृति मानव के बिना अधूरी है। यह सत्य है कि दोनों ही एक दूसरे से विच्छिन्न रूप में भी मानव भावों के आलम्बन हो सकते हैं और होते भी हैं, किन्तु दोनों की उचित सम्बद्धता में तीव्र प्रभावोत्पादकता है।

एक बात और। प्रकृति का मानवीकरण साहित्य क्षेत्र की ही विशेषता है। जीवन में हम कभी भी प्रकृति को इस रूप में नहीं देखते और देखते भी हैं तो बहुत कम। साहित्य प्रकृति को मानव के समतुल्य प्रतिष्ठापित कर मानव हृदय को व्यापकता एव दिव्यता प्रदान करता है।

इसके अतिरिक्त प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कुछ अन्य भी बातें हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

प्रकृति की चित्रपटी में ही दर्शन के गूढ़ रहस्यों को झलकाने की बात ऊपर कही जाचुकी है। इसके अतिरिक्त जीवन के अन्य सिद्धांतों के प्रतिपादन में भी कवि प्रकृति से सहायता लेता है। 'सुख-दुःख' कविता में कवि बादल और चाँद के खेल का वर्णन करता है। 'अनित्य जग' में कवि ससार की

अनित्यता दिखाने के लिए ही कहता है—

"आज तो सौरभ का मधुमास,
शिशिर में भरता सूनी साँस !"

इस दृश्य से कवि द्वारा प्रदर्शित संसार की परिवर्तनशीलता की करुण अनुभूति हृदय में गम्भीर रूप ग्रहण कर उदित होती है। इसी प्रकार "नित्य जग" में भी "अतल से एक अकूल उमंग" वाले छन्द में प्रकृति का दर्शन से मधुर मिश्रण किया है। "एक ही तो असीम उल्लास" में कवि वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद का काव्यात्मक प्रतिपादन करता है।

(८) प्रस्तुत-अप्रस्तुत—पन्त में कई स्थानों पर हमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत का सामंजस्य भी मिलता है और मानव भावना का व्यापक प्रभाव भी, जिसे जायसी की एक प्रधान विशेषता माना जाता है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के सामंजस्य के स्थल हैं "ग्रंथि से—" की 'इन्दु पर, उस इन्दुमुख पर—' वाली पंक्तियाँ। उधर चन्द्रमा उदित है, इधर कवि के सामने बाला का मधुर मुख। उधर बाल रात्रि (संध्या) है, इधर अलक। "एक तारा" में 'गंगा के चल-जल में.........किस मग !' तक भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत का मधुर सामंजस्य दिखाई पड़ता है।

(९) व्यापक प्रभाव—मानव भाव का प्रकृति में व्यापक प्रसार इन स्थलों में देखा जा सकता है।

"इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में......" (ग्रन्थि) कवि के हृदय की जिज्ञासा सारी प्रकृति में विद्यमान है।

देखिए संसार की अनित्यता के कारण सारा विश्व किस प्रकार आतंकित है—

"अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश
सिसक उठता समुद्र का कन,
सिहर उठते उडगन !"

इसी प्रकार "एक तारा" में 'आकांक्षा के उच्छ्वसित वेग' से सागर-रवि, शशि, उडगन सभी व्याकुल और स्पन्दित हैं।

"आँसू की बालिका" में एक बहुत ही सुन्दर छन्द है जिसमें निराश व्यक्ति को प्रकृति से सहानुभूति और करुणा का आश्वासन मिलता है—

नायिका में उलझी हुई है। ऐसे स्थलों पर चित्र की धूमिलता के साथ-साथ प्रभाव-हीनता एवं दुरूहता आ जाती है। 'लहरों के गीत' का पाठक पहली बार तो भौचक्का रह जाता है क्योंकि वहाँ कवि लहरों का नहीं मुग्धा नायिका के रूप-व्यापार पाठक के सामने रख रहा है। यदि कवि को मानवीय व्यापार का वर्णन करना ही अभीष्ट है तो उसे इस प्रकार प्रकृति की खाल में न रखना ही उचित है।

यह तो हुई मानवीकरण की बात। इसके अतिरिक्त प्रकृति को मानवीय रूप में वर्णन करने के लिए उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का भी सहारा लिया जाता है। 'बादल' कविता में 'फिर परियों के बच्चों-से हम' में उपमा, और 'दुहरा विद्युद्दाम चढ़ाकर' में सांग रूपक के द्वारा बादलों को 'वासव-सेना-से' दिखलाया है।

प्रकृति के मानवीकरण से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रकाशन होता है। वह है मानव सौन्दर्य और प्रकृति के सौंदर्य के घनिष्ट सम्बन्ध का रहस्य। यह ठीक है कि आलम्बन भिन्न-भिन्न हैं किन्तु दोनों ही—प्रकृति और नर-नारी—एक ही भावना सौन्दर्य आदि को जगाते हैं। जिस प्रकार एक मानव मानव के समस्त भावों का आलम्बन हो सकता है उसी प्रकार प्रकृति भी। यदि यह बात असत्य होती, यदि प्रकृति और मानवीय-प्रकृति में भेद या विरोध होता तो दोनों का संश्लिष्ट वर्णन कभी भी एकरस प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता है यह निर्विवाद है कि मानव प्रकृति के बिना अधूरा है, और प्रकृति मानव के बिना अधूरी है। यह सत्य है कि दोनों ही एक दूसरे से विच्छिन्न रूप में भी मानव भावों के आलम्बन हो सकते हैं और होते भी हैं, किन्तु दोनों की उचित सम्बद्धता में तीव्र प्रभावोत्पादकता है।

एक बात और। प्रकृति का मानवीकरण साहित्य-क्षेत्र की ही विशेषता है। जीवन में हम कभी भी प्रकृति को इस रूप में नहीं देखते और देखते भी हैं तो बहुत कम। साहित्य प्रकृति को मानव के समतुल्य प्रतिष्ठापित कर मानव हृदय को व्यापकता एवं दिव्यता प्रदान करता है।

इसके अतिरिक्त प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कुछ अन्य भी बातें हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

प्रकृति की चित्रपटी में ही दर्शन के गूढ़ रहस्यों को झलकाने की बात ऊपर कही जाचुकी है। इसके अतिरिक्त जीवन के अन्य सिद्धांतों के प्रतिपादन में भी कवि प्रकृति से सहायता लेता है। 'सुख-दुःख' कविता में कवि बादल और चाँद के खेल का वर्णन करता है। 'अनित्य जग' में कवि संसार की

अनित्यता दिखाने के लिए ही कहता है—

"आज तो सौरभ का मधुमास,
शिशिर में भरता सूनी साँस !"

इस दृश्य से कवि द्वारा प्रदर्शित संसार की परिवर्तनशीलता की करुण अनुभूति हृदय में गम्भीर रूप ग्रहण कर उदित होती है। इसी प्रकार "नित्य जग" में भी "अतल से एक अकूल उमग" वाले छन्द में प्रकृति का दर्शन से मधुर मिश्रण किया है। "एक ही तो असीम उल्लास" में कवि वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद का काव्यात्मक प्रतिपादन करता है।

(८) प्रस्तुत-अप्रस्तुत—पन्त में कई स्थानों पर हमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत का सामंजस्य भी मिलता है और मानव भावना का व्यापक प्रभाव भी, जिसे जायसी की एक प्रधान विशेषता माना जाता है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के सामजस्य के स्थल हैं "ग्रंथि से—" की 'इन्दु पर, उस इन्दुमुख पर—' वाली पक्तियाँ। उधर चन्द्रमा उदित है, इधर कवि के सामने बाला का मधुर मुख। उधर बाल रात्रि (सध्या) है, इधर अलक। "एक तारा" में 'गगा के चल-जल में·········किस मग !' तक भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत का मधुर सामजस्य दिखाई पड़ता है।

(९) व्यापक प्रभाव—मानव भाव का प्रकृति में व्यापक प्रसार इन स्थलों में देखा जा सकता है।

"इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में·······" (ग्रन्थि) कवि के हृदय की जिज्ञासा सारी प्रकृति मे विद्यमान है।

देखिए संसार की अनित्यता के कारण सारा विश्व किस प्रकार आतंकित है—

"अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश
सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडगन !"

इसी प्रकार "एक तारा" में 'आकांक्षा के उच्छ्वसित वेग' से सागर-रवि, शशि, उडगन सभी व्याकुल और स्पन्दित हैं।

"आँसू की बालिका" में एक बहुत ही सुन्दर छद है जिसमे निराश व्यक्ति को प्रकृति से सहानुभूति और करुणा का आश्वासन मिलता है—

तेरे उज्ज्वल आँसू सुमनों में सदा
वास करेंगे, भग्न हृदय ! उनकी व्यथा
अनिल पोंछेगी, करुण उनकी कथा
मधुप बालिकाएँ गाएँगी सर्वदा !

प्रकृति और मानव के तादात्म्य के ऐसे करुण एवं मर्मस्पर्शी चित्र कम ही मिलेंगे।

१०—मानसीकरण—"गगा" कविता में हमे प्रकृति का एक और ही ढङ्ग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग दिखाई देता है। इसमें कवि भौगोलिक परिचित गगा से भिन्न एक लोक चेतना की गगा की मजुल कल्पना करता है। यह गगा का प्रतीक प्रयोग भी नहीं, समासोक्ति या अन्योक्ति भी नहीं है। इसे ही मैं प्रकृति का मानसीकरण कहता हूँ। यह अन्य सभी पद्धतियों से अधिक परिमार्जित एवं प्रभावपूर्ण है। एक परिचित मूर्त दृश्य के समानान्तर एक सूक्ष्म एव जटिल दृश्य को इस कुशलता से रखना उद्बुद्ध प्रतिभा का ही काम है। गंगा के प्रति जो सात्विक, मधुर भावनाएँ हृदय में विद्यमान हैं, "वह जनमन से निःसृत गगा" को देखकर और भी दिव्य एव सशक्त रूप धारण कर लेती है।

प्रकृति के प्रति बदलता हुआ दृष्टिकोण

चेतना से बढ़कर सजग एव व्यग्र कोई अन्य पदार्थ नहीं है। वह प्रतिक्षण प्रभावित होती रहती है, नए भाव रूपों को जन्म देती रहती है। यह परिवर्तन होता अवश्य है। यह बात दूसरी है कि वह विकास का पथ पकड़ें, या अवनति की गर्त में फिसल पड़े।

प्रकृति का मूर्त रूप सुषमा से भरा पूरा है। वह चेतना को प्रभावित करता है। मानव-समाज भी मानव के अन्तर्जगत पर स्पष्ट प्रभाव अङ्कित कर देता है। यह प्रभाव प्रकृति के मूर्त रूप को विविध भावनाओं मे रग डालता है। जैसे-जैसे यह प्रभाव बदलता जाएगा, प्रकृति का रंग भी परिवर्तित होता जायगा।

वीणा मे गीतों के विषय तीन हैं—कवि की माँ की पूज्य स्मृति, प्रकृति का रम्य प्रांगण, और विराट् शक्ति के प्रति विनीत निवेदन। किन्तु मूलतः इन तीनों में बहुत साम्य है। प्रकृति को कवि माँ की कृति बताता है—

"यह चित्र मा ! जो तूने है
चित्रित किया नयन सम्मुख·······।"

मा के प्रति उसकी भावना भक्ति से रगी है। ईश्वर सबन्धी प्रार्थनाओं में

और माँ के प्रति प्रस्फुटित उद्‌गारो में कहीं कहीं कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

आरम्भ में ही कवि ने कुछ आदर्श बना लिये थे। तभी तो वह प्रकृति से शिक्षा प्राप्त करना चाहता है। प्रकृति के प्रति उसके मन में कोमल जिज्ञासा का भाव भी है।

/'ग्रथि' मे कवि के प्रणय की असफलता सिसकती दिखाई देती है। कवि के सूक्ष्म-विस्तृत प्रकृति-निरीक्षण का उपयोग इस कृति में प्रचुर-अमद अप्रस्तुत विधान में ही लक्षित होता है/ 'ग्रन्थि' की सॉद्र करुण धारा, सस्कृत बहुला पदावली, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं आदि की लम्बी लड़ियाँ सहसा प्रियप्रवास की याद दिला देती हैं।

'पल्लव' में प्रकृति का शैली गत प्रयोग बहुत ही विशद एव प्राँजल बन पड़ा है। लाक्षणिक मूर्त्त विधानों की प्रचुरता है। जहाँ एक ओर कवि बाल-जाल को ठुकरा कर प्रकृति प्रेम में बँधे रहने की भावना प्रकट करता है, वहाँ उसे अपनी प्रिया 'एक कलिका में ही सम्पूर्ण बसत' सी दिखाई देती है। प्रकृति प्रेम और वियोग वेदना की मिश्रित लहरियों के सुन्दर हार 'आँसू' 'उच्छ्‌वास' आदि में मिलते हैं। अभी तक कवि की दृष्टि प्रकृति के कोमल और रम्य रूप की ओर गई थी। सहसा उसके जीवन में कोई भयकर आघात होता है। बौद्धिक सघर्ष चरम सीमा को प्राप्त कर 'परिवर्तन' मे बरस पड़ता है। प्रकृति के उग्र रूप की ओर उसकी दृष्टि जाती है। यह उग्र रूप उद्दीपन के उग्र रूप से भिन्न है। यह भयंकरता भाव गत नहीं, यथार्थ है। सभी को इसका अनुभव होता है। कवि को जग की अनित्यता का ज्ञान होता है, फिर निष्ठुर परिवर्तन का तूफान उठ खड़ा होता है और अन्त में नित्य जग की करुण शान्ति का स्वर सुनाई पड़ता है।

कवि की चेतना पर परिवर्तन ने जो आघात किया उसने उसे सवेदनशील बना दिया। नसका चिन्तन 'गुञ्जन' में अधिक सतुलित रूप प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा। 'नित्य जग' के समन्वय में क्षणिक तुष्टि थी और वह भी सभवत· व्यक्तिगत। पल्लव के बाद कवि का सपूर्ण प्रयत्न समन्वय-जन्य तुष्टि को स्थायी एव लोक ग्राह्य बनाने को उत्सुक हुआ। उसका विषण्ण हृदय दर्शन की ओर लपका जिसकी छाप 'एक तारा' एव 'नौका विहार' में प्राप्त हुई। प्रकृति भी कवि के चिन्तन को परिपुष्ट करने में सलग्न दिखाई देती है। साथ ही साथ 'चाँदनी' जैसी कविताए भी मिलती हैं जो कवि की प्राचीन प्रवृत्ति की अवशिष्ट मणियाँ हैं। "मुसकुरा दी थीं क्या तुम प्राण" कविता में प्रिया के उल्लास का व्यापक प्रभाव प्रकृति पर पड़ता दिखाई देता है।

युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में कवि का चिंतन और भी अधिक यथार्थ हो जाता है। समन्वय की भावना को मार्क्सवाद का स्थूल निर्दिष्ट आधार प्राप्त हो जाता है। प्रकृति गौण हो जाती है। मानव प्रधान हो जाता है। प्रकृति की यह गौणता सापेक्षिक दृष्टि से ही है। युगवाणी में 'झंझा में नीम' 'जीवप्रसू' आदि में प्रकृति का आलम्बन रूप मिलता है। ग्राम्या में गाँव की प्रकृति का वर्णन है (ग्राम चित्र, ग्राम श्री)। वह सुखद भी है और कुरूप भी। कवि प्रकृति से प्रेम करता है किन्तु भौतिकता के आवरण में वह बहुत कुछ छिप गया है। उत्तरा तक आते आते प्रकृति के नए रूप में दर्शन होते हैं। प्रकृति के विभिन्न दृश्य प्रतीकवत् प्रयोग में लाये जाते हैं। अन्योक्ति का रूप 'पतझर' में मिलता है। किन्तु अन्योक्ति की अपेक्षा प्रतीक रूप ग्रहण करना कवि को अधिक अभीष्ट है। प्रकृति का प्रतीक रूप में वर्णन अपेक्षत सरल है। उत्तरा में प्रकृति का उद्दीपन रूप भी मिलता है, मानवीकरण भी दिखाई देता है। एक स्थान पर प्रकृति मे खो जाने की भावना-'वीणा' की रचनाओं में जिसकी प्रचुरता है—प्राप्त होती है—

> "तुम मुझे डुबा लो अपने में
> या मुझमें जाओ स्वय डूब,
> तुम फूटो मेरा मोह चीर
> ज्यों कहती भू चीर दूब।" 'शरद चेतना'

यहाँ शरद को नव चेतना का प्रतीक माना है। किन्तु प्रकृति प्रेम भी ध्वनित होता है।

२३—पन्त और रस-सिद्धान्त

(श्री तारक नाथ वाली, एम० ए०)

कवि पन्तके विषय में यह कहा जाता है कि उसने अपने 'गुञ्जन' के बाद के काव्य में रस सिद्धान्त की उपेक्षा की है किन्तु केवल इतना कह देना पर्याप्त नहीं है और इसलिये यह कथन असङ्गत सिद्ध हो जाता है। कवि पन्त पर ही यह आक्षेप क्यों ? सम्पूर्ण आधुनिक काव्य का परीक्षण करने पर क्या हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते ? पन्त के काव्य में रसानुभूति खोजने से पहले हमें रस सिद्धान्त की सामान्य बातों को समझ लेना होगा।

यह सभी जानते हैं कि भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में रस का विवेचन कर उसकी प्रतिष्ठा की। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है। नाटक में कथावस्तु का एक विशिष्ट सगठन होता है। रस की दृष्टि से देखते हुए उस सगठन विशेष की अपेक्षा कथावस्तु का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि साहित्य की जिन शैलियों में घटनाएँ और व्यापार सम्बद्ध होकर कथा वस्तु के रूप में रहते हैं, उनमें रसानुभूति का प्रसार आवश्यक हो जाता है। उपन्यास कहानी आदि आधुनिक युग की उपज हैं। उनमें कथावस्तु रहती है। इसीलिए उनमें प्रसङ्गानुकूल मधुर या कठोर भावों की अनुभूति पाठक को होती ही है। प्रबन्ध प्राचीन काल में रचे ही जाते थे। उनमें भी रसकी एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित रहती है जो कथा के नीरस मरु-अशों को भी स्निग्ध करती हुई चलती है। निबन्ध, गीतकाव्य, रिपोर्ताज आदि साहित्य-शैलियों का उपरोक्त साहित्य रूपों से एक महत्वपूर्ण भेद यह है कि इनमें सम्बद्ध कथा का अभाव है। इसलिये इनमें रस की छान बीन करते समय हमें इन्हें एक भिन्न दृष्टिकोण से देखना होगा।

क्या गीत रसोद्रेक करने में समर्थ हैं ?

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि क्या गीत रसोद्रेक करने में समर्थ हैं ? इस प्रश्न को सुलझाते समय हमें यह बात सदैव ध्यान में रखनी पड़ेगी कि गीतों में कथाधारा का अभाव रहता है।

युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में कवि का चिंतन और भी अधिक यथार्थ हो जाता है। समन्वय की भावना को मार्क्सवाद का स्थूल निर्दिष्ट आधार प्राप्त हो जाता है। प्रकृति गौण हो जाती है। मानव प्रधान हो जाता है। प्रकृति की यह गौणता सापेक्षिक दृष्टि से ही है। युगवाणी में 'झंझा में नीम' 'जीवप्रसू' आदि में प्रकृति का आलम्बन रूप मिलता है। ग्राम्या में गाँव की प्रकृति का वर्णन है (ग्राम चित्र, ग्राम श्री)। वह सुखद भी है और कुरूप भी। कवि प्रकृति से प्रेम करता है किन्तु भौतिकता के आवरण में वह बहुत कुछ छिप गया है। उत्तरा तक आते-आते प्रकृति के नए रूप में दर्शन होते हैं। प्रकृति के विभिन्न दृश्य प्रतीकवत् प्रयोग में लाये जाते हैं। अन्योक्ति का रूप 'पतझर' में मिलता है। किन्तु अन्योक्ति की अपेक्षा प्रतीक रूप ग्रहण करना कवि को अधिक अभीष्ट है। प्रकृति का प्रतीक रूप में वर्णन अपेक्षतः सरल है। उत्तरा में प्रकृति का उद्दीपन रूप भी मिलता है, मानवीकरण भी दिखाई देता है। एक स्थान पर प्रकृति में खो जाने की भावना-'वीणा' की रचनाओं में जिसकी प्रचुरता है—प्राप्त होती है—

"तुम मुझे डुबा लो अपने में
या मुझमें आओ स्वयं डूब,
तुम फूटो मेरा मोह चीर
ज्यों कहती भू चीर दूब।" 'शरद चेतना'

यहाँ शरद को नव चेतना का प्रतीक माना है। किन्तु प्रकृति प्रेम भी ध्वनित होता है।

२३—पन्त और रस-सिद्धान्त

(श्री तारक नाथ बाली, एम० ए०)

कवि पन्तके विषय में यह कहा जाता है कि उसने अपने 'गुञ्जन' के बाद के काव्य में रस सिद्धान्त की उपेक्षा की है किन्तु केवल इतना कह देना पर्याप्त नहीं है और इसलिये यह कथन असङ्गत सिद्ध हो जाता है। कवि पन्त पर ही यह आक्षेप क्यों? सम्पूर्ण आधुनिक काव्य का परीक्षण करने पर क्या हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते? पन्त के काव्य में रसानुभूति खोजने से पहले हमें रस सिद्धान्त की सामान्य बातों को समझ लेना होगा।

यह सभी जानते हैं कि भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में रस का विवेचन कर उसकी प्रतिष्ठा की। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है। नाटक में कथावस्तु का एक विशिष्ट सगठन होता है। रस की दृष्टि से देखते हुए उस सगठन विशेष की अपेक्षा कथावस्तु का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि साहित्य की जिन शैलियों में घटनाएँ और व्यापार सम्बद्ध होकर कथा वस्तु के रूप में रहते हैं, उनमें रसानुभूति का प्रसार आवश्यक हो जाता है। उपन्यास कहानी आदि आधुनिक युग की उपज हैं। उनमें कथावस्तु रहती है। इसीलिए उनमें प्रसङ्गानुकूल मधुर या कठोर भावों की अनुभूति पाठक को होती ही है। प्रबन्ध प्राचीन काल में रचे ही जाते थे। उनमें भी रस की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित रहती है जो कथा के नीरस मर्म-अशों को भी स्निग्ध करती हुई चलती है। निबन्ध, गीतकाव्य, रिपोर्ताज आदि साहित्य-शैलियों का उपरोक्त साहित्य रूपों से एक महत्वपूर्ण भेद यह है कि इनमें सम्बद्ध कथा का अभाव है। इसलिये इनमें रस की छान बीन करते समय हमें इन्हें एक भिन्न दृष्टिकोण से देखना होगा।

क्या गीत रसोद्रेक करने में समर्थ हैं?

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि क्या गीत रसोद्रेक करने में समर्थ हैं? इस प्रश्न को सुलझाते समय हमें यह बात सदैव ध्यान में रखनी पड़ेगी कि गीतों में कथाधारा का अभाव रहता है।

यह सत्य है कि पन्त के सभी गीतों में हमें रस छलकता दिखाई नहीं देता। प्राचीन काल मे भी गीतों की रचना की जाती थी। उदाहरण के लिए हम विद्यापति, सूर और तुलसी को ले सकते हैं। उनके गीतों को पढते समय हमारा हृदय रस से सिक्त हो उठता है। फिर भी हमें कुछ ऐसे पद अवश्य मिलते हैं जिनमें रसानुभूति का अभाव मिलता है। उदाहरण के लिए हम तुलसी का प्रसिद्ध पद 'केशव कहि न जाय का कहिए' ले सकते हैं। इसमें रस प्रवाह नहीं है। फिर भी यह तुलसी के सर्व श्रेष्ठ पदों में से माना जाता है। कारण इसमें कला की कुशलता के साथ साथ विचारों की सघनता भी है। मार्मिक अभिव्यक्ति ने दार्शनिक विचारों को भी साहित्य का माधुर्य प्रदान कर दिया है। अतः यह सिद्ध है कि गीतों की श्रेष्ठता का आधार केवल उनकी रसोद्रेक विषयक शक्ति ही नहीं है। विचारों की महत्ता और अभिव्यक्ति की मौलिकता एव उत्कृष्टता भी गीत को श्रेष्ठ बना सकती है।

आधुनिक युग के साहित्य और प्राचीन् युग के साहित्य की प्रवृत्तियों में उतना ही अन्तर है जितना इन युगो की प्रवृतियों में है। युग का विकास होता है, मानव चेतना का उन्नयन होता है, नवीन मूल्यों और मानों का आविर्भाव होता है और प्राचीन मूल्यों और मानों का नाश या परिवर्तन होता है। कल के साहित्यकार की दृष्टि भाव की ओर अधिक रहती थी। आज का कलाकार बौद्धिक चेतना के प्रति भी सजग है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन साहित्यकारों में बौद्धिक जागरण का अभाव था। नहीं यह बात नहीं है। किन्तु उनका बौद्धिक चिंतन गीतों में अभिव्यक्त न होकर महाकाव्य के रूप में जनता के सामने आता था। तुलसी का लोकनायकत्व का आधार उनकी विनयपत्रिका आदि नहीं, वरन् उनका रामचरितमानस है। सूर लोकनायक क्यों न हो सके? क्या उनमें अनुभूति की वह तीव्रता नहीं थी जो तुलसी में है? अधिकांश विद्वान मानते हैं कि सूर की अनुभूति तुलसी की अनुभूति से अधिक गम्भीर और गहरी थी। किंतु सूरदास ने समाज की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लीं। वह केवल कवि थे। तुलसी कवि होने के साथ साथ समाज के सुधारक भी थे। उनका साहित्यिक महत्त्व भी है और सामाजिक भी। सामाजिकता का पूर्ण अभाव किसी भी कवि में नहीं होता। सूरदास ने निर्गुणिए हठयोग का खण्डन कर अपनी सामाजिक-सजगता का परिचय दिया है। किंतु यह गौण है। तुलसी म यह प्रधान होगई है। एक बात और भी समझ लेनी चाहिए। सामाजिक सजगता का अभाव किसी कवि का मूल्य कम नहीं कर देता। क्योंकि यह कलाकार की असमर्थता का नहीं, रुचि की विशेषता

का परिचायक है। रामचरितमानस में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ रस का वेग क्षीण हैं। तुलसी की सामाजिकता या दार्शनिक धर्म परायणता वेग से मुखरित हो उठी है। किन्तु उन स्थलों का भी अपना महत्व है।

जिस प्रकार तुलसी में हमें कवित्व और सामाजिकता का सामंजस्य मिलता है, उसी प्रकार पन्त में भी। कवि में जहाँ रस धारा क्षीण हुई है, वहाँ उसकी सामाजिकता प्रबल हो उठी है। किन्तु पन्त ने अपने युग-चिन्तन की अभिव्यक्ति भी गीतों में ही की। उन्होंने तुलसी सा मानस नहीं लिखना चाहा। क्यों ?

पन्त ने इस प्रकार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया। छायावादी शैली और व्यक्तिवादी भावों में जकड़े हुए गीतों को चिंतन के अनन्त क्षेत्र में घूमने की स्वच्छन्दता दी और आधुनिक युग की प्रायः समस्त चिन्तन धाराओं को अपने में बाँध लिया। गीतों में प्रतिपाद्य विषय की ऐसी विभिन्नता कहीं मिलेगी भी नहीं।

गीत और निबंध

जहाँ तक वर्ण्य विषय की बहुरंगता का प्रश्न है, पन्त के गीतों की तुलना आधुनिक साहित्य में प्रचलित निबंधों से की जा सकती है। ऊपर इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि निबंध में भी रस का अभाव रहता है। यहाँ भावात्मक निबंध अपवाद स्वरूप है। निबंध में छोटे से छोटे से लेकर बड़े से बड़े विषय का प्रतिपादन किया जाता है। पन्त के गीतों में भी ऐसा ही मिलता है। पन्त के अतिरिक्त अन्य आधुनिक कवियों ने भी विविध विषयों को गीतों में ही बाँधा है। प्रश्न हो सकता है कि विचारात्मक विषय को गीतों में प्रस्फुटित करने की अपेक्षा यदि कवि उन्हें निबंधों में खोलते तो अच्छा होता। यह ठीक है। कारण निबंध में विचारों को पल्लवित करने के लिए अवकाश रहता है, गीत में नहीं। किन्तु गीत की शैली वर्ण्यवस्तु के महत्व को बढ़ा भी सकती है। और फिर विषय की स्पष्ट अभिव्यक्ति का कारण प्रतिभा है न कि शैली। इन सब बातों को देखने के लिए पन्त की 'महात्माजी के प्रति' कविता ली जा सकती है। यह विचारात्मक कविता है। किन्तु क्या निबंध में यह विचार इससे अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त किए जा सकते हैं ? मुझे इसमें सन्देह है। हाँ बाल-बुद्धि के लिए अपेक्षित सरलता कविता में नहीं है, और वह तो शायद निबंध में भी नहीं होती।

अब प्रश्न हो सकता है कि निबंध और कविता में क्या भेद है? स्पष्ट है कि यह भेद विषय पर आधारित नहीं है वरन् शैली पर आधारित होता है। निबन्धकार और कवि की शब्द साधना में होता है।

बुद्धिगत साधारणीकरण

यहाँ एक और प्रश्न उठता है। हम ऊपर उन गीतों का उल्लेख कर चुके हैं, जिनमें रसानुभूति का नितान्त अभाव है। तो 'वाक्य रसात्मक काव्य' साहित्य की प्रसिद्ध एवं मान्य परिभाषा—अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो गई और रस-सिद्धान्त का एकछत्र साम्राज्य समाप्त होगया। किन्तु रस सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक उपयोगिता के कारण उसका त्याग अवाञ्छनीय है। आवश्यकता इस बात की है कि हम आधुनिक युग की परिस्थितियों के अनुरूप उसकी नई परिभाषा करें। रस शब्द में नई शक्ति भर दें। यह आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी। प्राचीन सिद्धान्तों को नवीन परिस्थितियों की आग में जला कर उन्हें नए रूप में ढालने की आवश्यकता प्रत्येक युग के व्यक्ति को रही है।

डाक्टर रागेय राघव ने ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर इस मत की स्थापना की है कि प्राचीन काल में मानव-मानव की समता का जो नाद उठा उसकी अभिव्यक्ति बौद्धिक जगत में आत्मा की अखण्ड एकता के रूप में और भाव जगत (साहित्य जगत) में रस और साधारणीकरण की समता के रूप में हुई। यह तो हुई चेतन जगत की एकता की बात। आज विज्ञान के युग ने "वसुधैव कुटुम्बकम्"—मानव मानव के एकत्व की भावना को साक्षात प्रतिफलित कर दिया है। आज भूत जगत की एकता भी स्थापित हो गई है। तो आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है उपरोक्त चेतन जगत की एकता का भूत जगत की एकता से सामजस्य। कवि पन्त ने इस ओर महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

ऊपर रस के प्राण—एकत्व भावना का उल्लेख हो चुका है। किन्तु जैसा कि स्पष्ट है उस युग में भी एकत्व की प्रतिष्ठा के दो क्षेत्र-दर्शन और साहित्य बुद्धि और हृदय—ये ही आज की माँग है। बुद्धि और हृदय के एकत्व की, दर्शन और साहित्य के सामजस्य की, तर्क और भाव के सामरस्य की। यही एकत्व भावना की अन्तिम सीढ़ी होगी। इसी में आकर हमारे ऋषियों और साहित्य शास्त्रियों द्वारा प्रवर्तित एकत्वबुद्धि की चरम प्रतिष्ठा होगी और प्रत्यक्ष उपयोगिता में उसकी महिमा अनुपम होगी।

'आधुनिक कवि' की भूमिका में कवि ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि बुद्धि और हृदय में कोई विरोध नहीं है। कुत्सित तर्कों में उलझकर, या अध-विश्वासों में फँसकर ही मानव की अवनति होती है। आज के युग में बुद्धि और हृदय में विरोध नहीं, दोनों को कदम से कदम मिलाकर मानव कल्याण के लिए अग्रसर होना चाहिए। 'ज्योत्स्ना' में कवि ने कुमार से कहलाया है।

"दार्शनिक जिस सत्य के दर्शन प्रज्ञा द्वारा करता है, कवि को उस सत्य को हृदय से सींचकर सजीव कर देना होता है'''"पृ० ६२

दार्शनिक और कवि, बुद्धि और हृदय दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। दोनों मिलकर ही सत्य का साक्षात्कार कराने में समर्थ हैं। माध्यम भिन्न-भिन्न हैं। एक बुद्धि के द्वारा देखता है दूसरा हृदय के द्वारा। इस सत्य का घोष कवि 'वही प्रज्ञा का सत्यस्वरूप—' आदि पंक्तियों में भी करता है।

इस नवीन स्वस्थ दृष्टिकोण को अपनाने के कारण कवि के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह रस की नवीन परिभाषा दे। कुमार कहता है—

"हम जीवन को सार-रूप में ग्रहण कर सकते हैं, ससार रूप में नहीं। जीवन के इस सार से, सत्य के इस सारल्य से, मनुष्य को मिलाकर, कला उसे सब से मिला देती है। यही सत्य का एकत्व, काव्य का लोकोत्तरानन्द रस है।" पृ० ६१ इस परिभाषा में हम उसी विशद एकत्व भावना की प्रतिष्ठा पाते हैं जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है।

रसानुभूति लोकानुभूति का साहित्यिक संस्करण है। लोक पक्ष में जो कार्य, कारण और सहकारी होते हैं, वही साहित्य क्षेत्र में क्रमशः अनुभाव, विभाव और संचारी कहलाते हैं। साधारणीकरण के सिद्धान्त के विषय में दो मत हैं। प्रथम यह कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म को होता है, दूसरा यह कि साधारणीकरण का संबंध सामाजिक के हृदय से है न कि आलम्बन आदि से। साधारणीकरण संबंधी मूल वाक्य यह है कि रसलीन सामाजिक को विभावादि साधारणतया प्रतीत होते हैं। उपरोक्त दोनों मतों को इसीसे सींचा जा सकता है। प्रथम मत के अनुसार साधारणीकरण एक क्रिया है, दूसरे मत के अनुसार साधारणीकरण अवस्था है। यदि साधारणीकरण क्रिया है तो भी उसका फल होता है हृदय की मुक्ति, और यदि वह अवस्था है तो वह है हृदय की मुक्ति की अवस्था।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या आलंबन मूर्त व्यक्ति या जगत ही हो सकता है? क्या बौद्धिक सिद्धान्त और नैतिक आदर्श मनुष्य के आलम्बन

नहीं हो सकते ? इसका उत्तर हमें लोकानुभूति से ही मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति का किसी-न-किसी दार्शनिक सिद्धांत, किसी-न-किसी नैतिक आदर्श के प्रति लगाव होता है, किसी से विरक्ति भी हो सकती है। किसी के लिए आध्यात्मिक चिंतन स्पृहणीय है और किसी के लिए व्यर्थ का ढोंग। जो भी हो, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य के जगत में भी बौद्धिक-मतवाद और नैतिक आदर्श आलम्बन रूप मे ग्रहण किए जा सकते हैं। पंत की समाजवाद, गाधीवाद, विकासवाद आदि सबधी कविताओं में यह सूक्ष्म विचारधाराएँ ही आलम्बन के रूप में ग्रहण की गई हैं।

सूक्ष्म-चिंताओं का साहित्य में आलबन रूप ग्रहण करना आज के युग के लिए आवश्यक भी है। क्योंकि विज्ञान के चमत्कारों ने आज के युग को इतना प्रभावित नहीं किया जितना उन चमत्कारो पर आश्रित मतवादों ने। उनकी उपयोगिता परखना, उनके काले और शुभ पक्षो का उद्घाटन करना, उनके प्रति जनता की रुचि को मार्जित करना साहित्यकार का कर्तव्य है। इन मतवादों की सूक्ष्मता दुरूहता को जन्म देती है। चेतना सम्बन्धी चिंताओं की अगोचरता कहीं-कहीं गुह्यता भी बन सकती है। इस दोष को बचाने के लिए कवि पत ने प्रतीकों का प्रयोग किया है। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' जैसे मूर्त प्रतीक ही नहीं बसन्त, शरद् आदि चिरपरिचित प्रकृति के रूपों और परिवर्तनों को भी प्रतीकवत् ग्रहण किया गया है।

अब प्रश्न आता है आलम्बन रूप मे ग्रहण किए गए इन सिद्धान्तों के साधारणीकरण का। साहित्य चिंतन मे अभी तक भावगत साधारणीकरण की ही बात की जाती रही है। किन्तु क्या यह आवश्यक है कि साधारणीकरण (समत्व) भावों का ही हो सकता है ? (साधारणीकरण को समत्व कहने पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि ऊपर हम समत्व को साहित्य का प्राण सिद्ध कर चुके हैं।) यह मानना अनुभूत सत्य के विपरीत होगा। सभी विचारगत समत्व की अनुभूति जीवन में करते हैं। इसी समत्व के आधार पर ही तो बड़े-बड़े राजनैतिक-सामाजिक दल बनाए जाते हैं जो महान कार्य करते हैं। बौद्धिक समन्वय सभव भी है और इसका अबाध महत्त्व भी। साहित्य में भी इसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः साधारणीकरण बुद्धिगत भी हो सकता है।

यहाँ यह शका उठ सकती है कि यदि साहित्य मे बुद्धिगत साधारणीकरण को मान लिया गया तो राजनैतिक दलों और दार्शनिक मतवादों में भी तो यह सभव है। फिर साहित्य मे और राजनीति या दर्शन में क्या भेद रह

जाता है।

समत्व साहित्य का प्राण है। समत्व और एकागिता मे कटु विरोध है। अतः साहित्य की दूसरी प्रधान विशेषता हुई उसकी उदारता, उसकी स्वार्थहीनता और यही विशेषता उसे दर्शन या राजनीति के दलों से अलग करती है। सभी राजनैतिकदल या दार्शनिक सम्प्रदाय एकागी होते हैं। उनकी अपनी सभी मान्यताएँ सत्य हैं और जो इसके बाहर हैं वह सभी झूठ और त्याज्य। आज कल ऐसी एकागिता साहित्य मे बहुत भरी जा रही है। मार्क्सवादी साहित्यकार और आलोचक एकागी हैं, उनकी कृतियों में स्वार्थहीनता नहीं है। इसीलिए वह राजनीति से अभिन्न है और कुछ ऐसे भी साहित्यकार और आलोचक हैं जिन्होंने मार्क्सवाद के उपयोगी तत्वों को अपनाया है। पन्त ने भी ऐसा ही किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बुद्धिगत साधारणीकरण के मान लेने से साहित्य के सच्चे रूप और प्राण को अधिक शक्ति और पुष्ट आधार मिलता है। गम्भीर दृष्टि से आज के साहित्य का अवलोकन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धिक साधारणीकरण को साहित्य और साहित्यकार स्वीकार कर चुके हैं। आलोचक को इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर साहित्य के एक स्थायी मानदण्ड के रूप में प्रतिष्ठित करना है। साहित्य मे भाव की अपेक्षा बौद्धिकता प्रधान होती जा रही है। जब साहित्य में भाव का साम्राज्य था तब भावगत साधारणीकरण मान्य हुआ। आज भी रसीले साहित्य के लिए इस कसौटी का प्रयोग होता है। आज साहित्य में बौद्धिकता प्रधान है, तब बुद्धिगत साधारणीकरण के प्रतिपादन और स्वीकृति की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस सत्य को न समझने वाले प्रायः कहा करते हैं कि कविता का युग समाप्त होरहा है। यह भ्रान्त धारणा है जो अधपचे चिन्तन का परिणाम है। कविता का युग न ही समाप्त हुआ है और न ही होगा। कविता नई प्राणशक्ति में उल्लसित हो रही है। काव्य-दर्शन में आमूल परिवर्तन हो रहा है।

काव्य के अन्तरग का यह ह्रास और विकास सदैव से चला आ रहा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदिकाल में कविता का विषय वीर भावना थी। भक्तिकाल मे बदलकर वह भक्ति हुई। रीतिकाल मे शृङ्गार और आधुनिक काल में जो कुछ भी सुन्दर और ग्राह्य था वह सभी काव्य के अन्तरग में समाता जा रहा है। यह काव्य के विकास का परिचायक है। उसकी सामर्थ्य का बढ़ना लोक के कल्याण के लिए ही है। कोई समय था जब केलि-क्रीड़ा के नग्न चित्र साहित्य में प्रस्तुत किये जाते थे। उन्हें गन्दगी कहा गया, पाप

कहा गया। इधर फ्रायडवादी लेखकों ने फिर वही तमाशे आरम्भ किए। उनका कटु विरोध हुआ, और हो रहा है। युग की धारा बदलती है, जीवन-क्षेत्र के उपेक्षित प्राङ्गण सिंचित हो काव्य प्राङ्गण में लहलहा उठते हैं। इस विकास क्रम को समझना चाहिए।

सूक्ष्म चिंताओं का आलम्बन रूप में ग्रहण करने और बुद्धिगत साधारणीकारण को मानने में एक भ्रान्ति भी बाधा बन सकती है। वह है बुद्धि की अपेक्षा हृदय का श्रेष्ठ समझना। इस भ्रान्तधारणा के पोषक प्रसाद की कामायनी का आधार लेंगे, पन्त की उक्तियों का आधार लेंगे, किन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि जहाँ जहा भी सूक्ष्म-चेताओं ने बुद्धि को निकृष्ट बताया है, वहाँ वह बुद्धि का अर्थ वह नही लगाते जो उपरोक्त धारणा के पोषक लगाएँगे। जो बुद्धि शुद्ध श्रद्धा को कुण्ठित करदे, जो तर्क प्रशस्त विश्वास को खण्डित करदे वह अवश्य त्याज्य है। किन्तु बुद्धि और हृदय के सामरस्य की बात ऊपर भी कही गई है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पुरुष बुद्धि का प्रतीक है, नारी हृदय की प्रतीक है। जिस प्रकार नारी और पुरुष के मधुर मिलन से जीवन लहलहा उठता है उसी प्रकार बुद्धि और हृदय के प्रिय सामरस्य से जीवन प्रबुद्ध हो उठता है। आज के युग में इसी प्रबोधन की आवश्यकता है। और वह तभी अवतरित होगा जब बुद्धि और हृदय का सघर्ष मिट जाएगा, जब दोनों का ग्रन्थि बन्धन हो जाएगा। इसी प्रकार साहित्य क्षेत्र में भी जब भावगत साधारणीकरण और बुद्धिगत साधारणीकरण दोनों एक दूसरे के पूरक मानो के रूप में ग्रहण कर लिए जायँगे, तभी साहित्य के विशद्, पूर्ण एव प्राँजल स्वरूप का विकास होगा। पन्त के स्वर्ण काव्य और उत्तरा आदि परवर्ती रचनाओं का सही मूल्यांकन तभी होगा, जब इन दोना सिद्धान्तों पर उसे कसा जाएगा।

रसानुभूति और बौद्धिक सहानुभूति

अब हम यह देखना है कि पन्त के व्यक्तित्व के विकास का कवि के राग तत्व पर क्या प्रभाव पड़ा है। साहित्य का प्राण जीवन है। यदि जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाए तो स्वाभाविक है कि साहित्य का स्वरूप भी बदल जाएगा।

"वीणा"—'वीणा' में कवि का सर्व प्रथम प्रयास है। उसम न तो जीवन की विभिन्नता के दर्शन की आशा की जा सकती है और न ही किसी विशिष्ट बौद्धिक जागरण की। इन रचनाओं में कवि का प्रकृति-प्रेम अत्यन्त

सरलता से व्यक्त हुआ। बचपन की स्वाभाविकता में ही कवि के हृदय में कुछ आदर्शों के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। उनकी पूर्ति के लिए वह प्रार्थना करता है। विनम्र स्वरों और प्रकृति के चित्रण में रस की गहराई नहीं है किन्तु भाव की मोहकता अवश्य है। इस संग्रह में जिन गीतों में सबसे अधिक प्रभावात्मकता दिखलाई देती है, वह हैं इनके रहस्यात्मक स्पर्श से अनुप्राणित गीत। कवि ने अपने को बालिका के रूप में चित्रित किया है। उस समय कवि का जीवन एकांगी एवं असङ्ग था। स्वभावतः उसे किसी साथी की कामना सताने लगी। वह बालिका के मृदुल स्वरों में अज्ञात प्रीतम को पुकारने लगा। इन स्वरों का कोमल माधुर्य्य अनन्य है। पवित्र प्रेम की यह किरण ग्रन्थि में प्रणय के वेग से प्रखर हो उठी। माँ को सम्बोधित कर लिखे हुए गीत भी पाठक के हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ते हैं। वीणा में रसानुभूति की गम्भीरता नहीं वरन् मनोहर स्थायित्व है। स्थायित्व का कारण है मानव जीवन की सहज भावनाओं की सरल अभिव्यक्ति। गम्भीरता के अभाव का कारण भी यही बचपन की सरलता है। वीणा की इन चार पंक्तियों में कवि ने अपने मानसिक हृदय का सच्चा चित्र खींचा है—

स्वप्न देखती थी मैं मादक,
किन्तु अचिर, अस्फुट सुखमय,
लता कुञ्ज में सोई हूँ मैं,
सुरभित सुमनों पर निर्भर।

"ग्रन्थि और पल्लव"—वीणा की मृदुल झङ्कार ग्रन्थि में सशक्त राग बनकर प्रकट हुई। ग्रन्थि में रसानुभूति पूरी-पूरी मात्रा में मिलती है। मिलन का माधुर्य्य भी है, प्रेम का सौन्दर्य भी है और वियोग का गाम्भीर्य्य भी है। प्रेम की असफलता ने हृदय की गम्भीरता को जगाया जिसे हृदय ने वाणी में सँजो दिया। 'पल्लव' में ग्रन्थि का वियोग-गाम्भीर्य्य कला का वैभव एवं प्रकृति के ऐश्वर्य की गोद पाकर और भी निखर उठा। वियोग की आग और भी चमक उठी। अनुभति तीव्रतम हो उठी। विराट जीवन के अबाध परिवर्तन के प्रति उद्बुद्ध कवि की सजगता "परिवर्तन" में सघन हो उठी। "निष्ठुर परिवर्तन" में कला का चरमोत्कर्ष है। वैसे सारी कविता में अनुभूति की तीव्रता है।

'गुंजन"—'गुञ्जन में कवि अपने व्यक्तित्व से बाहर झाँकता है। 'परिवर्तन' की बहिर्मुखी प्रवृत्ति में तूफान सा भयकर वेग था। उसे सन्तुलित करने की आवश्यकता थी। 'गुंजन' में यह आवश्यकता पूर्ण हुई। उसमें

'पल्लव' सी रस-सघनता तो नहीं है, किन्तु विषय की व्यापकता अवश्य है। पल्लव में हृदय ने बुद्धि को दबा लिया था। 'गुंजन' में बुद्धि उभरने लगी थी किंतु हृदय को दबाने के लिए नहीं वरन् अपना सहज गौरव प्राप्त करने के लिए। हृदय का अबाधित सञ्चरण भी कुछ कविताओं में मिलता है। वह स्वाभाविक है। कई रचनाओं में बुद्धि ने हृदय की शक्तियों को व्यापकता प्रदान की है। 'तप रे मधुर-मधुर-मन' में हृदय की विश्व करुणा का आधार बुद्धि ही है। कहीं भी बुद्धि ने हृदय को आक्रान्त कर अपने आप को भ्रष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया है। 'गुंजन' में अनुभूति उद्‌बोधन की किरणों से मण्डित है। 'पल्लव' पाठक के स्वार्थ व्यक्तित्व को गला देता है, किन्तु उसका परमार्थ-व्यक्तित्व में परिणय गुञ्जन में ही आकर होता है। बौद्धिक चिंताएँ साहित्य के हृदय को कैसे शक्ति प्रदान करती हैं, यह 'गुञ्जन' में "एक तारा", "नौका विहार" आदि में देखा जा सकता है। 'गुञ्जन' में अनुभूति की गम्भीरता उदात्त हो उठी है।

'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'

'गुञ्जन' में कवि हृदय ने व्यक्ति से बाहर झाका है, ससार के कल्याण की कामना भी की है, किन्तु वह वस्तु स्थिति के अध्ययन की ओर प्रवृत्त नहीं हुआ। यह हृदय का काम भी नहीं है। यथार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि हृदय पर नहीं बुद्धि पर अधिक विश्वास करे। उसने ऐसा ही किया। उसकी समीक्षात्मक चेतना ससार में उन्मुक्त सञ्चरण करने लगी। हृदय पीछे छूटने लगा। यथार्थ के सत्य-ज्ञान के लिये वह अपेक्षित भी था। 'युगान्त' से 'युगवाणी' और 'युगवाणी' से ग्राम्या में हृदय निरतर दबता गया, छिपता गया। 'युगान्त' में कवि के हृदय-युग का प्रायः अन्त हो गया, 'युगवाणी' में युग को बुद्धि की वाणी प्राप्त हुई, जो 'ग्राम्या' में ग्रामीणो तक सीमित हो गई। ग्राम्या की भूमिका में ही कवि ने गाँव के यथार्थ के प्रति अपनी बौद्धिक सहानुभूति की बात की है। बौद्धिक सहानुभूति का रूप समझना होगा।

प्रश्न होता है कि बौद्धिक सहानुभूति और हार्दिक-सहानुभूति मे क्या भेद है ? इसमें पहली बात तो यह समझने की है कि जिसके साथ हमारे हृदय का पूरा पूरा लगाव है, उसके दुख में हमें उससे हार्दिक सहानुभूति होगी। जिसके साथ हमारा सबंध हृदय तक नहीं पहुँचा, केवल बुद्धि तक—व्यवहार-ज्ञान-तक ही रहा है, उसके दुख में हमें उससे बौद्धिक सहानुभूति ही

होगी। तो क्या पंत के हृदय का ग्राम्य जीवन से भीतरी लगाव नहीं है? नहीं, बिल्कुल नहीं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो 'प्रतिक्रियात्मक साहित्य' का ही जन्म होता और फिर ग्राम्य-जीवन की वर्तमान सिद्धान्तहीन, अनैतिक, अन्ध विश्वासी अवस्था के साथ किसके हृदय का लगाव हो सकता है? कवि ने ग्रामीण-जीवन को जीवन के रूप में नहीं जर्जरित निष्प्राण आदर्शों के खण्डहर के रूप में देखा है। उससे हृदय का लगाव कैसा?

बौद्धिक सहानुभूति की उपरोक्त मीमाँसा में कोई यह दोष निकाल सकता है कि वह केवल दिखाने की चीज है, केवल एक विडम्बना मात्र है। इस दोष का सही निराकरण करने के लिये हमें केवल बौद्धिक सहानुभूति, जो एक सूक्ष्म मनोदशामात्र है, में नहीं उलझे रह जाना चाहिये। हमें बौद्धिक सहानुभूति करने वाले व्यक्ति तक बढ़ना पड़ेगा। बौद्धिक सहानुभूति व्यक्ति के स्वभाव का परिचय नहीं देती, वरन् व्यक्ति का स्वभाव ही बौद्धिक सहानुभूति के स्वरूप को निर्दिष्ट करता है। किसी ओछे व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित बौद्धिक सहानुभूति एक पाखण्ड मात्र होगी। कवि पंत द्वारा प्रदर्शित बौद्धिक सहानुभूति का एक निराला मूल्य है क्योंकि यही आगे चलकर लोक की मङ्गल साधना में प्रतिफलित होती है। ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति प्रकट करने वाले पंत के विरुद्ध तो बहुत से आलोचक उठ खड़े हुए, किन्तु आज ऐसे भी बहुत से महानुभाव हैं जिन्हें जनता के प्रति केवल शाब्दिक सहानुभूति है। उनका क्या किया जाय?

एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह सामने आता है कि क्या बौद्धिक सहानुभूति में हृदय बिल्कुल दबा रहता है? शब्दों पर ध्यान देने वाले तो कहेंगे कि जब सहानुभूति है ही बौद्धिक तो फिर उसमें हार्दिकता का सवाल ही क्या है। किन्तु यह अमान्य है क्योंकि केवल शब्द के आधार पर निर्णय देना नासमझी का काम है। मनोवैज्ञानिक विवेचन से यह सिद्ध होता है कि इसमें रागात्मकता भी रहती है। मानव के भीतर बुद्धि और हृदय के दो कटघरे नहीं हैं। दोनों चेतना की दो सरणियाँ हैं, अतः मूलतः एक ही हैं। किसी की बुरी दशा देखकर हृदय पर प्रभाव पड़ता ही है। यह प्रभाव ही सहानुभूति है। किन्तु जब मानव इसी में न डूबकर, उस बुरी दशा के कारणों का विश्लेषण करने में तत्पर होता है तो तभी इस हृदय की सहानुभूति में बौद्धिकता मिल जाती है और बौद्धिक सहानुभूति का उदय होता है। यहाँ बुद्धि दो काम करती है। एक तो उस बुरी दशा के कारणों पर विचार करती है, और दूसरा उसके नाश के उपाय सोचती है और नवीन कल्याणमय दशा का निरूपण करती है।

बुद्धि के ये दोनों व्यापार पन्त साहित्य में देखे जा सकते हैं। पाठक को 'ग्राम-चित्र' आदि रचनाओं में भावानुभूति होती ही है। यह ठीक है कि वह सघन नहीं है और ऐसी कविताएँ भी कम हैं।

''स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि' और 'उत्तरा' आदि परवर्ती काव्य

जिस प्रकार 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में बुद्धि के प्रथम व्यापार का प्रसार है, उसी प्रकार 'स्वर्णकिरण' आदि परवर्ती काव्य में उसके दूसरे व्यापार का। वैसे तो 'युगान्त' आदि में ही कवि भविष्य निर्माण के उपकरणों का संग्रह करता दिखाई देता है किन्तु उनका पूर्ण प्रकाश परवर्ती काव्य में ही बिखरा दिखाई देता है। इस काव्य का सही मूल्यांकन केवल भावगत-साधारणीकरण ही नहीं कर सकता। इसके लिये बुद्धिगत साधारणीकरण का प्रयोग करना पड़ेगा। जब कि कवि द्वारा प्रस्तुत आलम्बन का आधार सूक्ष्म बौद्धिक-चिन्ताएं हैं तो फिर उसे भाव पर परखना असंगत है। शास्त्रीय-सिद्धान्तों की कसौटी सुनार की कसौटी नहीं है जो सब प्रकार के,सोने के मूल्य से अवगत करा दे। साहित्य कसौटी के लिये नहीं है, कसौटी साहित्य के लिए है।

— —

२४—साकेत की उर्मिला

(प्रो० भारतभूषण सरोज, एम० ए०)

काव्य-यज्ञशाला में अपनी अस्थियों की आहुतियाँ देने वाली किंतु फिर भी साहित्य के समादृत क्षेत्र में उपेक्षित और अनादृत अव्यक्त वेदना की प्रतिमा नारियों ने कुछ वर्ष पूर्व रवीन्द्र के हृदय-उदधि में कुछ भाव उर्मियों को उद्वेलित किया था। विश्व कवि ने मूक साधना की उन प्रतिमाओं के प्रति जिनके लिए 'मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वती समाः' का कथन करने वाले अमर कवि की गिरा भी मौन रहीं, 'काव्येर उपेक्षिता' निबन्ध की रचना करके उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि का उपहार प्रदान करते हुए रवि बाबू की वाग्धारा इस रूप में प्रवाहित हो चली—"हाय अव्यक्त वेदना भेदी उर्मिला, एक बार तुम्हारा उदय प्रातःकालीन तारा की भाँति महाकाव्य के सुमेरु-शिखर पर हुआ था। तदुपरान्त अरुण लोक में तुम्हारे दर्शन नहीं हुए। कहाँ तुम्हारा उदयाचल है और कहाँ अस्ताचल यह प्रश्न करना भी लोग भूल गए।" उन दिनों द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य के आहत अङ्गों पर, करुण फफोलों पर पट्टियाँ बाँध रहे थे। करुणा की प्रतिमा उर्मिला के प्रति इस उपेक्षा भाव की मर्मस्पर्शी पुकार उनके हृदय को तो छू ही गयी साथ ही हृदय में एक तीव्र भाव का उद्रेक भी कर उठीं, जिसके फलस्वरूप 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक लेख अपनी वरद्लेखनी द्वारा लिख उन्होंने मानों उपेक्षित और अनादृत आत्माओं के खोते हुए अश्रु-मुक्ताओं को अँकोरने का उपक्रम किया हो। उस समय गुप्तजी भी आचार्य के चरणों में बैठे हुए स्वर-सधान कर रहे थे। उर्मिला की इस अवांछनीय उपेक्षा ने उनकी प्रतिभा को भी उत्प्रेरित किया और 'साकेत' के रूप में उनकी हृदय-वाणी से करुण रागिनी फूट ही तो पड़ी। गुप्तजी की समस्त सहानुभूति करुण प्रतिमा उर्मिला के साथ दूध पानी के रूप में ही घुल-मिल गई। इस प्रकार साकेत-सृजन की प्रेरणा का पूर्ण श्रेय अवध की उर्मिला को है।

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन रस के लेप से।
और पाकर ताप उसके प्रिय विरह विक्षेप से॥

गुप्त जी की अमर कृति 'साकेत' चरित्र-प्रधान काव्य है। काव्य की नायिका उर्मिला के चरित्र को कवि ने स्थान-विस्तार और सहानुभूति की दृष्टि से सर्वोपरि स्थान दिया है। अतएव उर्मिला का चरित्र लक्ष्मण, राम, सीता, भरत, कैकेयी, कौशिल्या, सुमित्रा आदि पात्रों के बीच विकसित होता गया है। चरित्र प्रधान ऐसे काव्य के लिए यह स्वत ही वाञ्छनीय है कि अन्य पात्र मुख्य पात्र के ऊपर घात प्रतिघात द्वारा प्रकाश डालें। इस कसौटी पर साकेत का चरित्र चित्रण खरा उतरता है। साकेत के सभी पात्र उर्मिला के व्यक्तित्व से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सबन्धित हैं। लक्ष्मण का जीवन तो उसके जीवन से छाया-प्रकाश की भाँति सम्बद्ध है—उसकी निर्भय वीर वृत्ति का भी उसके चरित्र-विकास से विशेष सबध है। लक्ष्मण, राम, सीता, भरत और कैकेयी पृष्ठभूमि के रूप में उसके लिए परिस्थिति का बीजारोपण करते हैं और कभी अपनी परिस्थिति का उसके चरित्र विकास पर प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार उदयाचल गिरि से निःसृत, अनेक घाटियों को काटते-छाँटते हुए प्रवाहित होते हुए निर्झर की नाईं उर्मिला का चरित्र विभिन्न पात्रों को स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ता है।

उर्मिला के चरित्र चित्रण में गुप्त जी का अक्षर अक्षर अनुप्राणित हो उठा है। कवि की सहानुभूति के और काव्य के विस्तार के सर्वप्रमुख भाग की भोगिनी उर्मिला ही बन सकी है। 'कोऽस्य उर्मिला रेखा' का भींगा आँचल समस्त कथावस्तु के ऊपर प्रकाश की भाँति छाया हुआ है। साकेत के रगमच पर यवनिका के उठते ही उर्मिला राजबधू और प्रेमिका के रूप में सविलास स्मित रेखा लिये हुए सौमित्र सहित मधुर वारविनोद सलग्न दिखाई देती है। उनका यह सुमधुर हास विलास और दो अमर प्रेमियों का प्रेम हिन्दी साहित्य में गीतातीत है, मौलिक और सर्वथा निर्दोष है। परन्तु उर्मिला की हर्ष विभोर झाँकी क्षणिक ही दिखाई देती है। घटनाओं की घटा अकस्मात ही घिर उठती है और उर्मिला की सुख की झाँकियाँ अब दु:खों की घाटियाँ बन जाती हैं। द्वितीय सर्ग में कुमति मथरा 'भरत से सुत पर भी सदेह' कहकर कैकेयी को दशरथ से वर-याचना के लिये उत्प्रेरित करती है। बस यहीं से मथरा की कुचक्र की चालें प्रारम्भ होने लगती हैं, जिसके साथ-साथ सुखों के रहस्य की ओट में दुख के मेघ उर्मिला के ऊपर घने से घने होने लगते हैं। मथरा के कुचक्र के कारण श्री रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक जिस प्रकार होते-होते रुक गया, उसके कठोर और कटु परिणाम के भोक्ता बनते तो राम, किन्तु जैसा ऊँचा उनका व्यक्तित्व और आदर्श था, वह

अप्रिय आघात उनकी गोद में पुष्पवत गिरा। सीता जी ने तो वन के प्रत्येक भय अथवा कष्ट को असार और व्यर्थ समझा क्योंकि सतियों के लिये पति के सग में अगम भी सुगम हो जाता है।

"मेरी यही महामति—पति ही पत्नी की गति है।

× × × ×

नाथ! भय दो तुम हमको, जीत चुकीं हैं हम यम को
सतियों को पति सग कहीं-अगम गहन क्या दहन नहीं।"

इसलिये राम को निरुत्तर ही सीताजी को अपनी सहगामिनी बनाना ही पड़ा। अब उनके लिये तो कोई चिंता का विषय था ही नहीं। लक्ष्मणजी भी राम को अपने मान्य आदर्श की प्रतिमा समझते थे। अपने पिता के समक्ष जो क्रोधोद्‌गार प्रकट किये गए थे उनमें राम के अधिकार की गर्जनापूर्ण घोषणा ही थी। जब राम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ हो गए तब लक्ष्मण उनका साथ क्यों न देते? इसलिये उनके लिये भी कोई अवांछनीय परिणाम उपस्थित न हुआ। यदि कुचक्रों की भवर में फँसी तो बेचारी उर्मिला जो न तो लक्ष्मण की साधना में बाधा डाल सकती थीं और न ही सह-गमन के लिये आग्रह ही कर सकती थी। इस शोचनीय परिस्थिति से जनित विषाद ही वह रीढ़ की हड्डी है, जिस पर समस्त साकेत की अस्थि अवलम्बित हैं। प्रथम सर्ग के पश्चात् वह मुस्कराती हुई सी उर्मिला चतुर्थ सर्ग में करुण वीणा वादन करती हुई सी दिखाई देती है। और कवि भी विषाद-वर्णन के हेतु पार्श्वभूमि का निर्माण करता है। इसी समय वन गमन की तैयारियाँ होती हैं। वस्तुतः यही तो वियोग से अधिक दारुण वियोग का अवसर होता है। सचमुच ही उर्मिला की अग्नि परीक्षा का समय आ जाता है। इसीलिये तो प्रवत्स्यपतिका चिर प्रोषितपतिका से अधिक मार्मिक एवं मर्मस्पर्शी होता है। पाषाणवत् हृदय भी उस भावी विरहिणी की तापित दशा को देखकर सिहर उठता है। निठुर विधि ने तो 'विरह'!! इस शब्द को कराहते हुए अश्रु मसि से लिखा है, जिसका नाम सुनते ही मानव की हृत्-तन्त्रियाँ विकम्पित हो उठती हैं। प्रिय के प्रयाण के समय चिन्ता, काम, आशंका, मोह, निरवलम्बता, एकाकीपन का भाव आदि न जाने कितने भाव उद्दीप्त होते हैं, हृदय की अकथनीय दशा होती है। आज उर्मिला भी प्रवत्स्यपतिका है। प्रिय, उसको इस भय से "प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड़ मुझे भी जावेंगे" यहीं पर रहने का आदेश देते हैं:—

"रहो, रहो, हे प्रिये! रहो।

यह भी मेरे लिये सहो
और अधिक क्या कहूँ, कहो !"

अब उर्मिला का क्या आग्रह था कि वह संग जाने के लिये कहती। विवशता के वशीभूत होकर हृदय की चाह को त्याग ही तो दिया। मानव के मांसल हृदय को उसने देवता का प्रस्तर हृदय बना लिया और वर-वदन प्रस्फुटित कर ही उठा :—

हे मन !

तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा।
हो अनुराग विराग भरा।

उसके हृदय में ईर्ष्या की भावना लेशमात्र भी नहीं होती परन्तु परिस्थिति उसको विवश कर देती है। सीता वल्कल लेने के हेतु राम को विवाद में यह कहकर परास्त कर देती है :—

अथवा कुछ भी न हो वहाँ
तुम तो हो जो नहीं यहाँ
मेरी यही महामति है,
पति ही पत्नी की गति है।

राम को निरुत्तर हो स्वीकृति देनी पड़ती है। सीता की ये तर्क-वितर्कमयी बात उर्मिला की स्थिति को और भी गहनतर बना देती है। हृदय में विरोधी भावों की एक आँधी सी ऊधम मचाती है। दुःख भार से वह दीन होकर 'कह कर हाय, धड़ाम गिरी।' उर्मिला की इस आकुल अवस्था को देखकर लक्ष्मण और सीता भय से शंकित हो उठते हैं। सीताजी व्यजन डुलाती हुई उसकी और अपनी स्थिति का अन्तर समझती हुई कह उठती हैं :—

आध भाग्य है जो मेरा
वह भी हुआ न हा ! तेरा

यदि ये ही शब्द किसी अवस्था में उर्मिला के मुख से निःसृत होते तो इससे उसके हृदय के ईर्ष्या भाव और कुवृत्ति का भान होता। इसी से कवि ने अपने काव्य-कला-कौशल से राम और सीता के द्वारा उसका संकेत कराया है। इसी में नायिका की गौरव गरिमा और महत्ता का संरक्षण हो सका है।

भावी में जो होना था सो हो गया। लक्ष्मण वियोग ज्यी होकर चले गए और उर्मिला एकाकी प्रेममयी प्रतिमावत् बन रह गई। नवयौवन की

सरसता में ही यति का वेश टूट पड़ा और दोनों को विश्लेष होना पड़ा। अब तो पुष्पवत हृदय पर अवधि रूप भारी शिला का भार पड़ गया था जिसको "तिल तिल काट रही थी दृग जल धार।" नवनीत पुतली पर विपत्ति का पहाड़ आ गिरा। विधि की विडम्बना से अब वह कैसे सुरक्षित रहता केवल कंकाल मात्र ही देखने को बच रहा :—

मुख काँति पड़ी पीली पीली
आँखें अशान्त नीली नीली।

अब तो विधि के प्रमाद से सखियों का विनोद भी विषाद रूप प्रतीत होता है। वियोग की दशा में एक एक पल वर्ष के समान प्रतीत होता है। सखियाँ यथासाध्य आशा के दीपक जलाती हैं। इस पर विरहिणी के ओठों पर एक विषादमयी रेखा खिंच जाती है और वह कह उठती है :—

'सब गया हाय ! आशा न गई
× × ×
लौटेंगे क्या प्रभु और बहन
उनके पीछे हा दुःख-वहन !'

विरह तत्त्व ज्ञाता जान गए कि शब्दों में कितना विश्वास और विश्वास में कितनी निराशा और उस निराशा में कितना गर्व था।

चित्रकूट में पुनः सीताजी के चातुर्य से उर्मिला और लक्ष्मण का क्षणिक मिलन होता है। उस मिलन में भी विस्मय, आश्चर्य, करुणा और प्रेमोत्कर्ष की भावनाएं क्रमिक विकास से उद्भासित होती हैं। उर्मिला वियोग में इतनी कृशगात हो जाती हैं कि लक्ष्मण चित्रकूट में उसे देखते ही आश्चर्य चकित हुए अवाक् और स्तब्ध से भ्रमित हुए खड़े रहते हैं। उन्हें यह भ्रम विस्मय में डाल देता है कि वस्तुतः यह प्रतिमा उर्मिला ही है अथवा उसकी छाया। अनुराग और कर्त्तव्य की भावना से परिपूर्ण उर्मिला प्रिय की इस दशा को देखकर पुकार उठती है:—

"मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी।
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय-भारी॥"

उसके उपवन का हरिण आज वनचारी होगया कदाचित् उपवन में आने से डरता होगा कि पुनः न बन्धन-पाश में बाँध लिया जाऊँ। परंतु कर्त्तव्य भावना से अनुप्राणित उर्मिला विश्वास दिलाती है कि "मैंने अपनी इच्छानुसार ही तुम्हें छोड़ा है, पुनः न बाँध सकूँगी।" इन शब्दों को प्रिया-वदन से श्रवणेन्द्रिय में परिपूरित करते ही लक्ष्मण के हृदय में कैसा तूफान उठा-

वह शब्दातीत है—अतः

गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में
वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में।

वह आवेश के साथ आवेश का मिलन था-दो हृदयों के अथाह सागर का प्रगाढ़ मिलन और उस मिलन में संसार लय होगया। उर्मिला के त्याग के समक्ष लक्ष्मण संकोच से सिमट से गये। बात रखने के लिये सफाई के कुछ शब्द कहने ही पड़े :—

'वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य
भाभी की भगनी तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।'

प्रिया उर्मिला का कण्ठ प्रिय के बचन सुनकर गद्‌गद् भाव से अवरुद्ध हो उठता है, अनेक भावनाओं का संघर्ष मन में होता है, कुछ मुख से तो निकल पाता नहीं, बस इतना ही कह पाती है :—

'हा स्वामी कितना कहना था कह न सकी कर्मों का दोष
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में है सन्तोष।'

वास्तव में चित्रकूट का यह उर्मिला और लक्ष्मण का मिलन साकेत की एक आदर्श घटना है जिसमें विवश विषाद, आवेगपूर्ण अनुराग तथा दृढ़ कर्त्तव्य भावना की त्रिवेणी का समागम है।

तदुपरान्त उर्मिला प्रोषितपतिका बन जाती है उसका वियोगिनी का रूप विकसित होता है। साकेत का सम्पूर्ण नवम सर्ग मानो उर्मिला के करुण आँसुओं से ही लिखा गया हो। कभी वह उन्मादिनी बन पशु-पक्षियों से भी सवेदना प्रकट करने लगती है और कभी अपनी नैराश्यपूर्ण जीवन गाथा पर करुण हो उठती है। नवम् सर्ग में कवि ने जो विरहिणी उर्मिला के विरहोद्‌गारों का परिचय दिया है उनमें कवि की मनोवैज्ञानिक कला का सुन्दर दिग्दर्शन होता है। इसी विरह में एक बार कामदेव उर्मिला की परीक्षा लेने आता है, किन्तु महाव्रता सिंहनी की भांति वह चिंघाड़ उठती है :—

बल तो है सिन्दूर बिन्दु यह हर नेत्र निहारो।

वह केवल प्रणय की पुण्य प्रतिमा ही नहीं वीरत्व की साक्षात् देवी भी है। गुप्त जी ने उर्मिला के शौर्य और धैर्य का संकेत करने के हेतु अपनी सूक्ष्म तूलिका द्वारा एक चित्र का चित्रण किया है। चित्रकूट दम्पती-मिलन के पश्चात् जब उर्मिला ने समाचार पाया कि उसके प्रणय देवी लंका युद्ध में शक्ति के आघात से संज्ञाहीन ही नहीं मरणासन्न हो गये हैं, उसने अपना सम्पूर्ण वियोग काल कातर करुणाजनक रोदन में व्यतीत तो किया ही, इसके

साथ ही वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं बन गई, वह सेनानायक के रूप में सेना के आगे आगे लंकापुरी की ओर चलने को सन्नद्ध हो गई। इस समय उसके वीरत्व की कितनी अद्भुत शोभा थी यह कवि की ही सुन्दर शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त है —

> "आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी।
> प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।
> जटा जाल से बाल विलम्बित छूट पड़े थे।
> आनन पर सौ अरुण घटा में फूट पड़े थे।
> माथे का सिन्दूर सजग अंगार-सदृश था।
> प्रथमातप सा पुण्य गात्र यद्यपि वह कृश था।
> बायाँ कर शत्रुघ्न पृष्ठ पर कण्ठ निकट था।
> दाएँ कर में स्थूल किरण-सा शूल विकट था।"

उर्मिला का यह कितना तेजस्वी रूप है, जिसमें गुप्त की कुशल कला की अभिव्यक्ति का आभास होता है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि राम का विषाद परोपकार भावना की जिस धुरी पर अवलम्बित है, उस सत्य शाखा पर उर्मिला का नहीं। उसमें उसका व्यक्तिगत स्वार्थ है, विश्ववेदना की तड़प नहीं। वस्तुतः उर्मिला का रोना स्वार्थ को लेकर नहीं चलता। इस निराधार कल्पना के बल पर ही उस पुण्य उपादेय आत्मा का निरादर कर यह कहने से कि उसमें विश्व अनुभूति नहीं और प्रकाश स्तूप सी प्रकट उपादेयता नहीं उसका रूप वस्तुतः क्षुब्ध नहीं हो जाता। उर्मिला घर में जलाए गए उस आशापूत दिव्य दीप की शिखा की भाँति प्रज्वलित है जो दूर देशगामी पुरुषों को प्रकाश प्रदान करने की कामना का प्रतीक है। उर्मिला का दीपक गुप्तजी के जालीदार झरोखे में प्रकाशमान है, प्रसादजी के आकाशदीप की भाँति आकाश में नहीं टँगा, न उसे प्रकाश-स्तूप ही उन्होंने बनाया है। विद्युत के व्याप्त अप्रत्यक्ष रूप की भाँति उर्मिला में एक अनिर्वचनीय ज्योति व्याप्त है जो उससे कहीं अधिक शक्तिशाली और सजीवन प्रदायनी है। उसमें विश्व प्रेम की घोषणा नहीं व्याप्ति है और वह व्याप्ति एक अत्यन्त दृढ़ आधार पर है। इसी में तो लक्ष्मण की सम्पूर्ण ओजस्विता का रहस्य है। उसका अनुराग लोक कल्याण का बाधक नहीं, उसकी तो यही इच्छा है कि —

> भ्रातृ स्नेह-सुधा-बरसे—
> भू पर स्वर्ग भाव सरसे।

उसको तो केवल इसी का दुःख है कि—

यदि स्वामी सगिनी रह न सकी
तो क्यों इतना भी कह न सकी
यह भ्रातृ स्नेह न ऊना हो
लोगों के लिये नमूना हो।

यहाँ तक कि विक्षिप्त अवस्था में भी वह कर्त्तव्य परायण ही रहती है। प्रिय की अवधि सुध म बेसुध होकर वह प्रिय आगमन पर हर्षातिरेक की उदधि में डुबकियाँ लगाने लगती है किन्तु कभी सोते हुए भी बीच में से उठकर प्रभु को वापिस लौट जाने के लिये उत्प्रेरित करती है। यह सब उसकी कर्त्तव्य भावना के बल पर ही होता है। सोने पर भी इतना त्याग जागने पर भी इतना अनुराग। वस्तुतः सीता ने उसका चित्र अपनी तूलिका द्वारा यथातथ्य ही आँका है—

'आँसू नयनों में हँसी वदन पर बाँकी
काँटे रमेटती फूल छींटती झाँकी।
निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया।

सीता ने तो वन में ही मन भाया राजभवन बनाया था और उर्मिला ने राजभवन को ही तपस्विनी की उटज का रूप दिया। उमा ने अखण्ड तपस्या करके अचल सुहाग भरा दिन देखा था तो उर्मिला भी क्या उससे कम थी उसने तो अपने अचल सुहाग को अखण्ड तपस्या बना दिया। चौदह वर्ष की अखण्ड तपस्या के पश्चात् जब उसने अपने देव के दर्शन पाये तो उसके ऐहिक जीवन की निधि तो रिक्त हो चुकी थी, निर्धनता ने अपनी स्वराज्य पताका के बल पर अधिकार कर लिया था, हाँ केवल दो अश्रु भरी आखें ही! ये पानी में मछली सी आँखें ही मानो कहती हैं—

पर यौवन उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं
वह खोया धन आज कहाँ से पाऊँगी मैं?

उर्मिला का यौवन उसके पति के चरणों में समर्पित तो था ही, वह यौवन निधि उसके पति की धरोहर स्वरूप थी। अतः उस धरोहर की क्षति के कारण उसको दुःख होना स्वाभाविक ही था।

चौदह वर्ष की दीर्घकालीन अवधि-शिला, जिसको उर्मिला ने दृग जल की अविरल अश्रु धारा से तिल तिल काटा था, अन्त में जब कट ही गई, तो इन दो बिछुड़े प्राणों की मिलन वेला में कवि भी हर्षातिरेक की चरम सीमा

पर पहुँच गया और उसकी लेखनी भी मर्मस्पर्शी दृश्य को अङ्कित किये बिना न रह सकी—

लेकर मानों विश्व विरह उस अंत.पुर म
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में
नाथ, नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया
'प्रिये-प्रिये' हाँ आज-आज ही वह दिन आया।

और स्वय रामचन्द्र जी भी उर्मिला के कठिन तापस जीवन से मुग्ध हो गये और प्रशसा-सूचक वाग्धारा प्रवाहित कर उठे—

"तू ने तो सहधर्म चारिणी के भी ऊपर
धर्म सस्थापन किया भाग्यशालिनी इस भू-पर।"

———

२५—कामायनी : एक रूपक

(प्रो० भारतभूषण सरोज, एम० ए०)

कामायनी के रूपक तत्त्व पर अनेक विद्वान आलोचकों द्वारा आज पर्यन्त पर्याप्त मात्रा में लिखा जा चुका है। अतः इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि कामायनी मे ऐतिहासिकता के साथ ही रूपक तत्व का भी समावेश है। आमुख में प्रसाद जी ने स्वतः इस बात की पुष्टि की है कि कामायनी के पात्र ऐतिहासिक ही नहीं मानव प्रवृत्तियों के प्रतीक भी हैं। वे कहते हैं—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है, यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। + + +"

"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, साकेतिक अर्थ की भी अभिवृद्धि करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। 'श्रद्धाम, हृदया याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसुः।' (ऋग्वेद १०-१५ १-४) इन्हीं सब के आधार पर कामायनी की कथा-सृष्टि हुई है।"

अतः स्पष्ट है कि कामायनी में प्रस्तुत अर्थ के साथ ही साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति हुई है। अब प्रश्न उठता है कि रूपक कहते किसे हैं। भारतीय साहित्य शास्त्र में रूपक दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। हमारे यहाँ दृश्य काव्य को रूपक कहते हैं तथा रूपक एक अलकार भी है, जिसमें अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद आरोप होता है। भारतीय साहित्य में रूपक के लिये अन्योक्ति शब्द का भी प्रयोग होता है। शुक्लजी ने पद्मावत की भूमिका में रूपक के स्थान पर अन्योक्ति शब्द का ही प्रयोग किया है। अन्योक्ति से अभिप्राय है कि प्रस्तुत अर्थ के साथ ही एक अप्रस्तुत अर्थ भी ध्वनित होता रहे। एक प्रकार स रूपक को रूपक अलकार और अन्योक्ति का मिश्रित रूप कह सकते हैं, क्योंकि रूपक में जहाँ प्रस्तुत अर्थ के साथ ही साकेतिक अर्थ भी ध्वनित होता

. वहाँ अप्रस्तुत अर्थ का श्लेषादि के द्वारा अभेद आरोप भी होता है। रूपक की प्रस्तुत कथा में भौतिक व्यक्तियों तथा घटनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है किन्तु अप्रस्तुत कथा प्रायः मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक होती है। अतः रूपक से तात्पर्य है मुख्यार्थ के साथ ही गूढ़ार्थ की भी अभिव्यक्ति।

अब देखना यह है कि कामायनी में रूपक तत्त्व के निर्वाह में कवि को कहाँ तक सफलता मिली है। प्रथम कामायनी के पात्रों को ही लीजिये और देखिये कि पात्रों के द्विविधरूप को लेकर प्रसादजी ने प्रधान कथा की श्रृङ्खला को न तोड़ते हुए किस प्रकार रूपक का निर्वाह किया। कामायनी में प्रधान पात्र तीन हैं, श्रद्धा, मनु और इड़ा। इनके अतिरिक्त तीन गौण और भी हैं, मनु—श्रद्धा का पुत्र कुमार तथा असुर पुरोहित किलात और आकुलि। इनके अतिरिक्त काम और लज्जा दो अशरीरी पात्र भी हैं, किन्तु प्रतीक की दृष्टि से ये दोनों विशेष महत्त्व नहीं रखते।

कामायनी की प्रस्तुत कथा मनु और श्रद्धा के संयोग से मानव-सृष्टि के विकास की कथा है, किन्तु अप्रस्तुत रूप में यही कथा मन की उलझन को सुलझाती हुई यह व्यक्त करती है कि आनन्द की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है। मनु मन, श्रद्धा (कामायनी) श्रद्धा और इड़ा बुद्धि की प्रतीक हैं। कैवल्य केवल बुद्धि द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता उसके लिए श्रद्धा का संयोग अनिवार्य है। श्रद्धा और इड़ा वस्तुतः मन की दो प्रधान शक्तियों के रूप में गृहीत हैं। एक का पथ आत्मोमुखी है; आनन्द धाम तक ले जाने वाला है और दूसरी का पथ अनात्मन्मुखी है, विप्लव संघर्ष में डालने वाला है। जब तक मन श्रद्धा से वियुक्त होकर बुद्धि के व्यभिचार में पड़ा रहता है, अशांत रहता है। शान्ति रहित आनन्द कहाँ है? श्रद्धा युक्त हृदय ही आनन्द प्राप्त कर सकता है। अब एक-एक पात्र को लेकर देखिये।

मनु मन के प्रतीक हैं। प्रत्येक व्यक्ति का मन न जाने कितनी चिन्ताओं का निवास स्थान होता है। चिन्ता किसी न किसी प्रकार के अभाव से उत्पन्न होती है। जहाँ अभाव है वहाँ अशान्ति भी है। इसी अशान्ति से मुक्ति पाने के लिये हृदय में आशा का उदय होता है। आशा के उदय होने के पश्चात् मानव-हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव होता है। यह अत्यन्त विशुद्ध आत्मवृत्ति है। किन्तु मानव-हृदय इसे पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाता, अतः काम और वासना की सृष्टि होती है। इच्छा का जागना काम और उसमें तीव्रता का आना वासना है। जब वासना के आवेग में व्यवधान पड़ता है तो लज्जा आती है। वासना का परिणाम होता है अधिकाधिक तृष्णा वृद्धि और उसकी

तृप्ति के लिए मन कर्म करने में प्रवृत्त होता है। जब मन कर्म करने लगता है तो उसकी अहमन्यता का अर्थात् "मैं हूँ" का विकास होता है। कामायनी में मनु के इस स्वरूप की अभिव्यक्ति किस प्रकार की है, देखिये—

मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा, मैं रहूँ
शाश्वत नभ के गानों में।
+ + +
किन्तु सकल कृतियों की,
अपनी सीमा है हम ही तो।
पूरी हो कामना हमारी,
विफल प्रयास नहीं तो।

जब मनुष्य की अहम् भावना का विस्तार हो जाता है तो उसकी तुष्टि में बाधक जितनी भी वस्तुएँ होती हैं, ईर्ष्या, द्वेष का कारण बन जाती हैं। इसी कारण कर्म के पश्चात् ईर्ष्या की भावना उत्पन्न होती है। मनु अपने अधिकार पर किसी की रोक नहीं चाहते। वे एकाकी ही श्रद्धा के अनुराग का उपभोग करना चाहते हैं। उन्हें यह सह्य नहीं कि उनका भावी शिशु भी श्रद्धा के अनुराग का भागी हो। अतः वे श्रद्धा से कहते हैं—

यह जीवन का वरदान मुझे,
दे दो रानी अपना दुलार।
केवल मेरी ही चिन्ता का,
जब चित्त वहन कर सके भार।।
यह जलन नहीं सह सकता मैं,
मुझे चाहिये मेरा ममत्व।
इस पच भूत की रचना में,
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।।

अपनी अहम् भावना की तृप्ति के लिए मन (मनु) श्रद्धा से वियुक्त होकर बुद्धि (इड़ा) के जाल में फंस जाता है। नूतन कल्पनाओं (स्वप्न) को उसके सहारे सत्य में परिणत करता है। बुद्धि के निर्देश से कार्य करता है। देखता है कि बुद्धि द्वारा अनेक कार्य किये जा सकते हैं। जितना वह आगे बढ़ता है उतनी ही उसकी आकांक्षाएँ भी बढ़ती जाती हैं। यहीं तक नहीं, वह स्वयं बुद्धि की अधिष्ठात्री इड़ा पर अधिकार करना चाहता है, किन्तु बुद्धि पर

अधिकार किसका हो सका है ? अधिकार भावना के अधूरी रह जाने पर मन का बुद्धि से संघर्ष होता है और फिर असफल होने पर निर्वेद उत्पन्न होता है। श्रद्धा का आश्रय छोड़ बुद्धि का पथ अनुसरण करने से मनु घायल हो जाता है।

मन पर आघात पहुँचने पर श्रद्धा वृत्ति स्वतः आ जाती है। उसके आ जाने पर मन अपने किये पर पश्चाताप कर संकोच का अनुभव करने लगता है। मन उससे साक्षात्कार न कर सकने के कारण छिपना चाहता है, किन्तु श्रद्धा उसका पीछा नहीं छोड़ती। तात्पर्य यह कि दुःख में श्रद्धा वृत्ति सदैव जागरूक रहती है। ऐसी परिस्थिति में श्रद्धा मन को और ऊँचा उठाकर उसे आनन्द के पर्वत पर ले जाती है और उसे अलौकिक शक्ति का आभास मिलता है। भाव यह है कि निर्वेद के पश्चात् जब मन द्वैत बुद्धि को त्याग देता है तब उसकी भावना अन्तर्मुखी हो जाती है। क्रिया, ज्ञान और इच्छा को त्याग कर अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से आगे बढ़कर मन श्रद्धा की सहायता से तुरियातीत अवस्था में पहुँचकर आत्मानन्द में लीन हो जाता है। इस प्रकार चिन्ता का परित्याग कर मन आशा, श्रद्धा, काम, वासना लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, (बुद्धि) स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन और रहस्य की भूमिकाओं को पार करता हुआ अन्त में कैवल्य पद को प्राप्त करता है।

कामायनी का दूसरा प्रमुख पात्र श्रद्धा है। ऋग्वेद, शतपथ तथा पुराणों म श्रद्धा मनु पत्नी तथा कामगोत्रजा (कामपुत्री) के रूप में हमारे सामने आती है। कवि की कल्पना के अनुसार वह गाँधार देश वासिनी है। छान्दोग्योपनिषद् तथा त्रिपुरा रहस्य म श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या है। अतः मूलाधार ग्रन्थों में श्रद्धा आत्म विश्वासमयी नारी के रूप म ही चित्रित की गई है। श्रद्धा का यही व्यक्तित्व अत्यन्त विशद रूप म कामायनी में मिलता है। सेवा, त्याग, ममता, करुणा, क्षमा आदि नारी हृदय की सभी उदात्त वृत्तियों की प्रतीक श्रद्धा है। विश्वास तो वह इतना अधिक करती है कि पति के द्वारा कई बार धोखा दिये जाने पर भी वह उस पर अविश्वास नहीं करती। सम्भवतः इसीलिये शुक्लजी ने श्रद्धा को विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति कहा है। प्रसाद जी श्रद्धा को हृदय का प्रतीक मानते हैं—

हृदय की अनुकृति वाह्य उदार,
एक लम्बी काया, उन्मुक्त ॥

उपनिषदों में आत्मा को आनन्द स्वरूप माना है—'अयमात्मा परानन्द' किन्तु आत्मानन्द की प्राप्ति श्रद्धा के बिना सम्भव नहीं। इसीलिये मुण्डक-

निषद् में कहा है—

'नयमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया, बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः ।

आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति श्रद्धा से ही सम्भव है, विकल्पात्मक बुद्धि से नहीं । बुद्धि तो वैषम्य, संघर्ष तथा घोर अशान्ति का कारण है । श्रद्धा मन को द्वैत भावना से पराङमुख करती है । वह काम वासना आदि जो मन की चंचल वृत्तियाँ हैं उनके प्रति उदासीनता की भावना उत्पन्न कर, शान्ति प्रदान करती है । कवि ने श्रद्धा के इसी स्वरूप को स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है—

> मधुर विश्रान्त और एकान्त,
> जगतका सुलझा हुआ रहस्य ।
> एक करुणामय सुन्दर मौन,
> और चंचल मन का आलस्य ।

कामायनी का तीसरा मुख्य पात्र इड़ा है । इड़ा सर्ग में प्रसाद जी ने इड़ा का जो चित्र अङ्कित किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि इड़ा बुद्धि की प्रतीक है—

> बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल ।
> वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि खंड सदृश था स्पष्ट भाल ।
> दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल ।।
> गुञ्जरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान ।
> वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान ।।
> था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये ।
> दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये ।।
> त्रिवली थी त्रिगुण तरंग मयी, आलोक वसन लिपटा अराल ।
> चरणों में थी गति भरी ताल ।।

यद्यपि यहाँ इड़ा का रूप वर्णन ही प्रमुख है, किन्तु रूपक के अनुसार वह बुद्धि की प्रतीक भी है । अतः कवि ने इस प्रकार रूप-वर्णन किया है कि इस पक्ष का भी सफलतापूर्वक निर्वाह हो गया है । बालों को इसीलिये मेघ-सा या भौंरे-सा न कह कर तर्कजाल सा बताया है । बुद्धि का विशेष यन्त्र तर्क ही है । विज्ञान और ज्ञान भी सब बुद्धि के आधार पर ही चलते हैं । वह कर्म की विधात्री और विचारों को उत्तेजित करने वाली है । जीवन को वह गति देती है ।

ऋग्वेद में इड़ा मनु की पथ-प्रदर्शिका कही गई है। शतपथ में मनु को इड़ा द्वारा अतुल सम्पत्ति मिलने का वर्णन है। सम्भवतः इसी आधार पर कवि मनु को इड़ा द्वारा सारस्वत प्रदेश का शासक नियुक्त करता है। कामायनी में भी इड़ा (बुद्धि) मनु (मन) की पथ प्रदर्शिका है—

इड़ा अग्नि-ज्वाला सी जलती है उल्लास भरी।
मनु का पथ आलोकित करती विपद नदी में बनी तरी।

इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि है। वह मनुष्य में वैयक्तिक भावना को उत्पन्न करती है तथा वह स्वार्थलिप्सा तथा अधिकार-चाह को ही अपना ध्येय बना लेता है। वर्गों तथा वर्णों की सृष्टि होती है। वर्ग भेद ही समाज में ऊंच नीच, धनी निर्धन तथा छोटे-बड़े का भेद उत्पन्न करता है। इस प्रकार समरसता के सिद्धान्त के प्रतिकूल अभेद में भेद भाव को उत्पन्न करती है। वह मन को नाना कर्म जालों में फंसाकर वैषम्य, संघर्ष तथा घोर अशान्ति को उत्पन्न करती है। इस प्रकार कामायनी में आधुनिक युग का अति स्वर भी ध्वनित है। इड़ा की ओर मनु (मन) के झुकाव तथा आकर्षण के द्वारा कवि ने बुद्धिवाद की ओर मनुष्य का आकर्षण दिखाया है। बुद्धिवाद के प्रश्रय का परिणाम मनु की दुर्दशा द्वारा कवि ने व्यक्त किया है।

अब कामायनी के गौण पात्र शेष रह जाते हैं। इनमें सर्व प्रथम श्रद्धा-मनु का पुत्र कुमार आता है। कामायनी में कुमार के व्यक्तित्व का अधिक विकास नहीं दिखाया है। केवल शैशव का एक चित्र अङ्कित है और दूसरा जब श्रद्धा कुमार को इड़ा को सौंप कर मनु की खोज में दूसरी बार निकली है। किन्तु रूपक की दृष्टि से श्रद्धा का कुमार को इड़ा को सौंपना महत्वपूर्ण है। वह मानव का प्रतीक है। उसे अपने पिता का गुण मननशीलता और माता श्रद्धा से हृदय की उदात्त वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं, किन्तु बिना बुद्धि के मानवत्व अपूर्ण रहता है। इस मानवत्व की पूर्णता के लिये ही कवि मानव का इड़ा से परिणय करा देता है। यद्यपि श्रद्धा का मानव जीवन में विशेष स्थान है किन्तु बुद्धि भी जीवन के विकास में प्रमुख स्थान रखती है। आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता लाने के लिये श्रद्धा का प्रश्रय लेना पड़ता है और भौतिक विकास के लिये बुद्धि का। अतः मानव जीवन की पूर्णता इसी में है कि वह बुद्धि तत्व के साथ ही आध्यात्मिक सस्कृति के आत्मतत्व को भी अपना ले। श्रद्धा ने इड़ा को जब कुमार को सौंपा है, तब जीवन की समरसता और सफलता के लिये उसने श्रद्धा और बुद्धि दोनों के योग पर जोर डाला है। इसी से श्रद्धा ने कहा है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धा मय।
तू मननशील कर कार्य अभय।

सुर पुरोहित किलात आकुल आसुरी प्रवृत्तियो के प्रतीक हैं। मानव हृदय म सदसद् प्रवृत्तियों का द्वन्द्व सा छिड़ा रहता है। दोनों ही हृदय पर अपना अपना प्रभुत्व जमाना चाहती हैं। विजय उसी की होती है जो बलवती होती है। यहाँ श्रद्धा मनु को सन्मार्ग पर ले जाना चाहती है, किन्तु किलाताकुलि (आसुरी प्रवृत्तियाँ) उसको पशु यज्ञ के लिये प्रोत्साहन देती हैं। मनु कर्म मे प्रवृत्त होते हैं, पशु-यज्ञ करते हैं। श्रद्धा (हृदय) उनके इस कार्य का अनुमोदन नहीं करता। मनु (मन) में अहकार की भावना उत्पन्न होती है। सद्वृत्ति की प्रतीक श्रद्धा के प्रति उनम ईर्ष्या-द्वेष की भावना उत्पन्न होती है। मन की अहम्मन्यता यहाँ तक बढ़ती है कि वे श्रद्धा (सद्-वृत्ति) का त्याग कर बुद्धि का आश्रय ले लेते हैं। मनु जब इड़ा (बुद्धि) पर पूर्णाधिकार नहीं कर पाते और प्रजा विद्रोही हो उठती है तो किलाताकुलि विद्रोहियों में जाकर मिल जाते हैं। मनु को यह देख कर खेद होता है कि जो किलाताकुलि (आसुरी प्रवृत्तियाँ) पशु-यज्ञ (पाप कर्म) करने में एक दिन उसकी सहायक थी वे ही आज शत्रुओं से जा मिली हैं तो मनु का निर्वेद बढ जाता है—

और शत्रु सब ये कृतघ्न फिर इनका क्या विश्वास करूँ।

कामायनी म देवता इन्द्रियों के प्रतीक हैं। देवताओं (इन्द्रियों) की 'वासना की उपासना' उनका अहकार उन्हें ले डूबता है—

अरी उपेक्षा भरी अमरत,
री अतृप्त निर्बाध विलास।

श्रद्धा का पशु, जीव दया, करुणा आदि का द्योतक है। वृषभ तथा सोमलता भी अपना प्रतीकार्थ रखते हैं। अनादि काल से ही भारतीय धर्म-शास्त्र में वृषभ धर्म का प्रतीक माना गया है—

या सोमलता से आवृत,
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि।

सोमलता भोग की प्रतीक है। सोमलता स आवृत वृषभ का अर्थ हुआ भोग समन्वित धर्म। यदि भोग रूपी आवरण को मनुष्य हटा दे और उसे धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाए तो उस आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो सकती है।

कामायनी में तीन प्रतीक और भी हैं, जल, प्लावन, त्रिलोक और मान-

सरोवर। जलप्लावन भारत की ही नहीं अपितु समस्त संसार की अत्यन्त प्राचीन घटना है। हमारे धर्मशास्त्रों में इसका प्रतीकार्थ भी ग्रहण किया गया है। जब मन इन्द्रियों की निर्बाध उपासना में लग जाता है, अर्थात् जब वह आत्मोन्मुख न रह कर अनात्मोन्मुखी हो जाता है तो चेतनता जल-माया से आवृत्त हो जाती है।

त्रिलोक की प्रेरणा कवि को प्राचीन त्रिपुर दाह से मिली है। इसका प्रतीकार्थ भी स्पष्ट है। तीन, ज्ञानलोक, भावलोक तथा कर्मलोक होते हैं। पहले किसी वस्तु का ज्ञान होता है, फिर उसके सम्बन्ध में इच्छा उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य कर्म करता है। इनके सामंजस्य में ही जीवन का वास्तविक सुख निहित है। केवल इच्छा पगु है। उसे कर्म का सहारा चाहिए। केवल कर्म अन्धा है। उसे ज्ञान का प्रकाश चाहिए।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।

जब श्रद्धा द्वारा इन तीनों का समन्वय हो जाता है तो मन समरसता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है—

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।

मानसरोवर के लिए शत-पथ में मनोरवसर्पण आया है। यह स्थान कैलाश शिखर पर है, जहाँ श्रद्धा की सहायता से मनु पहुँच कर आनन्द प्राप्त करते हैं। कामायनी में मानसरोवर के लिये मानस शब्द का प्रयोग हुआ है। यह मानस समरसता जन्य आनन्द का प्रतीक है।

रूपक को हटा देने पर मनु वैभव के नष्ट होने पर चिन्ताकुल हैं। चिन्ता काल समाप्त होते ही आशा को लेकर मन जीवित रहता है। श्रद्धा उन्हें एकाकी देखकर आत्म-समर्पण कर देती है। दो हृदय के मिलने पर काम उत्पन्न होता है। वासना काम के पश्चात् तुरन्त ही आ जाती है। आत्म समर्पण के पश्चात् नारी में लज्जा का आविर्भाव होता है। मनु यज्ञ कर्म और भोग कर्म में लीन हो जाते हैं। श्रद्धा के प्रेम में वात्सल्य का अंश पृथक होते

देख उन्हें ईर्ष्या होती है और वे युवती इड़ा के सम्पर्क में आते हैं। इड़ा पर भी पूर्ण अधिकार न कर सकने के कारण जब सघर्ष होता है और फिर विरक्ति। घायल मनु फिर श्रद्धा की ओर झुकते हैं। श्रद्धा उन्हें त्रिदक् विश्व के तीनों ज्योति पिंडों का रहस्य समझाती है। उसकी स्मिति-रेखा से तीनो ज्योति पिंड मिलकर एकाकार हो जाते हैं। मनु का सारा मानसिक कष्ट दूर हो जाता है और वे आनन्द में लीन होजाते हैं। इस प्रकार यह तीन प्राणियो या कहना चाहिये तीनो मनों की कहानी है। वस्तुतः ठीक विचार करें तो ज्ञात होगा कि यह तीन मन की भी नहीं, प्रयुक्त एक ही मन की कहानी है।

इसका प्रतीकार्थ यह हुआ कि अह और उच्छृङ्खलता से मनु के चरित्र का निर्माण हुआ है। वे स्वतः नियमों से मुक्त रहकर सभी को नियमो में बाँधना चाहते हैं। इड़ा तथा श्रद्धा दोनों पर ही वे अपना निर्वाचित अधिकार चाहत हैं। फलतः उन्हें जीवन मे कठिन परिस्थितियो का सामना करना पड़ता है। अहम् को नाश कर देने के पश्चात् ही उन्हें यह अनुभव होता है कि भाववृत्ति, कर्मवृत्ति तथा ज्ञानवृत्ति में सामजस्य के अभाव के कारण ही उनका जीवन इतना विडम्बना पूर्ण बन गया था। श्रद्धा के द्वारा तीनों मे पूर्ण सामजस्य स्थापित हो जाने पर वे आत्मानन्द में लीन हो जाते हैं।

प्रसादजी ने कामायनी को सर्वथा प्राचीन रूप में ही ग्रहण नहीं किया। यह आधुनिक युग की देन है। अतः इसमें युग की सभी प्रवृत्तियों का उल्लेख है। श्रद्धा के यहाँ से मनु का पलायन आध्यात्मिक जीवन से आधुनिक मानव के पलायन की ओर सकेत करता है। मनु का इड़ा के प्रति झुकाव आधुनिक मानव का बुद्धिवाद की ओर आकर्षण प्रकट करता है। बुद्धिवाद का परिणाम मनु की दुर्दशा द्वारा कवि ने व्यक्त किया है। प्रसादजी ने साहित्य का सृजन गाधी युग मे किया था। कामायनी म प्रसाद पर गाधीजी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, जैसे दोनों ही मशीनों का विरोध करते हैं, अहिसा के समर्थक हैं तथा सस्कृति का पुनर्निर्माण चाहते हैं इत्यादि।

२६—प्रयोगवाद ○

(श्री राजनाथ शर्मा, एम० ए०)

हिन्दी-साहित्य में पिछले लगभग बारह, तेरह वर्षों से एक ऐसी नवीन काव्य-प्रवृत्ति के दर्शन होने लगे हैं जिसे उसके उन्नायकों एवं आलोचकों ने प्रयोगवाद की संज्ञा दी है। यों तो प्रत्येक युग में वर्ण्य-विषय, शैली आदि के क्षेत्र में नई २ उद्भावनाएँ होती रहती हैं। श्रेष्ठ कलाकार नवीन प्रयोगों द्वारा भावी पथ को प्रशस्त बनाते रहते हैं। हिन्दी-साहित्य में भी उसके प्रारम्भिक काल से लेकर आजतक भिन्न भिन्न प्रकार के प्रयोग होते आए हैं। परन्तु हिन्दी की इस नवीनतम प्रवृत्ति को जो 'प्रयोगवाद' की संज्ञा दी गई है वह उसके 'प्रयोग' शब्द की व्यापकता का परिचायक न होकर एक प्रवृत्ति विशेष के लिए रूढ सा हो गया है। जिस प्रकार 'प्रगतिवाद' शब्द सामान्य प्रगति का परिचायक न रह कर साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य का परिचायक बन गया है उसी प्रकार 'प्रयोगवाद' भी विकासोन्मुख एवं स्वस्थ कल्याणकारी साहित्यिक प्रयोगों का परिचायक न रह कर एक प्रतिक्रियावादी संकीर्ण एवं रुग्ण विचारधारा के लिए प्रयुक्त होने लगा है।

प्रयोगवाद की प्रेरक पृष्ठभूमि के विषय में आलोचकों के परस्पर विरोधी दो मत हैं। आलोचकों का एक वर्ग इसकी उत्पत्ति छायावाद की वायवी भाव वस्तु और उसके शिल्प विधान के प्रति विद्रोह के रूप में मानकर प्रगति वाद और प्रयोगवाद को एक सी ही परिस्थितियों की उपज मानता है। परन्तु दूसरा वर्ग प्रयोगवाद की उत्पत्ति प्रगतिवाद के मार्ग को अवरुद्ध करने वाली प्रतिक्रियावादी विचारधारा से अनुप्राणित मानता है। इसलिए प्रयोग-वाद का वास्तविक रूप क्या है इसे समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमि और विकास को समझ लेना आवश्यक है।

हिन्दी में प्रयोगवादी कविता का जन्म साधारणतः सन् १९४३ में प्रकाशित 'तार सप्तक' नामक संग्रह से माना जाता है। इसके सम्पादक अज्ञेय थे। इसमें सात कवियों की कविताओं का संकलन किया गया है। ये सात कवि सर्व श्री गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारत-भूषण, प्रभाकर

मानवे, गिरिजाकुमार माथुर, डा० रामविलास शर्मा और अज्ञेय हैं। सन् १९५१ में दूसरा 'सप्तक' प्रकाशित हुआ जिसमें भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुरसिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती की कविताएं हैं। इन संग्रहों के अतिरिक्त 'प्रतीक' नामक मासिक पत्रिका ने अज्ञेय के सम्पादन में प्रयोगवादी कविताओं को काफी प्रश्रय दिया है। 'पाटल', 'दृष्टिकोण' नामक पत्रिकाओं में भी काफी प्रयोगवादी कविताओं को स्थान मिला है। परन्तु 'तारसप्तक' की परम्परा में इधर सन् १९५४ से 'नई कविता ' नाम से प्रयोगवादी कविताओं का एक अर्द्ध-वार्षिक संग्रह निकलने लगा है जिसके संपादक डा० जगदीश गुप्त हैं। प्रयोगवादी कवियों का यह एक संगठित प्रयास है जिसमें प्रयोगवादी कविता अपने वास्तविक रूप म प्रकट हो रही है। इसकी विवेचना आगे की जायगी।

प्रयोगवाद को समझने के लिये पहले उस साहित्यिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को समझ लेना आवश्यक है जिसने इस नवीनधारा को जन्म दिया।

सन् १९३६-३७ के लगभग छायावाद का पतन हुआ और प्रगतिवाद नवीन युग चेतना को साथ लेकर आगे बढ़ा। यह समय भारतीय इतिहास में बेकारी और भुखमरी का युग था। जनता में भयकर असन्तोष व्याप रहा था जिसके फलस्वरूप पूँजीवादी शोषकों और उनके द्वारा शोषित मजदूर वर्ग में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। छायावाद एक प्रकार से पतनोन्मुख सामन्तवाद और विकासो-मुख पूँजीवाद की ही अभिव्यंजना करता रहा था। प्रगतिवाद ने शोषित वर्ग का समर्थन किया और प्रगतिवादी साहित्यिकों की वाणी में सामान्य दुखी, दलित जनता का क्षोभ मुखरित हो उठा। पंत, निराला आदि छायावाद के उन्नायक प्रगतिवाद से प्रभावित होकर छायावाद की रंगीन स्वप्नों की दुनियाँ छोड़ जन-जीवन की ठोस कर्ममयी पृथ्वी पर उतर आये। पूँजीवादियों की यह परम्परा रही है कि वे धर्म और साहित्य को धन के बल से खरीद कर जनता के विचारों को सदैव गुमराह करने का प्रयत्न करते आये हैं। छायावादी कलाकार अपने कल्पना के लोक में ही मग्न रहते थे। जनता उनके लिये प्राय अपरिचित थी। वे जनता को प्रभावित नहीं कर सके। इसलिये पूँजीवाद उन्हें प्रश्रय देता रहा क्योंकि उसे इन कलाकारों से कोई भय नहीं था। प्रगतिवाद म जनता का स्वर, जनता की भावनाएँ, जनता का क्षोभ और विद्रोह मुखरित होरहा था। इसलिए पूँजीवाद आशंकित हो उठा कि कहीं उसे साहित्य के क्षेत्र से अपना डेरा न उठा लेना पड़े। अत. उसने

कभी अप्रत्यक्ष रूप से और कभी एकदम खुलकर प्रगतिवाद का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। उसने प्रगतिवाद की उठती हुई चेतना पर प्रचारात्मक होने का अभियोग लगाया। उसे रूस की जूठन, रोटी वाद, झंडावाद आदि की संज्ञा दी। यहाँ तक तो पूँजीवाद और पूँजीवाद के समर्थक कलाकारों का रुख नकारात्मक रहा। परन्तु नकारात्मक रुख चेतना की प्रगति को रोकने में सदैव असफल रहता है और रहा है। पूंजीवाद का यह प्रयत्न भी ऐसा ही रहा।

इस प्रयत्न में असफल होकर पूंजीवादी और प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने दूसरे हथकंडे अपनाये। छायावाद हिन्दी साहित्य को 'शाश्वतवाद' का बड़ा आकर्षक खिलौना दे चुका था। इस 'शाश्वतवाद' के आकर्षण में पड़ कर हम वर्तमान को भूल कर अतीत के कल्पना-लोक में उतराने लगते हैं। परन्तु हिन्दी का प्रगतिशील जागरूक साहित्यिक 'शाश्वतवाद' के इस प्रतिक्रियावादी स्वरूप को भली प्रकार समझ चुका था और हमारा पूँजीवादी वर्ग भी इस तथ्य को जानता था। हिन्दी का पाठक एवं उसका कलाकार 'शाश्वतवाद' के लुभावने आवरण के पीछे छिपी हुई आभिजात्य वर्ग की दुर्भावनाओं को भली प्रकार समझ चुका था। पूंजीवाद ने पहले तो आत्माभिव्यक्ति एवं व्यक्तित्व प्रकाशन की फ्रायडवादी शब्दावली के आडम्बर द्वारा जनता को लुभाना चाहा परन्तु जनता के हितैषी आलोचकों ने इसका भी पर्दाफाश कर इसकी निस्सारता प्रकट कर दी। यह श्रमिक वर्ग की चेतना को दबाने या बहलाने में असमर्थ रहा। आभिजात्य वर्ग ने पुनः नई पलटे खाए। उसने प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद आदि को बढ़ावा देकर जनता को पुनः चमत्कार द्वारा बहलाना चाहा। परन्तु ये सब सतही और उथली चीजें थीं। जनता साहित्य में अपनी वर्तमान समस्याओं का समाधान चाहती थी। अतः ये सब धारायें भी पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक रूप दिखा कर नष्ट हो गईं। अन्त में भारतीय पूँजीवाद ने अपने जनक पश्चिमी पूँजीवाद की तरफ देखा कि ऐसी स्थिति में उसने क्या किया था।

यूरोप में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर अनास्थामूलक वातावरण में कुछ कवियों ने ऐसी ही प्रयोगवादी कविता का श्रीगणेश किया था। इस समय पश्चिम का पूँजीवाद पतनोन्मुख था। रूस में सर्वहारा वर्ग क्रांति कर आगे बढ़ रहा था। इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव अधिकाधिक उन्नति पर था। ऐसे क्रांति के युग में आभिजात्य-वर्गीय या उसके खरीदे हुए कलाकारों ने साहित्य की इस नई धारा की तरफ

से जनता का ध्यान हटाने के लिये एक नई काव्य-प्रणाली का प्रणयन किया जिसमें ऐसी समस्याओं को प्रधानता दी गई जिनसे हमारी दैनिक समस्याओं का कोई सम्बन्ध नहीं था। उनका सारा ध्यान और सारी शक्ति टेक्नीक के नवीन प्रयोगों की तरफ लग गई। जैसे भूख से रोते हुए बच्चे को कोई सुन्दर खिलौना देकर भुलाने का प्रयत्न किया जाता है जिससे उसका ध्यान भूख से हटकर उस पर केन्द्रित हो जाय, परन्तु बच्चे की भूख जब पुनः जोर पकड़ती है तो वह उस खिलौने को फेंककर पुनः और भी ज्यादा जोर से रो उठता है। पश्चिमी प्रयोगवाद ने इसी खिलौने का पार्ट अदा किया था। इसके जन्मदाता अङ्गरेजी के प्रसिद्ध कवि और आलोचक टी० एस० इलियट माने जाते हैं। इन्होंने पूँजीवाद के इस पतन काल में प्रसिद्ध आलोचक आइ० ए० रिचर्ड्स की सहायता से एक दुरूह मगर ऊपर से आकर्षक लगने वाली काव्य प्रणाली का प्रवर्त्तन किया था। रिचर्ड्स ने इसी के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि भविष्य में कविता अधिकाधिक दुरूह होती जायेगी और बहुत थोड़े से लोग उसका लाभ पा सकेंगे। इङ्गलैण्ड में यह घटना आज से लगभग ३०, ३५ वर्ष पूर्व घटी थी जिस समय हमारे यहाँ छायावाद पनप रहा था। हमारे पूँजीवाद के जीवन में वैसी ही स्थिति द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके बाद उपस्थित हुई। इसलिये इसने भी विदेशी हथकण्डे को अपना कर वही खेल खेलना चाहा जो पश्चिमी पूँजीवाद खेल चुका था। आज यूरोप में इस प्रकार की प्रतिक्रियावादी काव्य पद्धति का पूर्ण रूपेण अन्त हो चुका है। मगर आभिजात्य वर्ग के हाथों में खेलने वाले कुछ अत्यन्त चतुर एवं नवीन आकर्षण के मोह में पड़कर उनका अन्धानुकरण करने वाले तरुण कलाकार आज यूरोप की उसी ठुकराई हुई काव्य-प्रणाली को ललक कर अपना रहे हैं। हिंदी का प्रयोगवाद पश्चिम की जूठन है इस बात को हिन्दी के अनेक आलोचक भिन्न भिन्न प्रकार से स्वीकार कर चुके हैं। डा० देवराज, जो प्रयोगवादी साहित्य से सहानुभूति रखते हैं, लिखते हैं कि—"हिन्दी प्रयोगवाद भी केवल युग से प्रभावित नहीं है—वह बहुत हद तक इलियट पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में उपस्थित हुआ है।"[१]

हमारी समझ में प्रयोगवाद की उत्पत्ति और उसके सगठित विकास का केवल एक ही उद्देश्य प्रतीत होता है और वह है येन केन प्रकारेण प्रगतिवाद की तरफ से तरुण कलाकारों और पाठकों को, अपने आकर्षण में फँसा

१ प्रयोगवादी कवि एक चेतावनी डा० देवराज, नई कविता, प्रथम अङ्क

कर, उससे दूर हटा ले जाना। इसका कारण यह है कि प्रगतिवाद के अत्यधिक जनवादी दृष्टिकोण से त्रस्त हिन्दी के कुछ साहित्यकारों ने एक ऐसी विचारधारा का प्रारम्भ किया है जो प्रगतिवाद की विरोधी विचारधारा है। कहा जाता है कि इन लोगों पर कुछ बड़े बड़े देशी एवं विदेशी पूंजीपतियों और पूंजीपतियों के समर्थक पिठ्ठुओं का प्रभाव है। हम इस कथन की सत्यता या असत्यता की खोजबीन न कर केवल यह कहना चाहते हैं कि इन लोगों का साहित्य, कला और जनता के प्रति जो दृष्टिकोण है वह कुत्सित, संकीर्ण और पूर्णतः प्रगति विरोधी है क्योंकि ये लोग कला को जीवन के लिए न मानकर केवल कला के लिए ही मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से कुछ कलाकारों में अच्छी काव्य प्रतिमा है परन्तु वे उस प्रतिमा का उपयोग एक ऐसे साहित्य का सृजन करने में कर रहे हैं जो उनकी दृष्टि में जनवादी हो या न हो परन्तु विलक्षण, अद्भुत, दुरूह और ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्य चकित हो उठे, चाहे उसे समझ पाये या न समझ पाये परन्तु यह कहे कि नई बात कही है। उदाहरण के लिये एक प्रयोगवादी कविता का नमूना पर्याप्त होगा—

"अगर कहीं मैं तोता होता!
तो क्या होता?
तो क्या होता,
तोता होता!
(आह्लाद से झूमकर)
तो तो तो तो ता ता ता ता
होता होता होता होता!" (इच्छा—सत्य प्रियमित्र)

परन्तु आश्चर्य तब होता है जब हमारे कुछ विद्वान यह कहते हैं कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न साथी आंदोलन हैं। इस विषय में डा० नगेन्द्र का मत द्रष्टव्य है। उनका कथन है कि—"शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्व और रूप आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असन्तोष सा उत्पन्न हो गया था। ···निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई—भाववस्तु में छायावाद की तरल-अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यवहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की माँग हुई—दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का जोर बढ़ा और शैली-शिल्प में छायावाद की वायवी

और अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल काव्य सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त-सघन और नाना रूपिणी काव्य सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक हो गए। ··पहले वर्ग को हिंदी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया।······पहला वर्ग जहाँ सामाजिक चेतना की जागृति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है, दूसरा अर्थात् प्रयोगवादी वर्ग वहाँ वस्तु और शैली दोनों में ही निर-प्रयोग-शीलता को प्राथमिकता देता है।"[१]

डा० नगेन्द्र का शैली-शिल्प विषयक कथन कुछ सीमा तक सत्य है। छायावाद ने भी तो शैली शिल्प एव वस्तु के क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये थे। छायावाद भी साहित्य को सामाजिक जीवन से दूर कर अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर सामाजिक उत्तरदायित्व से बचने का प्रयत्न करता रहा था। प्रयोगवाद भी यही कर रहा है। वह भी व्यक्ति की परिधि में केन्द्रित होकर साहित्य को सामाजिक जीवन से दूर रखने के लिए प्रयत्नशील है। इसके लिए प्रयोगवाद के कर्णधार 'अज्ञेय,' जो अब अपने असली रूप में 'ज्ञेय' हो चुके हैं, का वक्तव्य दृष्टव्य है—"यों समस्याएँ अनेक हैं-काव्य विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, सम्वेदना के पुन• संस्कार की आदि-किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है क्योंकि यह कविकर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और Communication (निवेदन) की समस्या है।"[२] प्रयोगवादी कवि अन्य सभी समस्याओं को झुठला कर केवल शैली शिल्प की समस्या में उलझा हुआ है। छायावादी कवि भी अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति कुछ सीमा तक अचेत था और इसी कारण वह व्यक्ति की रति की परिधि में केन्द्रित था। उसका जीवन एव समाज से पलायन अचेतावस्था का था। जिसके लिये पन्त, निराला आदि ने उसे फटकारा था और फलस्वरूप छायावादी कलाकार प्रगतिवाद के साथ कदम मिलाते हुए आगे बढ़ने लगा। प्रयोगवादी भी जीवन से पलायन कर रहा है परन्तु सचेत रूप में, जानबूझ कर। वह भाववस्तु के क्षेत्र में छायावाद के व्यक्तिवाद से कई कदम आगे है। शैली के क्षेत्र में भी वह छायावाद का ही अनुगामी है। छायावादी शैली का सबसे बड़ा दोष उसकी अस्पष्टता माना गया है। यही अस्पष्टता आज की प्रयोगवादी कविता में और भी दुरूह होकर उन पर शीशे

१—विचार और विवेचन—डा० नगेन्द्र

२—तार-सप्तक—अज्ञेय

की पर्त की तरह छाई हुई है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—एक "गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर शीशे के पर्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रंगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म तरल भावना चिन्तन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्व का बोझीलापन है......। ये कविताएँ अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धान्त रूप से भी दुरूह हैं।"[१] ऐसी स्थिति में हम प्रयोगवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न एक नवीन काव्य धारा न मानकर छायावाद का ही विकसित एवं किंचित् परिवर्त्तित रूप मान सकते हैं। छायावादी शैली के सम्पूर्ण दोष इसमें पाये जाते हैं। फिर प्रगतिवाद जैसी मानव कल्याण-रत विचारधारा को और प्रयोगवाद जैसी प्रतिक्रियावादी आभिजात्यवर्गीय विचारधारा को एक दूसरे का पूरक कैसे माना जा सकता है।

डा० नगेन्द्र से मिलती जुलती धारणा डा० प्रेमनारायण शुक्ल की है। वे लिखते हैं कि—"प्रयोगवादी साहित्य प्रगतिवादी साहित्य के अधिक निकट है। दोनों ही प्रकार के लेखकों की प्रेरणा का मूल-स्रोत प्रायः एक ही है। उसका (प्रयोगवादी) मूल उद्देश्य तो कविता द्वारा अपनी विद्रोहात्मक भावनाओं का प्रचार करना है।....वह तो केवल इतना ही जानना चाहता है कि उसकी कृति ने जन-जीवन को कितना अधिक प्रभावित किया है।"[२] डा० शुक्ल भी डा० नगेन्द्र जैसे भ्रम के शिकार हुये हैं। जब अज्ञेय स्पष्ट रूप से कह चुके हैं कि सामाजिक उत्तरदायित्व की समस्या ही उनके सम्मुख नहीं है तब प्रयोगवादी कविता का जन जीवन से सम्बन्ध ही क्या रहा। और उसकी ये विद्रोहात्मक भावनाएं आखिर हैं किसके प्रति-छायावाद के या प्रगतिवाद के ? हमारा ऊपर दिया हुआ विश्लेषण इस समस्या का स्पष्ट उत्तर दे रहा है।

अब जरा यह भी देख लिया जाय कि प्रयोगवादी कलाकार अपने इस तथाकथित विद्रोह द्वारा साहित्य में क्या नवीनता लाना चाहते हैं ? उनका कहना है कि आज हमारी सीमा भारत तक ही सीमित न रह कर विश्व-बन्धुत्व की ओर अग्रसर हो रही है। आज संसार में नवीन आदर्शों और नयी संस्कृतियों का निर्माण हो रहा है। इसलिये इस नवीनता को अभिव्यक्त करने के लिये हमें भाषा, प्रतीक, उपमा, वस्तु-चयन आदि में भी नवीनता लानी चाहिये। पुरानी भाषा इस नवीनता को अभिव्यक्त नहीं कर सकेगी। अज्ञेय के शब्दों में—"कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें

१ विचार और विवेचन—डा० नगेन्द्र

२ हिन्दी साहित्य में विविधवाद—डा० प्रेमनारायण शुक्ल

नहीं है। शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।"१ यह समस्या इन कवियों के सम्मुख इसलिये उठी है कि—"जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता म पहुँचाया जाय यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्यायें हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अधः या अन्तः या बहिर्मुखी है, इत्यादि।"२ और इस अनुभूत को व्यक्त करने के लिये ये कविगण डा० देवराज के शब्दों में—"नयी दृष्टि द्वारा नूतनता उत्पन्न न कर सिर्फ शब्दों तथा अलकारों की विलक्षणता द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं। श्री गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में वे 'चौंकाने, ध्यान आकृष्ट करने, नयी शैली का आभास पैदा करने' की ओर ही ज्यादा उन्मुख है।"३ डा० देवराज प्रयोगवादी कविता के समर्थक माने जाते हैं। उन्होंने इसी प्रसग में इन कवियों की दो न्यूनताओं की ओर और सकेत किया है। पहली न्यूनता—"कवियों में व्यक्तित्व की कमी या अभाव है। इस कमी के मूल में पारस्परिक अनुकरण या होड़ की प्रवृत्ति भी है और गम्भीर साधना का अभाव भी। "तीसरे अधिकांश प्रयोगवादी कवियों की रचना में उस अनुशासन की कमी दिखाई देती है जो विशिष्ट कविता अथवा कृति को चुस्त सगठन एव विशद ओज देता है।"४

हम ऊपर कह आये हैं कि इन कवियों को नवीनता का—प्रत्येक क्षेत्र की नवीनता का—मोह सता रहा है। जो भाषा कबीर, तुलसी, सूर, भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, पत, रामचन्द्र शुक्ल आदि साहित्य मनीषियों-के भावों को सरलता के साथ व्यजित करती आई थी वही अब इन प्रयोगवादियों की दृष्टि में नवीन विचारों, अनुभूतियों एव अभिव्यक्तियों को वहन करने म असमर्थ है। इसलिये इन्हें चलती हुई भाषा और आलकारिक परम्पराओं का मोह छोड़कर नवीन रूपों का सृजन करना पड़ेगा। इसके लिए ये लोग नवीन विषय, नवीन भाषा, यहाँ तक कि सब कुछ नवीन ही नवीन लाना चाहते हैं। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए अज्ञेय ने 'तार-सप्तक'

१ तार सप्तक, अज्ञेय
२ तार सप्तक, अज्ञेय
३ नयी कविता, अङ्क दो, डा० देवराज
४ नयी कविता, अङ्क दो, डा० देवराज

के अपने 'वक्तव्य' में लिखा था—"प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी छुआ नहीं गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।" इन अभेद्य क्षेत्रों का अन्वेषण करने के लिए अज्ञेय ने सात ऐसे कवियों को अपनाया (या उनका पथ-प्रदर्शन किया) कि जो—"किसी एक स्कूल के लिये नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी। "'काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है।"—आगे चलकर अज्ञेय इन सात कवियों की व्याज निन्दा करते हुए कहते हैं कि—"उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उनकी अलग अलग राय है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननवाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि। वे सब एक दूसरे की रुचियों, कृतियों और आशाओं और विश्वासों पर, एक दूसरे की जीवन परिपाटी पर, और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं।"[१]

यदि स्थिति ऐसी ही थी जैसी कि अज्ञेय ने समझी तो उन्हें इस भानमती के पिटारे को इकट्ठा करने की आवश्यकता ही क्या आ पड़ी थी। परन्तु हिन्दी का पाठक इतना बुद्धू नहीं है कि वास्तविकता को न समझ पाता। 'तारसप्तक' की अधिकांश आलोचनाओं में अज्ञेय के उक्त वक्तव्य को लेकर ही उसकी छीछालेदर की गई है। संगृहीत कविताओं पर छींटे नहीं उछाले गये हैं। इसका कारण यह है कि इस संग्रह के सातों कवि मँजे हुए कलाकार हैं। उन्हें अज्ञेय का सा मति-भ्रम या लीडरी का शौक नहीं है। उनकी कविताओं में से अधिकांश में ओज, प्रवाह, सौन्दर्य एवं जन-जीवन का सशक्त चित्रण है। कहीं-कहीं नवीन प्रयोगों का मोह अवश्य है मगर वहाँ भी क्रम या प्रवाह नहीं टूटता। इन सातों कवियों के वक्तव्यों में कहीं भी नवीनता के प्रति वह मोह नहीं मिलता जो अज्ञेय में है। गिरिजा-कुमार माथुर, रामविलास शर्मा, नेमिचन्द्र, प्रभाकर माचवे और स्वयं अज्ञेय

१ तार सप्तक—अज्ञेय।

की अनेक कविताएँ उच्चकोटि की कलाकृति मानी जा सकती हैं। जब इस संग्रह द्वारा अज्ञेय को पर्याप्त सफलता नहीं मिली तो उन्होंने 'प्रतीक' पत्रिका द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया और उनका यह प्रचार 'दूसरा सप्तक' में रँग लाया। वास्तव में 'दूसरा सप्तक' ही प्रयोगवादी कविताओं का प्रथम संग्रह माना जाना चाहिये न कि 'तार सप्तक'। 'तार सप्तक' में नवीनता की केवल पुकार थी, उसका अनुगमन नहीं था। उस पुकार की सुनवाई तो 'दूसरा सप्तक' मे ही हुई। 'नयी कविता' नामक संग्रहों में तो प्रयोगवादी काव्य की नवीनता का मोह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो उठा है।

अज्ञेय के 'तार सप्तक' के वक्तव्य को यदि ईमानदारी से भरा हुआ मान लें (जिसमें पूर्ण सन्देह है) तो भानमती के पिटारे की विभिन्न ऊटपटाग वस्तुओं के समान अपना पृथक अस्तित्व, जो जन-जीवन से, सामाजिक समस्याओं से परे है रखने वाले तथा अपनी-अपनी ढपली और अपना अपना राग अलापने वाले इन कलाकारों से हम क्या आशा करें? हम ऊपर कह आये हैं कि इनमें विद्रोह की भावना है परन्तु विद्रोह की भावना का यह अर्थ तो नहीं कि हम नवीनता के मोह में पड़कर अपनी अभिलषित वस्तु को ही क्षत-विक्षत करना प्रारम्भ कर दें। ऐसा करके हम अपना या समाज का क्या कल्याण कर सकते हैं। यदि प्रयोगवादी कवि ऐसे ही होते हैं जैसा कि अज्ञेय ने उन्हें चित्रित किया है तो उनमें और पागलों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

प्रयोगवादी कवि बड़े ऊँचे सैद्धान्तिक एवं कलात्मक नारों के साथ आगे आए हैं। इनके मत द्रष्टव्य हैं—

अज्ञेय—"प्रयोगशील कविता में नए सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।"

गिरिजाकुमार माथुर—"प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खंड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें 'व्यक्ति' द्वारा इस 'व्यापक' सत्य का सर्वबोधगम्य प्रेषण संभव हो सके।"

धर्मवीर भारती—"प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के सामने एक प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। इसी प्रश्न-चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न-चिह्न उसी की ध्वनिमात्र है।"

उक्त वक्तव्यों को देखकर प्रयोगशील कविता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति पाठक आशान्वित हो उठता है। परन्तु जब इस प्रयोगशीलता के अत्यधिक मोह में ग्रस्त तरुण कवियों की ऐसी रचनाएं सामने आती हैं जो अस्पष्ट, आत्म-रति पूर्ण, व्यक्ति की परिधि में केन्द्रित, अजीब कल्पनाओं, छन्दों, विषय-वस्तुओं, प्रतीकों, उपमानों एवं भाषा से ओतप्रोत होती हैं जिन्हें समझने में कोश भी सहायता नहीं कर सकते तो मन खिन्न हो उठता है और इन कवियों के वास्तविक उद्देश्य के प्रति हृदय आशंकित हो उठता है। और यह आशंका निराधार नहीं है।

इन कवियों का एक वर्ग, एक तरफ तो सामाजिकता को अपनाने का नारा बुलन्द करता है परन्तु दूसरी तरफ अज्ञेय आदि इस धारा के पोषक जो बातें करते हैं उनमें सामाजिकता का कहीं नाम-निशान भी नहीं मिलता। अज्ञेय ने तो अपने परिचय में स्पष्ट लिखा है कि उनकी रुचि इस प्रकार के विषयों में अधिक है "जिनसे तत्काल से कोई संबंध न हो।" इसीलिए उन्होंने *ऐसी समस्या को उठाया जिसका आज के जीवन तथा काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।* जब समस्या का तत्काल से ही सम्बन्ध न हो तो उसकी सामाजिक उपयोगिता ही क्या रह गयी ? बड़े-बड़े विद्वानों की यह बात बहुत दिनों से सुनते आये हैं कि साहित्य का उद्देश्य मानवमात्र का हित-साधन करना रहता है। एक वर्ग-विशेष के लिए लिखे गए साहित्य की व्यापक सामाजिक उपयोगिता नहीं होती। तुलसीदास के शब्दों में 'भणिति' वही सफल एव श्रेष्ठ होती है जो सुरसरि के समान सब का कल्याण कर सके—

"कीरति भणिति भूति भल सोई,
सुरसरि सम सब कर हित होई।"

साहित्य का मुख्य उद्देश्य यही है। मगर अब प्रयोगवादियों को प्रोत्साहित करने वाले, स्वयं प्रयोगवादी कविताएँ लिखने वाले, 'नई कविता' के *सम्पादक डा० जगदीश गुप्त का वक्तव्य देखिये कि वे जन-समाज के लिये* काव्य रचना करते हैं या एक वर्ग विशेष के लिए ? वे कहते हैं कि—"कुछ व्यक्ति ऐसे भावुक होते हैं कि अपनी तन्मयता में कविता का अर्थ बिना समझे उसके संगीत पर ही मुग्ध हो उठते है। नई कविता कदाचित ऐसे व्यक्तियों के लिये भी नहीं है। वह उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नए कवि के समान है अर्थात् जो उसके समान् धर्मा हैं ; एक ओर जो पुरानी कविता की अभिव्यंजना-प्रणालियों, शक्तियों और सीमाओं से परिचित हैं और

जिनकी परितृप्ति वस्तु और अभिव्यक्ति से नहीं होती या होती है तो सम्पूर्ण रूप में नहीं, दूसरी ओर जो नई दिशाएँ खोजने में सलग्न नूतन प्रतिभा की क्षणिक असफलताओं और कठिनाइयों के प्रति सहानुभूतिशील होकर नये कवि की वास्तविक उपलब्धि की प्रशंसा करने में सकोच नहीं करते।''' ' बहुत अंशों में नई कविता की प्रगति ऐसे प्रबुद्ध भावक वर्ग पर आश्रित रहती है। भले ही यह वर्ग सख्या में कम हो, क्योंकि इसका महत्व सख्या से नहीं उस स्थिति से आका जाता है जिस तक अनेक अनुभवों को सचित करता हुआ यह पहुँचा होता है।'

डा० जगदीश गुप्त का उपरोक्त वक्तव्य यह स्पष्ट कर देता है कि प्रयोगवादी साहित्य प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को ही लक्षित कर लिखा जा रहा है अर्थात् जो प्रबुद्ध और विवेकशील नहीं हैं उनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं। और यह मानी हुई बात है कि साधारण जनता या पाठक न तो प्रबुद्ध होते हैं और न विवेकशील। वे विवेकशील होते अवश्य हैं मगर उपरोक्त 'आस्वादकों' की सी विवेकशीलता उनमें नहीं होती जो प्रयोगवादियों के समान धर्मा होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कह सकते हैं कि यह एक वर्ग विशेष का साहित्य है जिसका तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक आदि समस्याओं से कोई सम्बन्ध न होकर केवल काव्य के शैली-शिल्प में नये-नये परिवर्तन करने के लिये उपमानों, प्रतीकों और नये नये शब्दों के ढूँढ़ने से ही सम्बन्ध है। जीवन की इस प्रकार खुले आम अवहेलना करने वाला साहित्य समाज के लिये शुभ हो सकता है या उसे गुमराह करने वाला? इसका उत्तर साधारण बुद्धि वाला पाठक भी दे सकता है। इसके लिये उसका "प्रबुद्ध और विवेकशील" होना आवश्यक नहीं। और फिर भी ये लोग डींग हाँकते हैं कि हम विद्रोह कर रहे हैं, सामाजिक असतोष एव विषमताओं का चित्रण कर रहे हैं, काव्य को जन-भाषा के निकट ला रहे हैं, आदि आदि।

कवियों के उक्त तथा-कथित विद्रोह का पर्दाफाश करते हुए अजितकुमार ने 'कवियों का विद्रोह' शीर्षक एक कविता लिखी है जो 'नई कविता' में सग्रहीत है। देखिये—

> "चाँदनी चन्दन सदृश'
> हम क्यों लिखें?
> मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें?
> हम लिखेंगे :

माँदनी उस रुपये सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक ग़ायब है।
हम कहेंगे ज़ोर से :
मुँह घर-अजायब है
(जहाँ पर बेतुके, अनमोल, ज़िन्दा और मुर्दा
भाव रहते हैं।)

परम्परा के प्रति विद्रोह का यदि यही रूप है तो इससे तो अपनी वही परम्परा ही अच्छी। यदि ये कवि प्रगतिवाद की कमजोरियों को दूरकर उसका हाथ बटाते, विचार और भाव को नवीन 'सत्य' से अनुप्राणित करते, इस लोक सत्य के प्रति लोक-भावना को सगठित करते, प्रतिक्रियावादी शक्तियों से डटकर मोर्चा लेते तो इनका स्वागत् होता। मगर ये लोग यह सब कुछ न कर, इस 'सत्य' की पूर्ण उपेक्षा कर काव्य के बाह्य रूप को सँवारने में जुट गये। इसका परिणाम बड़ा घातक निकला। हमारा तरुण समाज हमारी वर्तमान समस्याओं की उपेक्षा कर आज इस नवीन रूप-विधान के मोह में पड़ जीवन-संघर्ष से पलायन कर रहा है। आज दुष्टतापूर्वक उसके मस्तिष्क को विकृत किया जा रहा है। हमारी भावी सतति इस उपेक्षा के लिये इन कर्णधारों को कभी भी क्षमा नहीं कर सकेगी। हमारे एक मित्र ने प्रयोगवाद की कटु आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रयोगवाद को इतना महत्त्व देना व्यर्थ है क्योंकि उसका कोई ठोस आधार नहीं है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि जिस विष का प्रवाह इन तरुणों की नसों में दौड़ाया जा रहा है वह उनके भविष्य के लिये ही नहीं अपितु समाज के भविष्य के लिये भी भयकर साबित होगा। तरुण अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को भूल जायेंगे। और इस विष का प्रचार जान-बूझकर किया जा रहा है जिसके मूलमें पूँजीवाद का सशक्त बल कार्य कर रहा है। हम इसका सकेत ऊपर कर आये हैं।

अज्ञेय की वाणी में 'शाश्वतवाद' ने 'सनातन' का रूप धारण कर लिया है। वे सनातनता का नारा इसलिये बुलंद करना चाहते हैं कि— "वह (कलाकार) व्यक्ति सत्य को व्यापक, सत्य बनाने का सनातन उत्तर-दायित्व अब भी निबाहना चाहता है।" यदि अज्ञेय और उनके साथी ऐसा कर सकते तो बड़ा अच्छा होता। मगर उनका व्यक्ति–सत्य एवं सम्वेद-नाएँ इतनी उलझी हुई हैं कि वे स्पष्ट ही नहीं हो पाती।

ये लोग जनभाषा को अपनाने का नारा लेकर आगे आए हैं लेकिन इनका काव्य इतना दुरूह और जटिल है कि उसके सींग-पूँछ का भी पता नहीं लगता।

अस्पष्टता छायावादी काव्य में भी थी परन्तु वह इतनी मनोरम थी कि पाठक उसे पढकर थोड़ा बहुत तो आनद प्राप्त कर ही लेता था। प्रयोगवादी काव्य में छायावादी सुन्दर शब्द-विन्यास, भावनाओं की मधुर अभिव्यक्ति तथा मूर्त्त विधायिनी कल्पना का सर्वथा अभाव मिलता है। इन कवियों के शब्द, पद, वाक्य, छद, वर्ण्यवस्तु, विचार, मानसिक दशाएँ, रुचि, क्षेत्र आदि सब भिन्न हैं। केवल उनका लक्ष्य समान है और वह है सर्वत्र नवीनता की खोज में लगे रहना। प्राचीनकाल से सभी कवि नवीनता के प्रेमी रहे हैं। वे नई नई रीतियों का अन्वेषण करते आए हैं परन्तु फिर भी उनके भावों और वर्ण्य विषयों में अस्वाभाविक नवीनता नहीं आने पाई है। उन्होंने जन-साधारण के भावों और वर्ण्य-विषयों को ही अपनाकर आगे कदम बढ़ाए हैं। मगर हमारे ये प्रयोगवादी मनीषी (?) तो सदैव 'सर्वथा नवीन' की ही टोह में रहते हैं। हमारे एक मित्र थे—वर्ग-पहेली के सम्पादक। वे सदैव इसी उधेड़बुन में लगे रहते थे कि किस तरह ऐसे वाक्यों का चमत्कार पूर्ण सृजन कर सकें कि उनमें दो विभिन्न अर्थों वाले शब्द फिट बैठ सकें जिससे वर्ग-पहेली के प्रतियोगियो को मति-भ्रम होजाय। वे जागते, सोते, उठते, बैठते, रेल में, दफ्तर में, घर में, मित्रों से बातें करते समय सर्वत्र इसी उधेड़ बुन में लगे रहते थे। उन्ही की तरह हमारे प्रयोगवादी कवि भी सदैव नवीन उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों, प्रतीको एव जन-भाषा के ऐसे शब्दों की खोज में लगे रहते हैं जो पाठकों को चमत्कृत कर दें, भले ही उनके साथ भावों का तादात्म्य न हो। इस प्रयत्न में कवि की भावभूमि का स्पर्श नहीं होता। इसी प्रयत्न में विचार क्रम पूर्वक आगे नहीं बढ पाते। सवेदना उलझ कर रह जाती है। सम्वेदना का यह उलझाव और विचारों का यह क्रम भग प्रयोगवाद की सब से बड़ी कमजोरी है।

प्रयोगवाद की उपरोक्त त्रुटियो को ही लक्ष्य कर प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना मे कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।"[१] डा० रामविलास शर्मा ने भी इस तथाकथित नवीनता के मोह का दोष दिखाते हुये लिखा है—"पूंजी, वादी व्यवस्था में शिक्षित किंवा दुशिक्षित कवि मे और जन साधारण मे भारी अन्तर होता है। कवि अपने सकुचित अभिजात्यवर्ग मे और सकुचित होता हुआ व्यजना के नये और अपने तक सीमित प्रतीक ढूँढ लाता है।

१—आधुनिक-साहित्य—प० नन्ददुलारे वाजपेयी

वह समझता है कि उसका अनुभव और व्यंजना उच्चकोटि की है।"

डा० प्रेमनारायण शुक्ल भी प्रयोगवादियो की इस प्रवृत्ति से क्षुब्ध हैं और उनके इस प्रयत्न को थोथा और निस्सार मानते हैं। हमारे आलोचकों का कर्त्तव्य है कि वे उनकी बातों पर विचार कर पुनः इस घातक एव रुग्ण विकृतियों से भरे हुए वाद का मूल्यांकन करें। डा० शुक्ल कहते हैं—"आज का तथाकथित प्रयोगवादी उस भार के नीचे दबकर सिसकियाँ भरने लगता है। वैचित्र्य-विधान के मोह म पड़कर प्रयोगवादी कलाकार कला की आत्मा की बड़ी ही निर्मम हत्या करके भी यह समझता है कि उसने आगे आने वाली पीढ़ियों के लिये पुण्य-पथ का प्रदर्शन किया है। यहा वह भूल जाता है कि वैचित्र्य-विधान ही काव्य नहीं है।'''ऐसे स्वयम्भू कवियों की इस अहम्मन्यता के परिणाम स्वरूप ही साहित्यिक क्षेत्र में विकृति उत्पन्न हो रही है।"[1]

सुमित्रानन्दन पत ने सन् १९५२ म प्रयोगवाद एव प्रगतिवाद पर एक साथ ही आक्षेप करते हुए लिखा था कि—"जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-धारा मार्क्सवाद एव द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार से सास्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कुतर्कों में फसकर एक कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल-कल, छल छल करती हुई, फ्रॉयडवाद से होकर, स्वप्निलफेनिल स्वर सगीत हीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित, उपचेतन की रुद्ध-क्रुद्ध ग्रन्थियों को मुक्त करती हुई, दमित कु ठित आकॉक्षाओं को वाणी देती हुई लोक केतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक अस्तित्व पर अड़ गई। अपनी रागात्मक विकृतियों के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौंदर्य भावना, केंचुओं, घोंघों, मेढ़कों के उपमानो के रूप मे सरिसृपों के जगत से अनुप्राणित होने लगी।"[2]

इस कथन द्वारा तो यही प्रकट होता है कि प्रयोगवाद में फ्रॉयडवाद का प्रभाव, स्वर-सगीत का अभाव, रागात्मक विकृतियोंका चित्रण एव निम्नस्तर के उपमानों की ही प्रधानता है। परन्तु एक समय के छायावादी और बाद के प्रगतिवादी तथा आजकल के अरविन्दवादी पत ने सन् १९५४ मे जाकर फिर रग पलटा। 'नई कविता' पर अपना मन्तव्य देत हुए उन्होने लिखा कि—"नयी कविता ने मानव-भावना को छायावादी सौन्दर्य के धड़कते हुये

१—हिन्दी साहित्य में विविधवाद—डा० प्रेमनारायण शुक्ल
२—उत्तरा, जुलाई १९५२

पलने से बलपूर्वक उठाकर उसे जीवन-समुद्र की उत्ताल लहरों मे पेंग भरने को छोड़ दिया है···। नयी कविता विश्व वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग पट को अपने मुक्त छन्दों के सकेतो की तीव्र मन्द गति-लय में अभिव्यक्त कर, युग मानव के लिए नवीन भावभूमि प्रस्तुत कर रही है। नयी कविता अपनी शैली तथा रूप विधान में जहाँ अधिक मौलिक, वैचित्र्यपूर्ण तथा वैयक्तिक हो गई है, वहाँ अपनी भावना में अधिक रागात्मक तथा मानववादी बन गई है।''१ आज के अरविन्दवादी पत प्रगतिवाद के विरोधी हैं। प्रयोगवाद भी प्रगतिवाद का विरोध कर रहा है। सम्भवतः इसी कारण पन्त, जो चार वर्ष पहले तक प्रयोगवाद में रागात्मक विकृतियों को मानते थे वहाँ आज उसमें रागात्मकता खोजकर उसकी प्रशसा कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि पत में और इन प्रयोगवादियों में काफी समानता है। पन्त प्रगतिवाद का साथ छोड़ विश्व बन्धुत्व और मानवतावाद के सर्वप्रिय नारे लगाते हुए अरविन्दवाद के आध्यात्मिक खोल में जा छिपे है। प्रयोगवादी भी उपरोक्त दोनों नारों के साथ काव्य के शिल्प-विधान को ही नया रूप देने मे जुटे हैं। समाज और जीवन से दोनो ही परे हैं फिर एक दूसरे की प्रशसा क्यों न करें।

शिवदानसिंह चौहान, जिनके हाथ से त्रैमासिक 'आलोचना' की बाग-डोर छिनकर धर्मवीर भारती आदि प्रयोगवादियों के हाथ में चली गई है, प्रयोगवाद को 'त्रिशकुओं' का साहित्य मानते हैं। आखिर प्रयोगवाद के खिलाफ इतना गन्दा प्रचार क्यों हो रहा है? प्रयोगवादी स्वय को सस्कृति का रक्षक और जनभाषा का सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करने वाले कहते हैं। वे 'सायर, सिंह, सपूत' की तरह बनी बनाई लीक पर न चलकर नवीन राहों के अन्वेषी हैं। डा० देवराज का कहना है कि पुरानी कविता रूढ़िग्रस्त एव अरोचक हो उठी है, दूसरे, काव्य भाषा को जन भाषा के निकट लाना है अथवा काव्य निबद्ध अनुभूति को जन-जीवन के सम्पर्क में लाना है, तीसरे, बदले हुए जीवन की नई सम्भावनाओं के उद्घाटन के लिए, अथवा नए मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए नवीन प्रयोग करने हैं। ''नई शैली का अर्थ है जीवन या अनुभव-जगत के नए पहलुओं का नई दृष्टि से देखना और उन्हें नए चित्रो, प्रतीकों, अलकारों द्वारा अभिव्यक्ति देना।''२ इस वक्तव्य द्वारा इस काव्य की सम्भावनाएँ तो बड़ी ऊँची दिखाई पड़ती हैं परन्तु हो इसके

१—नई कविता, १९५४

२—नई कविता—डा० देवराज

विपरीत रहा है। न तो जन-भाषा का ही संस्कार हो रहा है और न काव्य-निबद्ध अनुभूति जन-जीवन के सम्पर्क में ही आ रही है। कहा कुछ और जाता है और किया कुछ और जा रहा है। इसी कारण जागरूक साहित्यकार इस नवीन काव्य प्रणाली से चौंक उठे हैं। परन्तु प्रयोगवाद की इस दुमुँही प्रवृत्ति का कारण क्या है? इसका उत्तर इलियट आदि की विचारधारा को समझ लेने से स्पष्ट हो जायेगा क्योंकि अज्ञेय आदि उन्हीं की विचारधारा के पोषक हैं।

इलियट के काव्य सिद्धान्तों को तीन खंडों में विभाजित किया जा सकता है। उनका मत है कि कवि को परम्परा से सम्बन्ध रखना चाहिए। उसे मात्र युगीन जीवन की अभिव्यक्ति न कर इतिहास और वर्तमान की समग्र चेतना की अभिव्यक्ति का प्रयास करना चाहिये। उनकी राय में "कविता व्यक्तित्व का अभिव्यंजन नहीं वरन् व्यक्तित्व से पलायन है। कलाकार की सम्पूर्णता का आधार उसके स्रष्टा और भोक्ता मन का पृथकत्व है। कलाकार की सृष्टि और उसके व्यक्तित्व में अधिकाधिक असामंजस्य ही श्रेष्ठ कला को जन्म देता है। इस प्रकार इलियट कला के क्षेत्र में निर्व्यक्तिकरण के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं और कला में कलाकार के व्यक्तित्व की तटस्थता को श्रेष्ठ कला का जनक मानते हैं।" इस प्रकार कलाकार का व्यक्तित्व विभिन्न-अनुभूतियों को कला के रूप में परिवर्तित कर देता है और स्वयं तटस्थ रहता है। 'शेखर : एक जीवन' और 'नदी के द्वीप' इसके प्रमाण हैं। जहाँ काव्य और व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा वहाँ उसका जीवन से क्या सम्बन्ध रह जायगा। फिर तो वह कला जीवन के लिये न रह कर कला के लिए ही रह जायगी। इसी दृष्टिकोण के कारण अज्ञेय केशव को बहुत महान कवि मानते हैं। और इसी कारण प्रयोगवादी काव्य की कला केवल कला के लिए ही रह गई है।

प्रयोगवादी कविता के इसी विकृतियों से परिपूर्ण स्वरूप को देखकर पं० नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि—"किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता। प्रयोग में और काव्यात्मक निर्माण या सृजन में जो मौलिक अन्तर है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनियाँ से बहुत दूर है। कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी हैं। वह उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगों

का पल्ला नहीं पकड़ सकता जिसका उस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास क्रम से सहज सम्बन्ध नहीं है।"१ खेद है कि प्रयोगवादी कवि उपरोक्त उत्तरदायित्वों में से एक का भी निर्वाह नहीं कर पाया है। अन्त में वाजपेयीजी ने प्रयोगवादी काव्य के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष दिये हैं—

१—प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं।

२—प्रयोगवादी रचनाएँ वैचित्र्य प्रिय हैं, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमें नहीं।

३—प्रयोगवादी रचनाएँ अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं।

अज्ञेय साहित्य में चमत्कार को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने अपने 'त्रिशंकु' नामक निबन्ध-संग्रह में संग्रहीत निबन्धों में यही बात कही है। उनका मत है कि साहित्य के भीतर से चमत्कार का गुण निकलता जा रहा है। अतः साहित्य घटिया हो रहा है। परन्तु अज्ञेय इस विषय में भ्रम में हैं। चमत्कार साहित्य का एक अंग और उसका अतिरिक्त धर्म माना जा सकता है। साहित्य में कुछ प्रकृत चमत्कार तो रहता ही है किन्तु वह उसकी मार्मिकता और अनुभूति की सचाई के ही कारण। चमत्कारिकता तो दरबारी साहित्य का गुण रहा है। परन्तु आज का साहित्य तो सामन्ती दरबारों का रीतिकालीन जैसा साहित्य नहीं है। आज वह जनता को साथ लेकर चल रहा है। चमत्कार-प्रिय छायावादी साहित्य भी कुछ अंशों में राष्ट्रीयता की पुकार को आगे बढ़ाने में सहायक रहा है। मगर यह नवीन प्रयोगवादी साहित्य तो केवल चमत्कार के फेर में पड़कर काव्य के अभिन्न अङ्गों को भूलता जा रहा है। इसका सबसे प्रधान कारण यह है कि प्रयोगवादी कवि एकान्त रूप से अन्तर्मुखी है, इसलिये घोर व्यक्तिवादी है।

डा० नगेन्द्र प्रयोगवादी कविताओं की दुरूहता का उल्लेख करते हुए उसके चार मुख्य कारण बताते हैं—

१—भावतत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध।

२—साधारणीकरण का त्याग।

३—उपचेतनमन के अनुभव-खंडों के यथावत् चित्रण का आग्रह।

१—आधुनिक साहित्य- पं० [illegible]

४—काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग।

ये कारण बताने के बाद डा० नगेन्द्र आगे लिखते हैं कि—"इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है और वह है इन सब का मूलवर्ती कारण—नूतनता का सर्वग्राही मोह, जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है।"[१] और जो काव्य दुरूह है उसे सफल काव्य नहीं माना जाता। इसी सिलसिले में एक बात और कह दी जाय। छायावादी शैली का एक दोष उसकी दूरारूढ़ प्रतीक पद्धति भी मानी जाती है। छायावादी कवि का प्रकृति के प्रति आकर्षण था इसलिये प्रकृति के प्रतीकों में ही उसकी रुचि अधिक रमी। परन्तु प्रयोगवादियों की प्रतीक-पद्धति में प्रकृति का स्थान अवचेतन विज्ञान ने ले लिया है और यह जानबूझकर किया गया है। इसलिये इनके अधिकांश प्रतीक तो समझ में ही नहीं आते।

अज्ञेय का एक दावा और है कि प्रयोगवादी 'स्वान्तः सुखाय' न लिख कर 'जन हिताय' लिखते हैं। जब अज्ञेय की रुचि ऐसे विषयों में अधिक रमती है जिसका तत्काल से कोई सम्बन्ध नहीं रहता तो उनका यह 'जन-हिताय' लिखने का दावा झूठा पड़ जाता है। शायद उनका उद्देश्य यह है कि इस प्रकार के काव्य से भविष्य में, सुदूर भविष्य में, जनता का हित होगा। यह तो वही परलोकवाद वाली बात हुई कि कर्म करते रहो, इसका फल यदि इस जन्म में न मिला तो दूसरे जन्म में अवश्य मिलेगा। जनता आज अपनी वर्तमान की समस्याओं से ग्रस्त है और अज्ञेय उसके सम्मुख अज्ञात भविष्य का सुखद चित्र उपस्थित कर उसे बहलाना चाहते हैं। संसार में स्वार्थियों द्वारा इस प्रकार के नारे युगों से लगाये जाते रहे हैं। सिर्फ इसलिए कि जनता अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष व्यक्त न कर शान्त रहे। साम्राज्यवादियों के *शाश्वतवाद, कर्मवाद, अद्वैत आदि के नारे इसी के प्रतीक रहे* हैं। प्रयोगवादियों के सम्मुख भी यही समस्या है। वे लोग बुद्धि और भावना के इस संघर्ष में इस बुरी तरह दब जाते हैं कि उनकी सम्वेदना स्पष्ट न होकर उलझी रह जाती है और इसीलिये वह समझ में न आने के कारण पाठक को प्रभावित नहीं कर पाती। इसके विपरीत प्रगतिवादी जो कुछ कहता है वह बिल्कुल स्पष्ट और सम्वेदना से परिपूर्ण रहता है। इसी से वह प्रभावित करता है।

प्रयोगवादियों का एक दावा और है कि वे किसी से भी प्रभावित नहीं

१—विचार और विवेचन—डा० नगेन्द्र

हैं। साहित्य की अब तक की परम्परा यह रही है कि वह अपने से पूर्व के साहित्य से प्रभावित होता आया है और अपने परवर्ती साहित्य को प्रभावित करता रहा है। अधिकाँश विद्वानों का मत है कि प्रयोगवाद इलियट, एजरा पाउड आदि से प्रभावित है। इसे डा० देवराज जैसे प्रयोगवादी भी स्वीकार करते हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह प्रयोगवाद विदेशी प्रतीकवाद (Symbolism) का ही दूसरा रूप है। अन्य लोग इसे फ्रॉयडवाद से प्रभावित मानते हैं। मगर अज्ञेय इन सम्पूर्ण प्रभावों को एक दम अस्वीकार करते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो उनका नवीनता का दावा झूठा न सिद्ध हो जायेगा। उनका मौलिकता का आविष्कार करने का दावा लोगों को फिर कैसे प्रभावित कर सकेगा।

साहित्य में नवीन प्रयोग सदैव से होते आये हैं। परन्तु उन प्रयोगों ने परम्परा और सच्ची अनुभूति का पल्ला कभी नहीं छोड़ा। उनकी नवीनता दो प्रकार की रही है। पहली रीतिकालीन चमत्कार उत्पन्न करने वाली। वहाँ भी नवीनता का यह मोह कभी-कभी बड़ा घातक हो उठा है। इसी के मोह में पड़कर कविवर देव ने 'ऊषा' की उपमा एक ऐसी पिशाचिनी से दी है जिसका मुँह किसी वियोगिनी का खून पीने से लाल हो उठा है। इसके लिये देव को अब तक लाछना और अपमान का शिकार बनना पड़ता है। नवीन प्रयोग निराला ने भी अपनी 'कुक्कुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' जैसी रचनाओं में किये थे मगर वे कविताए प्रगतिवाद की परम्पराओं में आती हैं। साधारण पाठक भी उन्हें समझ लेता है क्योंकि उनमें जन-भाषा के माध्यम द्वारा कवि की सुस्पष्ट सम्वेदना को अभिव्यक्ति मिली है। नवीन प्रयोग छायावाद ने भी किये थे। वे अस्पष्ट रहते हुये भी मनोरम थे। नवीन प्रयोग प्रगतिवाद ने भी किये हैं। पन्त जब प्रगतिवादी थे तब छन्द और अलकार के बन्धन तोड़ने की घोषणा कर चुके थे। प्रगतिवादी साहित्य में भाषा का नवीन जन-वादी रूप, रूढ़िगत परम्पराओं का विरोध, सुलझी हुई स्पष्ट सम्वेदना का अङ्कन हुआ था। इसी कारण उसे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मगर प्रयोगवादी काव्य में तो इनमें से एक भी चीज नहीं मिलती। और दावा यह किया जाता है कि उनकी प्रवृति समाजोन्मुखी है, वे जन भाषा का प्रयोग करते हैं, वे 'जन-हिताय' लिखते हैं'। जो नवीनता समझ में न आये उसका क्या उपयोग हो सकता है। इसका उत्तर प्रयोगवादी डा० देवराज के शब्दों में इस प्रकार देते हैं—"हमारा युग प्राचीन मूल्यों के सम्पूर्ण विघटन, उनके प्रति पूर्ण अनास्था का युग है, इसलिये हमारे कवियों

की दृष्टि, उनके देखने प्रतिक्रिया करने का तरीका भी, पूर्णतया बदल जाना चाहिए। प्रयोगवादी कविता यही करना चाहती है, इसीलिये वह पुराने सस्कारों के पाठकों को अटपटी और कभी-कभी असवेद्य लगती है। वह उनके बद्धमूल सस्कारों से एक दम ही मेल नहीं खाती।" जब कोई तुम्हारी बात न माने तो उसके विरुद्ध प्रतिक्रियावादी होने के भिन्न-भिन्न फतवे दिये जाते रहे। ईश्वर के विषय में शङ्का उठाने पर उसे नास्तिक कह दिया जाता है। भारत में अङ्गरेजी राज्य के समय, कॉंग्रेसी न होते हुए भी अंग्रेजों की नीयत पर शक करने पर उसे कॉंग्रेसी घोषित कर जेल में डाल दिया जाता था। भारत में कॉंग्रेसी हुकूमत के जमाने में कांग्रेसियों की आलोचना करने पर उसे कम्युनिष्ट घोषित कर दिया जाता है, और प्रयोगवादियों की आलोचना करने पर उसे पुराने और बद्धमूल सस्कारों के पाश में जकड़ा हुआ कह दिया जाता है। नवीनता एव जन-हिताय का ठेका तो बेचारे यही लोग लेकर आये हैं। न मालूम आलोचक इनके पीछे क्यों पड गये हैं। लेकिन ये लोग कमजोर नहीं हैं। इनका एक बड़ा शक्तिशाली सगठित दल है जिसके पीछे भोले तरुण, पत्रों में अपनी कविता छपवाने के इच्छुक युवकों का गिरोह है जो इनके घातक स्वरूप को न पहचान कर इनके हाथों में खेल रहा है। इनकी इस शक्ति का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि सन् १९५२ में प्रयोगवाद की कटु आलोचना करने वाले पत को केवल दो ही साल बाद सन १९५४ में अपना स्वर बदल कर इनकी प्रशसा करनी पड़ी थी। अस्तु,

अब कुछ प्रयोगवादी कविताओं के भी दर्शन कर लेने चाहिये। परन्तु इससे पूर्व एक बात और कह दी जाय। सभी प्रयोगवादी कविताएँ बुरी नहीं हैं। इनमें बहुत सी कविताएँ साहित्य की निधि के समान सुरक्षित रखी जाने योग्य हैं। कारण यह है कि इनके रचयिता कवि अज्ञेय के प्रभाव से मुक्त हैं। इनका उल्लेख आगे किया जायगा।

सबसे पहले प्रयोगवादियों के नेता अज्ञेय की नवीनता के दर्शन करने चाहिये। उनकी 'भोर की किरण' नामक एक कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> "भोर की प्रथम फीकी किरण,
> अनजाने जागी हो याद किसी की,
> अपनी मीठी, नीकी।
> धीरे धीरे उदित रवि का लाल लाल गोला,
> चौंक कहीं पर छिपा मुदित वन पाखी बोला।"

इन पंक्तियों के अज्ञेय के नवीन प्रयोग दर्शनीय है। उनकी भोर की प्रथम किरण फीकी है जब कि उसे होना चाहिये था गुलाबी आभा से परिपूर्ण और उसकी तुलना की गई है किसी की 'मीठी और नीकी' याद से जो सतरंगी होती है। साथ ही वह किरण फीकी कब है जब 'रवि का लाल-लाल गोला' उदित हो रहा है। उसकी लाली से ही उत्पन्न वह किरण फिर भी फीकी है। सम्भव है उसे देखकर अज्ञेय के अवचेतन मन की कोई ग्रन्थि खुल गई हो जिसके कारण वह उन्हें फीकी लगी हो। प्रसाद की ऊषा सुनहले तीर बरसाती हुई आती है। यह तो हुई एक नवीनता। अब दूसरी नवीनता देखिये। सूर्य के उदित होने पर कोई 'बन-पाँखी' चौंककर बोल उठा। पक्षियों में तो कोई भी आलसी नहीं होता। सारे पक्षी सूर्योदय से पूर्व ही उठकर कलरव करने लगते हैं। यह अज्ञेयजी का परिचित कौनसा पक्षी था जो सूर्योदय होने तक भी सोता रहा। परन्तु यह तो प्रयोगवादी कविता है। इसमें यदि इस प्रकार की नवीनता न हुई तो फिर उसका 'जन-हिताय' मूल्य ही क्या रहा ? इस प्रकार के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक नियमों का उल्लघन ही तो चमत्कार की सृष्टि करता है, वर्तमान कविता में जिसके अभाव को देख कर अज्ञेय जी त्रस्त होकर उसे घटिया साहित्य कह चुके हैं।

शमशेर बहादुरसिंह की 'सावन की बहार' कविता में बरसात की रात पूर्णिमा से भर उठी है—

"पूर्णिमा से भर उठी है आज की बरसात की रात।
घोल में उन बादलों के सावली मिट्टी घुली है।"

बादलों से भरी हुई बरसात की रात का पूर्णिमा से भर उठना ही इसकी नवीनता है फिर चाहे वह सम्भव हो या न हो। अब उपमा का नवीन मोह भी देखिये—

"मेरे सपने इस तरह टूट गये
जैसे भुँजा हुआ पापड़।"

क्या इसे भी काव्य कहा जा सकता है जिसमें भावों की सम्प्रेषणीयता का ऐसा रूप हो।

कहीं-कहीं केवल क्रियाहीन शब्दों के प्रयोग से ही क्रिया को ध्वनित करने का प्रयत्न किया जाता है, यथा—

"मेंढ़क पानी झप्प"

यह चीनी कविता की नकल है। पाठक शिशुओं जैसी इस भाषा का अर्थ स्वयं ही समझ लें।

अब जरा जन-भाषा का भी रूप देखिए—

निबिड़ान्धकार
को मूर्त रूप दे देने वाली
एक अकिंचन, निष्प्रभ अनाहूत
अज्ञात द्युति किरण
आसन्न पतन, बिन जमी ओस की अन्तिम
ईषत्कण, स्निग्ध, कातर शीतलता
अस्पृष्ट किन्तु अनुभूत—"

इसे पढ़कर पन्त की 'परिवर्तन' नामक कविता याद हो उठती है। मगर उसमें कवि जिस प्रभाव की सृष्टि करना चाहता है उसमें उसे सफलता मिली है। परन्तु अज्ञेय की 'उषाकाल की भव्य शान्ति' नामक कविता की उपर्युक्त पंक्तियाँ इसमें पूर्णतः असमर्थ हैं। इसी प्रकार अज्ञेय की एक अन्य कविता 'जयतु हे कटक चिरन्तन' के प्रकाशित होने पर एक पत्रकार ने उस व्यक्ति को पुरस्कार देने की घोषणा की थी जो उसका 'अर्थ' कर सके, व्याख्या नहीं। इस स्तर की सम्पूर्ण प्रयोगवादी कविताओं में एक भयकर अस्पष्टता और दुरूहता रहती है जिसे साधारण जन तो क्या साहित्य के पारखी भी नहीं समझ पाते और इसी के आधार पर प्रयोगवादी जन-भाषा को अपनाने का दम्भ करते हैं। उपरोक्त दोनों कविताएँ 'तार सप्तक' में संग्रहीत हैं।

उसी 'तारसप्तक' में संग्रहीत डा० रामविलास शर्मा की 'सिलहार' शीर्षक कविता का जन भाषा का रूप देखिये जो कितना यथार्थ है—

"पूरी हुई कटाई, अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुची हुई,
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
फूलों पर फूलों के लगे अरम्भ हैं।" आदि

महाकवि निराला का चित्रण करती हुई डा० रामविलास शर्मा की एक दूसरी कविता देखिए—

"वह सहज विलम्बित मथर गति जिसको निहार
गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार,
काले लहराते बाल देव-सा तन विशाल,
आर्यों का गर्वोन्नत, प्रशस्त, अविनीत भाल,
झंकृत करती थी जिसकी वाणी में अमोल,
शारदा सरस वीणा के सार्थक सधे बोल;—

कुछ काम न आया वह कवित्व आर्यत्व आज,
सध्या की बेला शिथिल हो गये सभी साज।
पथ में अब वन्य जन्तुओं का रोदन कराल।
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल।" (तार-सप्तक)

अज्ञेय समझते थे कि इस प्रकार की कविताओं को भी प्रयोगवादी कविता कह कर वे अपने नए प्रचार को सशक्त बना सकेंगे। मगर आज स्थिति यह है कि 'तार सप्तक' के लगभग सभी कवि अज्ञेय को छोड़कर, प्रयोगवाद से काफी दूर हट गये हैं।

गिरिजाकुमार माथुर प्रयोगवादी कवियों में काफी सफल हुए हैं। इसका कारण यह है कि उनका दृष्टिकोण अज्ञेय से भिन्न है। वे कविता में शैली, शिल्प और माध्यमो के साथ-साथ समाजोन्मुखता का भी समन्वय एव सन्तुलन चाहते हैं। उनकी 'शाम की धूप' नामक कविता का एक अंश देखिये—

"क्योंकि अब बन्द हो गए दफ्तर,
घटियाँ बज रही हैं रिक्शो की,
बीथियों साईकिलों की पोतें
कैरियर टोकरी या हैंडिल में
कुछ के खाली कटोरदान बँधे,
कुछ में हैं फाइलें हर छिन भूखी
जो न कभी खत्म हुईं आफिस में।" आदि

इसमें निम्न मध्यम वर्गीय क्लर्कों के जीवन का अत्यन्त निकट का चित्र उपस्थित किया गया है जिससे उसमें एक स्वाभाविक आकर्षण आ गया है। भाव, भाषा, लय आदि सभी दृष्टि से वह नवीन एव पूर्ण है क्योंकि इसमें नवीनता के मोह में पड़कर खोज-खोजकर शब्द या उपमाएँ नहीं लाई गई हैं। इनके सम्पूर्ण काव्य में नवीन प्रयोग हुए हैं मगर उसमें कहीं भी अधिक अस्पष्टता नहीं आ पाई है क्योंकि कवि भाषा को ही साध्य न मान कर साधन मानता है। साथ ही उसे सगीत क्रम एव लय का भी ध्यान रहता है। नवीन उपमाओं के लिए उनकी एक कविता की निम्नलिखित पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"जीवन में लौटी मिठास है।
गीत की आखिरी मीठी लकीर सी॥
वैभव की वे शिला लेख सी यादें आतीं।

एक चाँदनी भरी रात उस राज नगर की।
रनिवासों की नंगी बाहों सी रंगीनी ॥
वह रेशमी मिठास मिलन के प्रथम दिनों की ॥"

रेखाङ्कित प्रयोग सर्वथा नवीन हैं फिर भी उनमें अस्वाभाविकता नहीं है। इसी प्रकार गजानन मुक्तिबोध की 'नाश देवता', 'हे महान', आदि कविताएँ काफी मनोरम हैं। माचवे की 'चाय की प्याली' कविता शुद्ध प्रयोगवादी है इसलिए नीरस है। वैसे उनकी 'कापालिक', 'अश्वत्थ', 'काशी के घाट पर' आदि कविताएँ सुन्दर बन पड़ी हैं। स्थानाभाव के कारण सभी प्रयोगवादी सुन्दर कविताओं को उद्धृत करना असम्भव है।

अब जरा इनका छन्दों का मोह देखिये। नई कविता के सह-सम्पादक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'कविता तथा गद्य कविता' शीर्षक के अन्तर्गत लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'हस्ताक्षर' शीर्षक एक कविता उद्धृत की है—

"मैं आज भी जिन्दा हूँ
उस हस्ताक्षर की भाँति
जो मजाक-मजाक में यों ही किसी वट वृक्ष के नीचे
पिकनिक, तफरीह में लिख दिया गया था
एक तेज धार वाले फौलाद की नोंक
अब भी मेरी छाती में गड़ी है
और उस वटवृक्ष का घायल सीना
उस दाग की रक्षा हर मौसम में करता है।"

चतुर्वेदीजी के मतानुसार यदि इस कविता को बिना पंक्ति तोड़े एक लाइन में सीधा लिख दिया जाय तो यह शुद्ध गद्य का रूप धारण कर लेगी। नवीन कवि यह समझते हैं कि मुक्त छन्द लिखना बड़ा आसान है। मगर इसे लिखने के लिये संगीत का ज्ञान आवश्यक है। लय के बिना मुक्तछन्द निरा गद्य बनकर रह जाता है। निराला की 'जुही की कली' कविता मुक्त छन्द में ही है मगर उसका प्रवाह कितना सफल और सुन्दर है। गिरिजाकुमार माथुर को मुक्त छन्द लिखने में पर्याप्त सफलता मिली है। उन्होंने ध्वनि-योजना पर पर्याप्त ध्यान दिया है। अज्ञेय का मुक्त छन्द बेचारा प्रयोगवाद के रुडहर में ही दब गया और प्रभाकर माचवे में तो गद्यात्मकता सीमा को लांघ गई है जो मुक्त छन्द की पैरौडी सी मालूम पड़ती है।

कुछ कवियों ने प्रयोगवादी नवीनता के उपासक अधकचरे कवियों की उच्छृङ्खलता पर व्यंग कसते हुए कुछ कविताएँ लिखी हैं। 'नई कविता' के

सम्पादक डा० जगदीश गुप्त ने 'किंचित कविता' के शीर्षक से इनको भी 'नई कविता' में स्थान दिया है। हम उनकी हिम्मत की दाद देते हैं कि उन्होंने उनकी तथाकथित नवीनता पर चोट करने वाली कविताओं को भी अपने संग्रह में स्थान दिया। श्री केशवचन्द्र वर्मा की बिना शीर्षक वाली एक कविता देखिए—

"हूँ ऽऽऽ ऽऽ ऽऽऽ। ठीक है, लेकिन भई,
अब तो चीज़ कुछ लिखो नई।
इसमें भला क्या बात बनी ?
तुकों की आपने जुटाई है अनी !
अरे मियाँ, चेतना को उढ़ाओ लिहाफ़,
इस पर टेकनीक की चढ़ाओ गिलाफ़।
वही उषा अरुण, वही चन्द्र यामा
इसमें कहीं भी न ब्रैकेट, न कामा !!
इसके तो मानी भी हैं बिल्कुल साफ़ !!!
कविता को बनाइये हज़रत ज़िराफ़!
लोगों की पहुँच से इसे करो बाहर
ऊँची काव्य कोंपलें तभी तो सकोगे चर !
कविता को गद्य करो, गाओ।
भोंडी आवाज़ में पढ़कर सुनाओ।
श्रोता का शून्यमत मुँह खुलाओ !
ऐसा कर पाओ तो लिखो, लिखाओ,
भेजो, छपाओ। नहीं तो जाओ—"

मेघराज इन्द्र ने कवि नरेश मेहता की 'हवा चली' शीर्षक कविता पर व्यंग्य करते हुए इसी शीर्षक से एक कविता लिखी है जिसके कुछ अंश निम्नलिखित हैं—

"हवा चली।
छिपकली की टाँग
मकड़ी के जाले में फँसी रही—फँसी रही।
× × × ×
सोचने लगा मैं—याने कि कवि,
मैं भी कुछ गाऊँ ?
पर क्या गाऊँ ?

कौन सी नई उपमा, नए चित्र, नए भाव पंछी के पर
नोच-नोच कर चबा जाऊँ ?
सचमुच बड़ी चिन्ता थी।

× × × ×

मेरे इन ताप को देखकर उदय हो गया साला रवि।
इसके आगे कवि ने मैले की टोकरी लेकर जाती हुई एक महतरानी देखी और उसकी टोकरी में से उपमा ले उड़ा। इससे—
"वाटिका सड़ उठी,
चिड़ियाँ उड़ गईं,
कुत्ता दुम दबा कर भागा
किन्तु—
अचम्भे के बच्चे सा चौंकाने वाला साहित्य की लालसा लिए
मेरा कवि डटा रहा—सटा रहा।
दुनियाँ ने कवि को टोका, समझाया मगर वह नहीं माना।
"बोला मैं-खबरदार मुझसे मत कहना कुछ!
मैं कवि हूं—
स्टेनलेस स्टील के बर्तन जैसा कीमती, चमकदार, सदाबहार,
जिसमें कि हर केमिकल—
हर आब, शराब, पेशाब, तेजाब या कि गुलाब
अपना प्रयोग कर उड़ जाता है,
बर्तन को बेअसर छोड़ कर
मैं भी वैसे ही करता हूं प्रयोग
बे मतलब, बे प्रयास, बिना ध्यान ध्येय के;
और बहलाता हूं अपनी आम की सूखी गुठली-सी
अहता प्रेयसी को।

\+ + +

मुझे भी कुछ मतलब नहीं
अपने से, अक्ल से, जनता से, कविता से,
यहाँ तो कॉशस, सब-कॉशस के चित्र
अङ्कित अन कॉशस मन करता है मेरा।
दुनियाँ में तरह-तरह के काम होते रहते हैं। कवि बस उन्हीं को

देखकर—
"मैं तो बस उन्हें देख-देखकर
सरगम के गलत रीड सा बोल उठता हूँ
क्यों, क्यों—
और फिर झटपट
अपनी उस क्यों-क्यों को
कविता के नाम से पुकार उठता हूँ।
क्योंकि आजकल ऐसी ही है हवा चली–
वह—जो कि जमकर और कुछ नहीं कर सकता,
कम से कम
बदनाम तो कर ही सकता है।
प्रयोगशील कविता के नाम को।"

प्रयोगशील कविता को बदनाम करने वाले कविगण मेघराज इन्द्र की इस चेतावनी से यदि होश में आ जायँ तो प्रयोगशील कविता भी सुधर सकती है। उसके पास कई प्रतिभाशाली, सुलझी हुई विचारधारा वाले कवि हैं। वे उनसे सुन्दर काव्य रचना की प्रेरणा ले सकते हैं।

युग बदल रहा है। उसकी मान्यताएँ बदल रही हैं। यह संक्रान्तिकाल है। कलाकार के सम्मुख अपनी भावनाओं को प्राचीन प्रतीकों और उपमाओं के साथ व्यक्त करने में कठिनाई होती है। सुकवि भारत भूषण का यह कहना ठीक है कि—

"तू सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि,
यद्यपि बजती थी चप्पल।"

मगर साहब चप्पल की फटफटाहट में नूपुर की सी मधुर ध्वनि नहीं होती। कोई कर्ण-प्रिय, शालीन उपमा ढूँढ़िये। चप्पलों से इतना मोह क्यों? अपने प्रयोगों में अनर्गलता, अनघड़पन एवं उश्रृंखलता मत आने दीजिये। आपके नवीन प्रयोगों से किसी को भी द्वेष नहीं है मगर उन्हें ऐसा तो बनाइये जिन्हें हम 'बद्धमूल संस्कार' वाले लोग भी समझ सकें, उनकी दाद दे सकें, उन्हें अनुभव कर सकें। मकड़ी के जाले में छिपकलीकी टाँग मत उलझाइये। इससे आप भटक जायेंगे और 'हालावाद' की तरह चार दिन की चाँदनी दिखाकर ग़ायब हो जायँगे। क्योंकि जब नएपन का भूत सवार होता है तो वह कुछ दूर तक तो साथ देता है और फिर गढ़े में ढकेलकर हवा हो जाता है।

प्रयोगवादी कविता के नवीन सकलन 'नई कविता' के प्रथम श्रङ्क की आलोचना करते हुए बिहार के वयोवृद्ध साहित्यकार प्रो० शिवाधार पांडेय एम० ए० ने लिखा है कि—"साहित्य उसी को मानता है, जो ढोंग से परे हो, ढङ्गों और ढरों ही के वश न हो, अपने रँग में पूरा रँगा हो। कला में कुशल हो, कलाबाजी में नहीं। अनुभव का पक्का, सन्देश का सधा, सबका हृदय छू सके, सबसे ऊपर रह सके, सबको उपर उठा सके।"

(सरस्वती, दिसम्बर १६५४)

आशा है हमारे प्रयोगवादी मित्र पांडेय जी की बात पर विचार करेंगे, उनसे रुष्ट न होंगे। वे 'बद्धमूल' सस्कारों वाले व्यक्ति सही मगर उन्होंने बात पते की कही है क्योंकि यूरोप में भी उन्नीसवीं सदी के अन्त में नवीनता का यही बुखार चढ़ा था। वहाँ "नए नाटक, नए उपन्यास, नया हास्य, नयी प्रकृति, नया आनन्द, नया विलास, नया पश्चाताप, नया यथार्थ, नयी स्त्री" आदि की पुकार उठी थी। पत्रिकाएँ भी नई निकलीं, नया युग, नई रिव्यू आदि। उस समय यह मान्यता थी कि—"नया न हुआ तो आजकल कुछ भी न हुआ।"

परन्तु यह बुखार कुछ ही दिनों में उतर गया था।

२७—शैली और व्यक्तित्व

(श्री राजनाथ शर्मा, एम० ए०)

शैली और व्यक्तित्व के पारस्परिक सबन्ध को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले शैली की संक्षिप्त रूप रेखा समझ लें। प्रस्तुत विवेचन से शैली का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा—

काव्य के लिये दो वस्तुएँ आवश्यक हैं—वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार। वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार को ही शैली कहते हैं। बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में वस्तु और शैली का पार्थक्य उतना ही असम्भव है, जितना कि 'म्याउ' की ध्वनि का बिल्ली से। तलवार की धातु और उसका आकार प्रकार, जिसमें उस तलवार का स्थूल रूप शामिल है, अलग नहीं किया जा सकता। यदि वस्तु है तो उसका कोई न कोई आकार होगा और यदि आकार है तो किसी न किसी पदार्थ का होगा। साहित्य की उत्पत्ति भाव, विचार और कल्पना द्वारा होती है। यदि यह भाव, विचार और कल्पना हमारे मन में ही उत्पन्न होकर लीन हो जायँ, तो संसार को उनसे कोई लाभ न हो। मनुष्य अपने विचारों और कल्पनाओं को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, विचारों और कल्पनाओं को स्वय जानना चाहता है। यही विनिमय ससार के साहित्य का मूल है। शैली ही इसे साकार रूप देती है।

साहित्याचार्यों ने शैली के अनेक उपकरण माने हैं—शब्द, वाक्य, गुण, वृत्तियाँ और रीतियाँ, अलङ्कार, वाक्-विन्यास, छन्द, शब्दशक्ति। इन उपकरणों के सस्कृत एव सम्यक् उपयोग द्वारा ही एक श्रेष्ठ एवं परिष्कृत शैली की उत्पत्ति होती है। शब्द—भाषा का मूल आधार शब्द है, जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्व माना जाता है। अनुभव के साथ ही साथ लेखन-शैली परिष्कृत होती जाती है और भाषा मे शब्दों की कमी और भावों की वृद्धि होती जाती है। शब्द शक्ति का उन्नततम रूप वहाँ दृष्टिगोचर होगा जहाँ लेखक या कवि उपयुक्त शब्दों को ग्रहण करने, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को प्रदर्शित करने और थोड़े में बड़ी से बड़ी गम्भीर और भाव पूर्ण बातें कहने मे समर्थ होता है। प्रारम्भिक अवस्था मे प्रायः शब्दाडंबर ही

अधिक दिखाई पड़ता है। मध्यावस्था में प्रायः शब्दों और भावों में समानता आ जाती है। प्रौढ़ावस्था में भावों की अधिकता तथा शब्दों की कमी स्पष्ट देख पड़ती है। इसलिये शैली में उपयुक्त शब्दों का प्रयोग सबसे आवश्यक बात है। शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य रचना हो सकती है। हम किसी कवि या लेखक के ग्रंथ को ध्यान पूर्वक पढ़कर इस बात का पता लगा सकते हैं कि उसकी शक्ति कैसी है, शब्दों का कैसा प्रयोग किया है, और कहाँ तक वह इस कार्य में दूसरे से बढ़ गया है या पीछे रह गया है। बहुत से विद्वानों का योग्यता का माप दण्ड यह होता है कि अमुक लेखक ने कितने शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु शब्दों की संख्या के स्थान पर उन शब्दों के प्रयोग के ढङ्ग पर ही शैली की श्रेष्ठता निर्भर करती है।

भारतीय आलोचकों ने शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी हैं। परंतु स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिरोए नहीं जाते तब तक न तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने मे ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अंतर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्व, सामर्थ्य, या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों मे सुचारु रूप से उनके सजाये जाने पर ही होता है। अतः वाक्यो.में प्रयोग करने के लिये शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से होना चाहिये। जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करने वाले शब्दों का हमें प्रयोग करना चाहिये। वाक्यों की रचना में शब्दों के संगठन तथा भाषा की प्रौढ़ता पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। इन दोनों गुणों का होना आवश्यक है। वाक्य बहुत बड़े तथा लम्बे न होने चाहिये। उनके बहुत अधिक विस्तार से सङ्गठनात्मक गुणों का नाश हो जाता है। जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे-छोटे वाक्य का प्रयोग ही सर्वथा वाञ्छनीय है। वाक्यों में सबसे अधिक ध्यान रखने की वस्तु 'अवधारण का सस्थान' है, अर्थात् इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक जोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिये। अवधारणा को आदि या अन्त मे स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य गुण से सम्पन्न हो जाता।

शौर्यादि की भांति रस के उत्कर्ष हेतु रूप आदि स्थायी धर्मों को गुण कहा गया है। अलंकार भी उत्कर्षके हेतु हैं किंतु अस्थायी हैं। काव्यशास्त्र में शैली का विभाजन गुणों के आधार पर हुआ है। भरत, वामन आदि आचार्यों ने शब्द

श्रौर अर्थ के दस दस गुण माने हैं श्रौर भोज ने तो उनकी सख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। परन्तु प्रधान रूप से गुण तीन ही हैं—माधुर्य, श्रोज श्रौर प्रसाद। इनका सम्बन्ध चित्त की तीन वृत्तियों से है। माधुर्य का द्रुति, द्रवण-शीलता या पिलघाने से, श्रोज का दीप्ति से अर्थात् उत्तेजना से श्रौर प्रसाद का विकास से अर्थात् चित्त को खिला देने से। प्रसाद का अर्थ ही है प्रसन्नता। प्रसाद तो सभी रचनाश्रों के लिए आवश्यक गुण है। इसलिए जहाँ माधुर्य श्रौर श्रोज का तीन तीन रसों से सम्बन्ध माना गया है वहाँ प्रसाद का सभी रसों से माना है।

गुण का श्राधार शब्दो की बनावट अथवा वह वर्ण है जो शब्द रचना में श्राते हैं। इन गुणों के श्राधार पर ही इनके अनुकूल वर्ण-विन्यास श्रौर पद-योजना रखी गई है। इसी वर्ण-विन्यास या शब्दों की बनावट को वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ गुणो के अनुसार ही मधुरा, परुषा श्रौर प्रौढ़ा हैं। गुणों के श्राधार पर पद या वाक्यरचना की भी तीन रीतियाँ—वैदर्भी, गौड़ी श्रौर पाँचाली मानी हैं। मम्मट ने इन्हें क्रमशः उपनागरिका, परुषा श्रौर कोमला-वृत्ति लिखा है। ये रीतियाँ गुणों पर श्राश्रित हैं। इनका नामकरण भिन्न-भिन्न देश-भागों के नाम पर है। इससे जान पड़ता है कि उन-उन देश भागों के कवियों ने एक-एक ढङ्ग का विशेष रूप से अनुकरण किया था, अतएव उन्हीं के श्राधार पर ये नाम भी रख दिए गये हैं। माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति श्रौर वैदर्भी रीति, श्रोज गुण के लिए परुषावृत्ति श्रौर गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिये प्रौढ़ा वृत्ति श्रौर पाँचाली रीति श्रावश्यक मानी गई हैं।"

भारतीय शैली की एक प्रमुख विशेषता उसमें अलङ्कारों का स्थान है। ये अलङ्कार शैली की उत्कृष्टता में सहायक होते हैं। वे इतने नगण्य या ऊपरी नहीं है जितने कि समझे जाते हैं। उनका भी रस से सम्बन्ध है। अलङ्कारों का काम शैली द्वारा रस के उत्कर्ष या गुणवृद्धि मे सहायता पहुचना है। उनकी भरमार नहीं होनी चाहिए। उनका प्रयोग केवल उस समय हो जब वह भावना को ऊँचा उठाते हों या अर्थ को उदाहरण श्रादि देकर स्पष्ट करते हों। अलङ्कार इस कारण श्रौर भी प्रभावशाली होते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति भी हृदय के उसी उल्लास से होती है जिससे कि काव्य मात्र की। नारी द्वारा भौतिक अलङ्कारों को धारण करने में भी एक मानसिक उल्लास रहता है। इसीलिए हृदय का श्रोज या उल्लास अलकारों के मूल में माना जायगा। उपमा, रूपक श्रादि मानसिक चित्रों द्वारा स्पष्टता ही प्रदान नहीं करते वरन् अर्थान्तर न्यास दृष्टान्त, उदाहरण श्रादि द्वारा [illegible] है।

स्मरण, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों द्वारा सादृश्य को नाना रूपों में उपस्थित किया जाता है। समष्टि रूप से शब्दालंकार द्वारा शब्द माधुर्य की सृष्टि की जाती है। अर्थ के स्पष्ट करने में साम्यमूलक अर्थालंकार उपयुक्त होते हैं। व्यर्थ के अलंकार शैली के ऊपर भार हो जाते हैं। सीधी-सादी प्रसादगुण-मयी शैली जिसमें यत्र-तत्र प्रकाश अलङ्कार का पुट हो और जो लेखक का अर्थ पुष्ट करती चलती है, अच्छे निबन्धकार की विशेषता है।

पद-विन्यास भी शैली का एक महत्वपूर्ण उपकरण है। पदों से तात्पर्य वाक्यों के समूह से है। किसी विषय पर कोई ग्रंथ लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य-मुख्य विभाग कर दिये जाते हैं जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक-एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान-प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार प्रधान विषय को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है, जिसमें पदों की एक पूर्ण शृङ्खला सी बन जाय। पदों के इस योग में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है, कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष गौरव की हैं। एक तो वाक्यों का एक दूसरे से सम्बन्ध तथा संक्रमण और वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्तन। इन दोनों में सफलता प्राप्त करने के लिए संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए।

गद्य और पद्य का मुख्य भेद छन्द पर निर्भर है। भावमयी भाषा में जो स्वाभाविक गति आ जाती है, छन्द उसी का बाहरी आकार है। छंद में वर्ण नृत्य की भाँति ताल और लय के आश्रित रहते हैं। छंदों द्वारा जो सौंदर्य का उत्पादन होता है उसके मूल में भी अनेकता में एकता का सिद्धांत है। छन्द में शब्दों और वर्णों में विभेद रहते हुए भी उनमें स्वरों का साम्य रहता है। मुक्तक छन्द में जो नियमों से परे होते हैं, बँधे हुए आकार के बिना ही लय की साधना होती है। तुक का अब इतना मान नहीं जितना पहले था। तुक स्मरण रखने में सहायक होती थी। गद्य में अधिक तुकबंदी दोष ही हो जाता है। छन्द दो प्रकार के होते हैं—मात्रा मूलक और वर्ण मूलक।

हमारे शास्त्रों में शैली के अन्तर्गत शब्द शक्ति की भी विस्तृत विवेचना है। शब्द शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं— अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना। संस्कृत

के आचार्यों ने व्यंगकाव्य को सर्वश्रेष्ठ माना है। लक्षणा और व्यंजना भाषा की ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनसे भाषा सप्राण हो जाती है। इनका सम्बन्ध अर्थ से है। अभिधा से साधारण अर्थ व्यक्त होता है। लक्षणा द्वारा अर्थ के विस्तार से भाषा में रबड़ की भाँति खिचकर बढ़ जाने की शक्ति आती है। शब्दों के अल्प व्यय से अर्थ बाहुल्य मे सुलभता आती है। वाक्-वैदग्ध्य आ जाता है। व्यजना में शब्दों का आधार लक्षणा से भी कम हो जाता है और शब्द से संकेत पाकर अर्थ उमड़ पड़ता है। रचना में एक झङ्कार पैदा हो जाती है। व्यजना मे यह बात अत्यन्त वाछनीय है कि अर्थ व्यग्य रहते हुए भी शब्द कहीं दुरूह न हो जाय। आचार्यों ने इन प्रधानशक्तियों के भी कई भेद किए हैं। शैली में भाषा और भाव का सामजस्य इन तीनों शक्तियों के द्वारा होता है।

सक्षेप में शैली की यही विशेषताएँ एव स्वरूप हैं। अब हम शैली की विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन करते हुए शैली और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

शैली की परिभाषा के विषय में अनेक विद्वानो ने अपने मत प्रकट किए हैं। उन्होंने एक ही बात को कई प्रकार से कहा है और जब हम उनके मतों की परस्पर तुलना करते हैं तो यही अन्तिम निष्कर्ष निकलता है कि शैली अभिव्यक्ति का एक प्रकार है। बाबू गुलाबरायजी का कथन है कि—"काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेष-भूषा का। यद्यपि यह हमेशा ठीक नहीं कि जहाँ सुन्दर आकृति हो वहाँ सुन्दर गुण भी होते हों तथापि आकृति और वेशभूषा गुणों के मूल्यांकन में बहुत कुछ प्रभावित करते हैं।" इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि शैली के द्वारा हम उस कृति के स्वरूप का पता लगा सकते हैं। यदि हम एक चित्र के निर्माण में सुन्दर सुरुचिपूर्ण रगों का आवश्यकतानुसार सतुलित उपयोग करते हैं तो वह चित्र अवश्य ही सुन्दर बनेगा। उस चित्र की सुन्दरता से यह भी सिद्ध होगा कि उस चित्र के बनाने वाले चित्रकार की भावनाएँ भी सुन्दर होंगी। इस प्रकार हम उस चित्र के द्वारा उस कलाकार के व्यक्तित्व का परिचय अनायास ही प्राप्त कर लेंगे। साथ ही यह भी सम्भव है कि हम उस चित्र द्वारा उक्त कलाकार के व्यक्तित्व के एक ही पक्ष का परिचय प्राप्त कर सकें। परन्तु यह प्राकृतिक नियम है कि सच्चा कलाकार अपने और अपनी कृति के प्रति सदैव ईमानदार रहता है अतः उसकी कृति हमें धोखा नहीं दे सकती। इसी प्रकार हम किसी भी साहित्यिक की शैली को—अभिव्यक्ति के प्रकार को –

देखकर उसके व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं।

एक प्रकार से बाबू गुलाबरायजी की बात का ही समर्थन करते हुए डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने कहा था कि "भाव, विचार और कल्पना तो हममें प्राकृतिक रूप से वर्तमान रहते हैं और साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हममें रहती है। अब यदि शक्ति को बढ़ाकर, संस्कृत और उन्नत करके हम उसका उपयोग कर सके तो उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के द्वारा हम संसार के ज्ञान भंडार की वृद्धि करके उसका कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।" अपनी इस प्रच्छन्न ईश्वर-प्रदत्त शक्ति को संस्कृत एवं उन्नत करने की भावना एव शक्ति प्रत्येक प्राणी में नहीं होती। यदि उसके भाव एवं चरित्र उन्नत होंगे तो वह अपनी इस शक्ति को भी उन्नत कर सकेगा अन्यथा नहीं। इसी कारण साहित्यिक क्षेत्र में हमें शैलियों के विभिन्न रूप मिलते हैं—कोई सुन्दर एवं सशक्त और कोई दुर्बल एवं नीरस। कारण इनके लेखकों में उपर्युक्त शक्ति का कम या अधिक होना ही है। शैली को देखकर ही हम लेखक के व्यक्तित्व का परिचय पा लेते हैं कि उसका व्यक्तित्व शक्तिशाली एवं प्रतिभापूर्ण है अथवा नहीं।

शैली की उपर्युक्त शक्ति एव विशेषता को लक्ष्य कर एक बार लार्ड चेस्टरटन ने अपनी 'पुत्र के नाम पत्र' नामक पुस्तक में लिखा था—'शैली विचारों का परिधान है।' अर्थात् हम अपने विचारों को शैली के माध्यम द्वारा प्रकट करते हैं। जैसे हमारे विचार होंगे वैसी ही हमारी शैली होगी और जैसा हमारा व्यक्तित्व होगा वैसे ही हमारे विचार होंगे। जिस प्रकार हम किसी भी व्यक्ति की वेशभूषा से उसकी रुचि का पता लगा लेते हैं उसी प्रकार शैली द्वारा हम लेखक के विचारों की गंभीरता आदि का पता पा जाते हैं। शांत एवं सात्विक विचारों वाले व्यक्ति की वेशभूषा अत्यंत सादा और सरल होगी इसके विपरीत विलासी एवं रँगीले व्यक्ति की वेशभूषा में तड़क-भड़क होगी। उसी प्रकार एक शांत, सात्विक एवं गंभीर विचारों वाले लेखक की शैली में संयम एवं गंभीरता के दर्शन होंगे तथा विलासी एवं दिखावटी लेखक की शैली में बनावटीपन एवं अश्लीलता का प्रदर्शन मिलेगा। उसमें विचारों की गम्भीरता के अभाव की पूर्ति शब्दाडम्बर द्वारा पूरी की जायगी।

शैली, विचार एव व्यक्तित्व के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को सर्व प्रथम प्रकट करते हुए जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान 'बफन' महोदय ने लिखा था कि—"Style is the man himself" अर्थात् शैली मनुष्य का स्वरूप है। हमारे साहित्य में शैली के लिए प्राचीन शब्द 'रीति' मिलता है। 'रीति'

स्थानीय विशेषता की द्योतक मानी जाती थी। प्रदेश विशेष के लेखकों में एक विशेषता पाई जाती थी इसी कारण रीतियों का नाम उसी प्रदेश विशेष के नाम पर पड़े जैसे वैदर्भी, पान्चाली, गौड़ी आदि। इस प्रकार शैली और रीति एक ही प्रतीत होती हैं। अस्तु, किसी मनुष्य की शैली को देखकर ही हम उसके स्वरूप से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं। कवि या लेखक की कृति उसके व्यक्तित्व का व्यक्तीकरण कर देती है। जिन विद्वानों ने कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन करते हुए उनकी शैलियों से परिचय प्राप्त किया है वे बिना कवि का नाम जाने ही तुरंत पहचान लेते हैं कि अमुक पंक्ति कबीर की, अमुक सूर की, अमुक तुलसी की तथा अमुक बिहारी की है। कवियों की इसी व्यक्तिगत विशेषता के आधार पर ही विद्वान किसी भी कवि की रचना में प्रक्षित अंश ढूंढ़ निकालते हैं।

रामचरितमानस तथा पृथ्वीराज रासो के क्षेपक एवं प्रक्षित अंशों का पता उन्हीं विद्वानों ने लगाया है जो तुलसी एवं चन्द बरदायी की शैलियों से परिचित हैं। अंधा मनुष्य आवाज सुनकर ही आवाज देने वाले को पहचान लेता है। इसका कारण यह है कि अन्धा पहले आवाज देने वाले की ध्वनि एवं वर्तालाप शैली का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुका होता है। विषय और शैली का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध होता है। यदि विषय गम्भीर होगा तो शैली भी गम्भीर होगी। ठीक उसी प्रकार जो लेखक जैसी रुचि, जैसी प्रकृति और जैसे व्यक्तित्व वाला होगा, उसकी रचना शैली भी ठीक वैसी ही होगी। इसलिए 'बफन' महोदय का उपर्युक्त कथन अक्षरशः ठीक है। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्तित्व एवं प्रतिभा वाले दो लेखकों की कृतियाँ हमारे सामने आ जाती हैं तो हमें असली लेखक को पहचानने में भ्रम ही होता है। हिंदी साहित्य में ऐसी घटना घट चुकी है। बिहारी अपनी सरसता, वाग्वैदग्ध्य तथा भाषा सौष्ठव के लिये विख्यात हैं। रसिक उनके दोहों को तुरत पहचान लेते हैं परन्तु एक अत्यन्त सुन्दर दोहे को देखकर अनेक विद्वान बहुत समय तक भ्रम वश उसे बिहारी का ही दोहा मानते रहे। दोहा निम्न प्रकार है—

"अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

आचार्य शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस भ्रम का उद्घाटन करते हुए बताया कि यह दोहा रसलीन नामक कवि का है। इस भ्रम का कारण यह था कि इस दोहे में वे सभी गुण वर्तमान हैं जो बिहारी

दोहों में पाये जाते हैं। सम्भव है कि बिहारी और रसलीन के व्यक्तित्वों में अधिक समानता रही हो।

शैली और व्यक्तित्व की घनिष्टता को प्रमाणित करने के लिए हम सी और सूर की रचनाओं तथा उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण कर यह करेंगे कि उन दोनों का व्यक्तित्व भिन्न था जो उनकी रचनाओं से त होता है। तुलसी एक अत्यन्त उच्चकोटि के भक्त थे। वे तत्कालीन न व्यवस्था, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से असन्तुष्ट उनमें एक सर्वदर्शी, अद्भुत प्रतिभावना सत के सभी गुण वर्तमान थे। गुणों के कारण ही उनका काव्य इतना व्यापक और प्रभावशाली बन । विभिन्न शैलियों के सफल अनुकरण में उनकी विद्वता, विशाल अध्य- एवं अद्भुत प्रतिभा के दर्शन होते हैं। विनय पत्रिका के रूप में राम के उनके हृदय की अनन्य भक्ति प्रकट होती है। परिस्थितियों के प्रति तोष से उनकी लोक कल्याण की भावना उनके सम्पूर्ण काव्य में यत्र-तत्र री दिखाई देती है। उनका रामराज्य का आदर्श आज भी मान्य है। प में हम कह सकते हैं कि तुलसी का विशाल व्यक्तित्व उनके काव्य में ार हो उठा है। उनमें मस्तिष्क एवं हृदय का अद्भुत समन्वय है। इसी कत्व से प्रभावित होकर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें बुद्धदेव के भारत का सबसे बड़ा लोकनायक माना है।

सूर का व्यक्तित्व तुलसी से भिन्न था। (यहाँ हमारा उद्देश्य सूर और सी की तुलना करना नहीं है केवल व्यक्तित्व की विशेषताएँ बतलाना मात्र सूर एक पूर्ण निस्पृह कृष्ण भक्त थे। अँधे होने के कारण संसार से उनका ा नाता टूट सा चुका था। बहिर्जगत से हीन होकर वह अन्तर्जगत में र हो गये थे। उनकी सबसे बड़ी प्रतिभा उनके हृदय की तीव्र वेदना एवं क थी। अध्ययन भी उनका सीमित ही था परन्तु अन्धे होने के कारण की आंतरिक दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म ग्राही बन गई थी। सूर के व्यक्तित्व की ों विशेषताओं का प्रमाण उनका साहित्य है। उनके साहित्य में मस्तिष्क की क्षा हृदय की प्रधानता है। लोक को उन्होंने एक ओर उठाकर रख दिया एक प्रकार से लोक की ओर से आँखें ही बन्द कर लीं हैं। उनके काव्य जहां कहीं भी काव्यगत चमत्कार मिलता है वह सुनी सुनाई बातों का अनु- ण मात्र है। शैली भी केवल पदों की एक सी है। परन्तु इन सभी के र उनके हृदय की तीव्र वेदना एवं भक्ति उनके काव्य को अत्यन्त ऊँचा

उठा देती है। यद्यपि उनके काव्य का कलापक्ष तुलसी के समान उच्च नहीं है परन्तु भावपक्ष में वे तुलसी से आगे हैं। कारण उनका एक मात्र उद्देश्य अपने आराध्य बाल कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना था। शान्त स्वभाव के सतोषी भक्त होने के कारण यह कार्य उन्होंने अत्यन्त तन्मयतापूर्वक किया। अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का उपयोग उन्होंने उसी वर्णन में किया। इसी कारण तुलसी की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए भी आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक को मुक्त कंठ से यह स्वीकार करना पड़ा कि श्रृङ्गार और वात्सल्य के सूर सम्राट हैं। यह उनके व्यक्तित्व का ही प्रभाव था जिसका प्रकाशन उन्होंने अपने काव्य में किया। उनके हृदय की सम्पूर्ण दीनता सरसता, कोमलता उनके काव्य में साकार हो उठी है।

आधुनिक गद्य लेखकों में सबसे गम्भीर, सशक्त एवं प्रभावपूर्ण शैली आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मानी जाती है। अपनी शैली के समान शुक्लजी का व्यक्तित्व भी अत्यन्त गम्भीर एवं प्रभाव शाली था। उनकी शैली से प्रभावित होकर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था कि "वे इतने गभीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'न', बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका अपना मत सोलह आने अपना है। तन कर वे कहते हैं "मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं।" उक्त कथन से शुक्ल जी का व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है। कहा जाता है कि वे इतने गम्भीर थे कि उनके मुख पर हँसी कभी-कभी ही दिखाई पड़ती थी। पढाते समय उनकी कक्षा में पूर्ण शान्ति रहती थी। इसके विपरीत लाला भगवान दीन की कक्षा बड़ी सरस होती थी क्योंकि उनका व्यक्तित्व ही सरस था। शुक्लजी ने अपने इसी गम्भीर, सशक्त एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही हिन्दी साहित्य में जिस किसी लेखक को चमकाना चाहा चमका दिया तथा जिसे गिराना चाहे उसे धूल में मिला दिया। उनके गिराये हुए रीतिकालीन कवि अभी तक नहीं उठ पाए और उनके उठाये हुए जायसी हिंदी कवियों की प्रथम पंक्ति में जा बैठे। इसका कारण शुक्लजी की प्रतिभा एवं व्यक्तित्व ही था।

आधुनिक कवियों में प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवी अपने विभिन्न व्यक्तित्व एवं शैलियों को लेकर आए। प्रसाद की मुखमुद्रा देखने से प्रतीत होता था मानो कोई वैदिक ऋषि अपनी प्रशान्त गम्भीर मुद्रा में बैठा हो। उनका प्रशस्त ललाट, उनकी प्रतिभा एवं भावपूर्ण गम्भीर नेत्र उनके हृदय

की विशालता एवं उदारता के परिचायक थे। व्यक्तिगत व्यवहार में वे अत्यंत नम्र, शालीन एवं गम्भीर थे। उनका यह अद्भुत व्यक्तित्व उनके काव्य में प्रतिबिम्बित हो रहा है। प्रसाद जी के समान ही उनका काव्य भी विशाल, गम्भीर एवं भाव पूर्ण है। उसे पढ़ कर यह विश्वास करने पर बाध्य होना पड़ता है कि इसका प्रणेता एक अद्भुत प्रतिभा एवं शक्ति वाला व्यक्ति होगा। उनमें प्रशान्त गम्भीरता है जिसकी थाह पाना प्रत्येक के लिए सुगम नहीं। फलस्वरूप उनका काव्य भी जनसाधारण का न बनकर बुद्धि जीवियों का काव्य बना। प्रसाद के व्यक्तित्व के विपरीत व्यक्तित्व हम पंत का पाते हैं। मध्यम कद, गौरवर्ण, विशाल भावपूर्ण भोली आँखें, कोमल कान्त कलेवर, नारीत्व के परिचायक घने, काले, लम्बे केश तथा कोमल एवं परिष्कृत वेशभूषा को देखकर ही कोई यह अनुमान लगा सकता है कि यह व्यक्ति संघर्ष के योग्य नहीं। इसमें इतनी शक्ति ही नहीं कि यह संसार की विभीषिका से टक्कर ले सके। फलस्वरूप पंत जी हिन्दी साहित्य में कोमल कान्त पदावली के स्रष्टा के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके काव्य में सर्वत्र वही कोमलता, करुणा, बालकों की सी भोली जिज्ञासा मिलती है जो उनके व्यक्तित्व में है। कठोरता की परिचायक उनकी केवल 'परिवर्तन' नामक कविता मिलती है। बाकी का सभी साहित्य उनकी कोमलता से ओत प्रोत है। आगे चलकर वह अपनी इसी कोमलता के कारण ही प्रगतिवाद का पूर्ण अनुगमन न कर सके और पुनः अपने कल्पना लोक की रंगीनियों में लौट आये।

(३) पंत के बिल्कुल विपरीत निराला हैं। लम्बा कद, पहलवानों का सा विशाल शरीर, लम्बे-लम्बे कठोरता के परिचायक बाल, विशाल चमकते हुए नेत्र, एक तहमद के ऊपर ढीला ढाला कुरता देखकर उनसे भय सा लगता है—परन्तु केवल प्रथम दर्शन में ही। उनकी वेशभूषा एवं शरीर को देख कर अनायास ही कोई कह उठेगा कि यह व्यक्ति अत्यन्त अक्खड़, प्रतिभावना तथा विद्रोही है। साहित्य के क्षेत्र में निराला का भाषा एवं छन्द सम्बन्धी विद्रोह संसार प्रसिद्ध है। उन्होंने न तो जीवन के क्षेत्र में झुकना सीखा है और न साहित्यिक क्षेत्र में। सशक्त व्यक्तित्व के समान ही उनकी शैली भी अत्यन्त सशक्त एवं गम्भीर है। उनकी भाषा में अधिकांशतः गाम्भीर्य एवं सशक्तता ही मिलती है। महादेवी वर्मा का व्यक्तित्व करुणा कलित है। उनके काव्य में भी यही करुणा व्याप्त है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के द्वारा हमने देखा कि शैली और व्यक्तित्व

एक दूसरे के सापेक्ष है। उपर्युक्त सभी व्यक्तियों की रचनाओं को देखकर हम तुरन्त पहचान लेते हैं कि यह अमुक की रचना है क्योंकि शैली सदैव व्यक्तित्व के अनुरूप ही होती है।